सिद्धान्तालोचन

(आलोचना के सिद्धान्त)

लेखक

प्रो० धर्मचन्द सन्त एम० ए०

प्रो० बलदेव कृष्ण एम० ए०
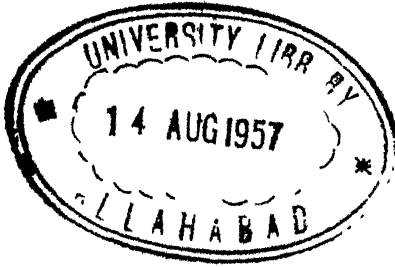
ओरिएण्टल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली

●प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक डिपो
१७०४, नई सडक, दिल्ली

●मूल्य
साढे चार रुपये
(चार रुपये और पच्चांस नये पैसे,)

●मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली
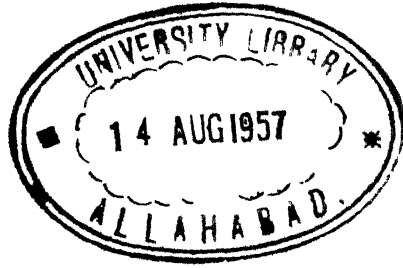
लेखक

प्रो० धर्मचन्द सन्त एम. ए.

अध्यक्ष—हिन्दी विभाग

पंजाब युनिवर्सिटी कैम्प कालेज, दिल्ली

तथा

प्रो० बलदेव कृष्ण एम. ए.

पंजाब युनिवर्सिटी कैम्प कालेज, दिल्ली

दो शब्द

हिन्दी-साहित्य की आजकल सर्वतोमुखी अभिवृद्धि हो रही है। देश-देशान्तरों के साहित्यिक रूपो के अनुशीलन के उपरान्त, आधुनिक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हिन्दी में भी उन्ही रूपोको प्रचलित करने का सराहनीय प्रयास कर रहे हे । हिन्दी-साहित्य का भविष्य हमे बड़ा उज्ज्वल प्रतीत हो रहा है। जब हिन्दी-साहित्य के प्राङ्गण मे नित्यप्रति नए-नए साहित्य-रूपो की अभिवृद्धि हो रही हो तब यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि इन रूपों के विधान का सम्यक् परिचय साहित्य का अध्ययन करने वालो को करवा दिया जाए। इसी शुभ सकल्प को हृदय मे धारण कर हमने यह 'सिद्धान्तालोचन' नामक ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के छात्रो के लिए प्रस्तुत करने का साहस किया हे । यह हमारे अनेक वर्षो के गम्भीर अध्ययन एव अध्यापन का परिणाम तथा व्यावहारिक अनुभव का प्रतीक कहा जा सकता है।

यह बड़े हर्ष की बात हे कि आज हिन्दी-साहित्य मे रचनात्मक साहित्य तथा समीक्षात्मक साहित्य का समानान्तर विकास हो रहा है। समीक्षात्मक साहित्य अधिकांशत प्रयोगात्मक है। भावक महोदय किसी कविकृत रचना का अपने साहित्यिक आदर्श के अनुरूप विश्लेषण करके मूल्याकन करते हे । इस मूल्यांकन को हृदयंगम करने के लिए यह नितान्त अपेक्षित है कि साहित्यिक आदर्शो का सम्यक् परिज्ञान छात्रवर्ग को हो जाए। इसके लिए सैद्धान्तिक समीक्षा की भी अनिवार्यत: अपेक्षा है । इसी को दृष्टि मे रखते हुए आधुनिक काल में समीक्षा-शास्त्र के रूप मे अनेक रचनाएँ प्रकाशित की जा रही हे । यह भी बड़े सौभाग्य की बात है कि ये समीक्षा-शास्त्र प्राय: उन विचारको के द्वारा लिखे जा रहे हैं जो स्वय कवि, नाटककार नही है। जब लक्ष्य ग्रन्थो के निर्माता ही लक्षण ग्रन्थों के

प्रणयन मे प्रवृत्त होते हैं तब सैद्धान्तिक विवेचन उच्च कोटि का नहीं हो पाता। इसके लिए यही आवश्यक होता है कि भावयित्री-प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही इस दिशा में अग्रसर हों। यह शुभ लक्षण है कि साहित्यिक-सिद्धान्तों के निर्माण में प्रायः ऐसे ही व्यक्ति आजकल आगे बढ़ते परि-लक्षित होते हैं।

सिद्धान्त-विवेचन के सम्बन्ध मे हमारा यह सर्वप्रथम प्रयास नहीं है। हमसे पहले कई विवेचकों ने सिद्धान्त-मीमांसा का कार्य किया है। हमारे इस 'आलोचन' में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि साहित्यिक रूपों के विधान आधुनिक प्रयोगों के अनुरूप हों। आधुनिक हिन्दी-साहित्य पाश्चात्य काव्य-धारणाओं वा मान्यताओं का अनुसरण करता प्रतीत होता है, अतः सैद्धान्तिक विवेचन के लिए यह परमावश्यक है कि साहित्यिक रूपों के विधान-सम्बन्धी विवेचन में पाश्चात्य काव्य-शास्त्र को आधार-रूप में ग्रहण किया जाए। हमने साहित्य के विभिन्न रूपों के विवेचन मे पाश्चात्य दृष्टिकोण का विशेष रूप से मनन किया है और जिस रूप में और जितने अंश में वह हमारे आधुनिक साहित्य में प्रतिफलित हो रहा है उसी रूप में और उतने ही अंश में उसे 'आलोचन' में स्थान दिया है। पाश्चात्य दृष्टिकोण को अपनाते हुए आधुनिक साहित्य में विद्यमान भारतीय पर-म्पराओं वा मान्यताओं की अवहेलना नहीं की गई।

साहित्य के 'समालोचना' रूप की ही सर्वप्रथम विशद व्याख्या की गई है। आज समालोचना को भी रचनात्मक साहित्य का एक विशिष्ट अंग माना जाता है, अतः उसके उपलक्ष्य में व्यापक विवेचना की गई है। विस्तृत होती हुई भी यह विवेचना 'सिद्धान्तालोचन' की भूमिका के रूप में उपादेय कही जा सकती है। उसके उपरान्त साहित्य की परिभाषा, तत्त्व आदि प्रारम्भिक विषयों की चर्चा भी सुचारु रूप से कर दी गई है। साहित्य के आधुनिक रूपों का नाम-संकेत कर दिया गया है। तदुपरान्त भिन्न-भिन्न प्रकरणों में कविता, उपन्यास, कहानी, रेखा-चित्र, निबन्ध, जीवनी, आत्मकथा, पत्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, इण्टरव्यू, नाटक, एकाङ्की

तथा रेडियो रूपकों का विस्तृत पर्यालोचन सम्पन्न हो गया है। आवश्यकतानुसार इन साहित्यिक रूपों के वर्गीकरण के आधार पर व्यापक प्रकाश डालते हुए इनके पारस्परिक अन्तर का भी समुचित रीति से स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

इस आलोचना में हिन्दी कविता की आधुनिक प्रवृत्तियों अथवा वादों को भी समाविष्ट करने का हमारा सकल्प था। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य और भारतीय काव्य सम्बन्धी धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन भी हम इसी 'आलोचन' मे प्रस्तुत करना चाहते थे। विभिन्न कारणों से हम ऐसा नहीं कर सके हैं। यदि अवसर प्राप्त हुआ तो इसके परिशिष्ट के रूप में इस अवशिष्ट अंश को भी प्रकाशित कर दिया जायगा। आशा है कि हमारा यह प्रयास छात्र-वर्ग के लिए विशेष उपयोगी प्रमाणित होगा। हम उन ग्रन्थ-लेखकों के अत्यन्त आभारी हैं जिनके ग्रन्थों के सम्यगध्ययन तथा मनन के उपरान्त हम इस 'सिद्धान्तालोचन' को प्रस्तुत करने मे समर्थ हुए हैं। कृतज्ञता-प्रकाशनार्थ हम उनका हार्दिक धन्यवाद करते हैं। इस 'आलोचन' के प्रकाशन का भार ओरिएण्टल बुक डिपो ने अपने कन्धों पर लेकर हमें विशेष अनुगृहीत किया। इस अनुग्रह के लिए हम उनका आभार स्वीकार करते हैं।

लेखक

विषयानुक्रमणिका

समालोचना १–३६

साहित्य ३७–७१

कविता ७२–११७

उपन्यास ११८–१५५

कहानी १५६–१७४

सिद्धान्तालोचन

समालोचना

किसी भी साहित्य की सृष्टि में समालोचना का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योग होता है। यह साहित्य के विकास में सहायक होने के साथ-साथ उसकी गति-विधि का नियन्त्रण करके उसे उदात्तता-समन्वित करती है। समालोचना भावनात्मक साहित्य है और यह अपने प्रकृत रूप में रचनात्मक साहित्य की पूरक कही जा सकती है। रचनात्मक साहित्य के मूल्याकन किवा रसास्वादन के लिए समालोचना का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस कारण अधुना साहित्य के अन्यान्य रूपों के विकास के साथ-साथ समालोचना रूप भी पर्याप्त वृद्धि करता दृष्टिगोचर होता है।

समालोचना की परिभाषा

समालोचना शब्द अंग्रेज़ी के क्रिटिसिज़्म (Criticism) शब्द का पर्याय है। समालोचना की परिभाषा को सुष्ठुरीत्या समझने के लिए हमें सर्वप्रथम इसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ पर दृष्टिपात करना होगा। समालोचना शब्द संस्कृत की लोचृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखना। सम् और आ ये दोनों उपसर्ग हैं। सम् उपसर्ग का अर्थ है सम्यक् रूप से अर्थात् भलीभाँति और आ उपसर्ग समन्तात् अर्थात् 'चारों तरफ से' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार सम् + आ + √लोचृ से जो समालोचना शब्द निर्मित हुआ है उसका अर्थ हुआ भलीभाँति चारों ओर से देखना। लेकिन व्यवहार में समालोचना का अर्थ किसी कृति का सम्यक् दर्शन ही लिया जाता है। किसी कृति का सम्यक् अनुशीलन, अध्ययन, लेखक के वर्ण्य विषय से परिचय, उसकी मूल भावनाओं का अनुसन्धान करना, रसास्वादन करके तदनन्तर उसके प्रभाव का

उल्लेख करना उस कृति का सम्यक् दर्शन कहलाता है। किसी साहित्यिक रचना के सब अंशो पर दृष्टि डालना, उसके गुण-दोषो का भलीभाँति विश्लेषण करना, स्वयं उसका आनन्द लेकर दूसरो को भी उसकी व्याख्या करके आनन्दमग्न कर देना, दोषों का विवेचन करके भावी रचनाओ मे उन दोषो की सम्भावना को दूर कर देना—ये सब कार्य रचना के सम्यक् दर्शन के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। अत. रचनात्मक साहित्य की व्याख्या, गुण-दोष-विवेचन, विषय-प्रतिपादन शैली तथा उसके प्रसार के आधार पर मूल्यांकन को समालोचना कहा जाएगा। इस परिभाषा के अन्तर्गत वह सारा विवेचन आ जाएगा जो मूल साहित्य के उपलक्ष्य में किया जाता है—चाहे वह विश्लेषणात्मक हो, चाहे व्याख्यात्मक हो, चाहे मूल्याकन स्वरूप हो या इन तीनों का सम्मिलित रूप हो।

प्रस्तुत प्रसंग में यह बात विशेषतया ध्यान देने योग्य है कि समालोचना के अन्तर्गत गुण और दोष दोनो का समान रूप से विवेचन होता है। कई व्यक्तियों द्वारा समालोचना से केवल एक पक्ष—दोष-दर्शन—का ही ग्रहण कर लिया जाता है। यह नितान्त भ्रान्त स्थिति है। समालोचना का यह अत्यन्त सकुचित—न केवल संकुचित अपितु दूषित—अर्थ है। कदाचित् इसी दोष के निराकरण के लिए अंग्रेजी में कई बार क्रिटिसिज्म (Criticism) के स्थान पर क्रिटिकल एप्रीसिएशन (Critical appreciation—समालोचनात्मक प्रशंसा) शब्दावली का प्रयोग कर दिया जाता है। 'एप्रीसिएशन' शब्द में गुण-दर्शन की भावना विशेषतया निहित है।

समालोचना शब्द के लिए पर्याय रूप में कुछ अन्य शब्दों का भी व्यवहार होता है, यथा आलोचना, समीक्षा, विवेचना, मीमांसा, अनुशीलन आदि। इन शब्दो में आलोचना और समीक्षा शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से समालोचना शब्द से लगभग मिलते-जुलते है। आलोचना शब्द के मूल में लोचृ धातु तो वही है, केवल सम् उपसर्ग का अभाव है। समीक्षा शब्द में सम् उपसर्ग वही है, केवल लोचृ धातु के स्थान पर ईक्ष् धातु है जिसका अर्थ भी वही 'देखना' ही है।

अंग्रेज़ी मे क्रिटिसिज़्म से मिलती-जुलती एक और वस्तु है—रिव्यू (Review)। रिव्यू और क्रिटिसिज्म में पर्याप्त भेद है। रिव्यू किसी पुस्तक का परिचय मात्र होता है, जिसका क्षेत्र पत्र-पत्रिकाएँ ही है। वह परिचय अधिकतर विषय-वर्णन तक ही सीमित रहता है। उसमे ग्रन्थ की सागोपाग विवेचना नही होती। रिव्यू का लक्ष्य पाठक को केवल इतनी ही बात से अवगत कराना होता है कि विचाराधीन पुस्तक मे किस-किस विषय का निर्वाह हुआ है। हिन्दी में, किसी अन्य शब्द के अभाव में, रिव्यू शब्द के लिए समीक्षा शब्द से ही काम चला लिया जाता है। प्राय: पत्र-पत्रिकाओ मे 'पुस्तक-समीक्षा' सज्ञक कालम रहते है।

समालोचना का कार्य वा उद्देश्य

कार्य—व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ वा उल्लिखित परिभाषा के आधार पर समालोचना के दो कार्य ठहरते है—साहित्यिक रचना की व्याख्या करना अथवा कृति की उत्कृष्टता या हीनता के विषय में निर्णय देना। व्याख्या किसी कृति के अध्ययन में, विवेचन में सहायता देती है और पाठक को उस कृति के रसास्वादन के योग्य बना देती है। यही रसास्वादन उस कृति के मूल्य-निर्धारण में उपयोगी सिद्ध होता है। यदि रचना पाठक के हृदय को लुभा लेती है तो वह उसके लिए बहुमूल्य हो जाती है, अन्यथा वह उसकी उपेक्षा करने लगता है अर्थात् तब उसकी दृष्टि मे उस रचना का मूल्य कम हो जाता है। इस प्रकार समालोचना व्याख्या के माध्यम से रचना का मूल्य स्थापित कर देती है। कई विवेचक इस मूल्य-निर्धारण के आधार पर ही समालोचना का केवल एक कार्य 'निर्णय' प्रतिपादित करते हैं। उनकी दृष्टि में समालोचना का वास्तविक अर्थ निर्णय देना ही है।

उद्देश्य—समालोचना अपने इन दोनों कार्यों के माध्यम से उत्तम साहित्य की सृष्टि में उपयोगी प्रवृत्तियो का परिचय करा देती है। वह उन प्रवृत्तियों की ओर भी सकेत कर देती है जो साहित्य के उचित विकास में बाधक हो सकती है। उपयोगी और अनुपयोगी प्रवृत्तियों से

परिचय प्राप्त करके साहित्य-स्रष्टा अपनी रचनाओं को उचित दिशा की ओर प्रवृत्त करने में समर्थ हो जाते हैं। फलतः साहित्य एक निश्चित मार्ग पर गतिशील होने लगता है, उसकी गति-विधि का नियमन होने लगता है। साहित्य की समुचित प्रगति के लिए यह नियमन अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होता है। समालोचना का यही प्रमुख उद्देश्य है कि वह साहित्य की दिशा को अपने नियन्त्रण में रखे और उसके स्वस्थ विकास में सहायक हो।

अब यह प्रश्न है कि समालोचक यह कार्य केवल बुद्धि-वृत्ति अर्थात् तर्क के सहारे सम्पन्न करता है या इसमें हृदय-वृत्ति अर्थात् भाव से भी काम लेता है। व्यापक रूप से देखा जाय तो इसमें दोनों वृत्तियों अर्थात् तर्क और भाव का समुचित योग रहता है। दोनों एक दूसरे की सहायक होकर आती हैं। प्रकृत कार्य में इन दोनो वृत्तियो का सामजस्य हो जाता है और दोनों एक दूसरे की पूरक बन जाती हैं। निर्णय का कार्य बिना बुद्धि-वृत्ति के सम्भव नही और व्याख्या या विश्लेषण अनुभूति एवं हृदय-वृत्ति के बिना अधूरी रह सकती है। जब तक समालोचना के दो कार्य व्याख्या और निर्णय स्वीकार किये जाएँगे तब तक इन दोनों वृत्तियों से उपयोग लेना परमावश्यक समझा जाता रहेगा। ये दोनों कार्य भी परस्पर अन्योन्याश्रयी भाव से ही रहते हैं। ऐसी समीक्षा, जो विशुद्ध रूप में निर्णयात्मक या व्याख्यात्मक कही जा सके, केवल कल्पना की वस्तु है। समालोचक मूल रचना की व्याख्या करने के उपरान्त ही उसके मूल्य के सम्बन्ध में अपना कोई निर्णय घोषित कर सकता है। व्याख्या के बिना जो निर्णय किया जाएगा उसका अपना ही विशेष महत्त्व नही रहेगा। इस बात की पुष्टि में पाश्चात्य विद्वान् मोल्टन (Moulton) की उक्ति विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'The modern Study of Literature' में लिखा है—"In the interest of judicial criticism itself, we have to recognize that the judicial criticism must always be preceded by the criticism of interpretation, no judicial criticism can be of any value which has not been preceded by the

criticism of interpretation." अर्थात् स्वय निर्णयात्मक समालोचना के समुचित निर्वाह के लिए भी यह नितान्त आवश्यक है कि व्याख्यात्मक समालोचना सदा उसकी पूर्वगामिनी बनी रहे, क्योकि यदि निर्णयात्मक समीक्षा से पूर्व व्याख्यात्मक समीक्षा न रहेगी तो उसका विशेष मूल्य न हो सकेगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि निर्णय सम्बन्धी कार्य के लिए समालोचक को साहित्यिक रचना की व्याख्या करनी होगी और इसके लिए वह अपनी हृदय-वृत्ति, संकल्पात्मक अनुभूति एव भावन-व्यापार से पूर्ण सहयोग लेगा। इस प्रकार जब वह किसी रचना की व्याख्या कर लेगा तो इस विशद व्याख्या का स्वाभाविक परिणाम यही होगा कि वह उस रचना के प्रति एक विशेष धारणा बनाने के योग्य हो जाएगा। यही धारणा निर्णय का रूप धारण कर लेती है। इस धारणा को सुव्यवस्थित एव साकार रूप देने के लिए समालोचक अपनी बुद्धि अर्थात् तर्कणा शक्ति की सहायता लेता है। इस प्रकार समालोचना के दोनों कार्य सम्भव हो जाते है। इन दोनों कार्यों के किये बिना समालोचना अपने उद्देश्य में सफल नही हो सकती है। ये दोनो कार्य करके ही वह साहित्यिक गतिविधि का नियन्त्रण कर सकती है।

जब समालोचक आलोच्य रचनाओ की कुछ प्रवृत्तियों की, धारणाओं की तथा मान्यताओं की विशद व्याख्या करके प्रशसा कर देता है तो वे प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ अन्य साहित्यिको के लिए अनुकरणीय बन जाती है। इस प्रकार समालोचना साहित्यिक गतिविधि के नियन्त्रण सम्बन्धी अपने उद्देश्य को पूरा कर लेती है। विभिन्न आलोचकों की निन्दा-स्तुति के आधार पर साहित्य के आदर्श रूप निर्मित होने लगते है। कवि-मस्तिष्क में भी इनकी प्रतिष्ठा होने लगती है। सामान्यत. कवि के मस्तिष्क में सृजन के पूर्व ही काव्य के उद्देश्य एव स्वरूप के सम्बन्ध में एक स्पष्ट अथवा अस्पष्ट धारणा रहती है। यही धारणा उसके सृजन-कार्य पर नियन्त्रण रखती है। इस धारणा की स्थापना में युग की समालोचना का

विशेष हाथ रहता है । टी. एस. इलियट साहित्य-सृजन के अन्तस्तल में प्रवाहित साहित्य सम्बन्धी धारणा को प्रेरक शक्ति के रूप में मानते हैं'। यही कारण है कि समालोचना द्वारा निर्मित साहित्यिक धारणाओं का युग की रचनाओं पर नियन्त्रण स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही हो सकती ।

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध समालोचक हडसन (Hudson) ने भी समालोचना के इस उद्देश्य का उद्घाटन किया है । उनका कथन है कि समीक्षा साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होकर ही प्रेरणा नहीं देती अपितु व्यक्त रूप में भी उसका स्वरूप निर्धारित करती है । उसके अव्यक्त महत्त्व को व्यक्त करके साहित्य को सर्वाङ्गीण विकास का अवसर और प्रेरणा प्रदान करती है । समालोचना उच्च साहित्यिक धारणा की स्थापना कर देती है । यही उच्च धारणा उच्च साहित्य को जन्म देती है ।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य समालोचना द्वारा प्रतिष्ठापित साहित्यिक मान्यताओ के अनुरूप ही निर्मित हुआ है । महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रेमचन्द का युग नीतिवादी है, उपयोगितावादी है । इसीलिए इस युग का साहित्य भी नीति को साथ लेकर चला है । प्रसाद युग का समालोचक कलावाद को अपनाकर चला है, अतः इस काल का साहित्य भी सौन्दर्यानुभूति या सौष्ठववाद का साधक रहा है । नव्यतम युग में दो मान्यताओं का समीक्षा-क्षेत्र में प्रभाव है। ये मान्यताएँ मार्क्सवादी तथा फ्रायडवादी नाम से प्रसिद्ध हैं । इन दोनों साहित्यिक धारणाओं के अनुरूप ही नव्यतम युग में अन्तर्वादी और प्रगतिवादी साहित्य का निर्माण हो रहा है । अतः यह स्पष्ट है कि समालोचना साहित्य की दिशा का निर्देशन कर सकती है, उसमें उदात्त प्रवृत्तियों का प्रसार कर सकती है, अनुपयोगी प्रवृत्तियों के प्रसार के रोक-थाम में भी वह सक्षम है । यदि कोई समालोचना अपने इस उद्देश्य की पूर्ति नही कर पाती तो वह समालोचना नाम से अभिहित भी नही की जा सकती ।

समालोचना की उपयोगिता

समालोचना की उपयोगिता के विषय में आक्षेप

समालोचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए प्रकट किया जा चुका है कि समालोचना साहित्य की गति-विधि का नियमन करने में समर्थ है। समालोचना के इस सामर्थ्य को दोष मानते हुए कई विचारक समालोचना को साहित्य के समुचित एवं स्वच्छन्द विकास में बाधक समझते हैं। ऐसे विचारक सबसे पहली युक्ति यह उपस्थित करते हैं कि साहित्य और समालोचना दोनो में परस्पर मौलिक अन्तर है। इन दोनों के मूल में प्रेरक रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार की अन्तर्वृत्तियाँ कार्य करती हैं, अर्थात् साहित्य के लिए अन्तस्तल के सृजन-व्यापार की, रचना-कौशल की अपेक्षा रहती है और समालोचना के लिए भावन-व्यापार की। साहित्य की सृष्टि सृजनात्मक प्रतिभा पर निर्भर रहती है जब कि समालोचना की उत्पत्ति एक भिन्न प्रकार की प्रतिभा से होती है जिसे भावात्मक प्रतिभा की संज्ञा दी जा सकती है। एक का कार्य है निर्माण करना और दूसरी का उसकी परीक्षा करना। अपने इस कथन का समर्थन करने के लिए वे यह भी तर्क उपस्थित करते हैं कि जिस काल में समीक्षा का अधिक सृजन होता है उस काल की कविता उच्च कोटि की नही होती। इन लोगों का मत है कि जब सृजनात्मक शक्ति का अभाव होता है तभी समीक्षा का भी विकास होने लगता है। इस मत की पुष्टि के लिए वे हिन्दी साहित्य के रीतिकाल और आधुनिककाल को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

इसी उपलक्ष्य में एक आक्षेप यह प्रस्तुत किया जाता है कि व्याख्यात्मक और समीक्षात्मक साहित्य के विस्तृत सृजन से मूल साहित्य की ओर से हमारा ध्यान हट जाता है। उसकी उपेक्षा होने लगती है। फलस्वरूप समीक्षा मूल साहित्य के साक्षात् रसास्वादन से हमें विमुख कर देती है। इतना ही नही, वह हमें मूल साहित्य के सृजन की प्रेरणा न देकर समीक्षा-लेखन की ओर ही प्रवृत्त करती है। यही कारण है कि आज मूल पुस्तकों

के सम्बन्ध में पुस्तकों पर पुस्तकें नित्यप्रति प्रकाशित होती जा रही हैं। इनका अनुदिन इतना बड़ा अम्बार लग रहा है कि हमारा ध्यान मूल पुस्तकों पर से हटकर इनकी ओर ही लग रहा है। व्याख्यात्मक और समीक्षात्मक रचनाओं का अपार विस्तार इसी प्रकार के रचनाकारों की श्रेणी को तीव्रता से वृद्धिगत कर रहा है। बात यहाँ तक बढी है कि अधुना मूल साहित्य की आलोचनाओ की तो बात दूर रही, स्वयं उनकी भी आलोचना की जा रही है। 'समीक्षा की समीक्षा'[1] जैसी पुस्तकों का भी प्रणयन होने लगा है। मूल साहित्य द्वारा प्रतिपादित जीवन की व्याख्या पर भी नई-से-नई व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। इस प्रकार मूल साहित्य का ज्ञान दूसरे या तीसरे व्यक्ति की लेखनी से प्राप्त हो रहा है। मूल लेखक के साथ हमारा सीधा सम्बन्ध नही रहा। आलोचक ही मध्यस्थ रूप से बीच में उपस्थित हो रहा है। मूल साहित्य मानो समालोचना-कृतियों के नीचे दब-सा रहा है।

आक्षेपों का उत्तर और विरोध-परिहार

समालोचना और सृजनात्मक साहित्य के पारस्परिक विरोध का सिद्धान्त मानने वाले प्रायः अपना ध्यान समालोचना के संकुचित रूप पर ही केन्द्रित करते हैं। कभी-कभी केवल दोष-दर्शन के लिए लिखी गई पुस्तकें भी आलोचना के नाम से अभिहित होने लगती है। निस्सन्देह ऐसी रचनाएँ साहित्यिक विकास में बाधक हो सकती हैं। परन्तु ऐसी दूषित समालोचना के ही आधार पर सारे समीक्षा-शास्त्र को साहित्य-विकास में बाधक नहीं समझा जा सकता।

यह भी ठीक है कि मूल साहित्य व्याख्यात्मक रचनाओं के नीचे दब सा रहा है परन्तु इसी कारण समालोचना की उपयोगिता का निराकरण नही किया जा सकता। इसका अपना उचित स्थान और उपयोग निर्विवाद है। केवल इसी कारण हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

---

[1] श्री प्रभाकर माचवे कृत

प्रतिभा के स्वरूप की भिन्नता के आधार पर भी पारस्परिक विरोध के सामान्य सिद्धान्त की स्थापना नही की जा सकती । मुख्यतया समालोचना को साहित्य के अध्ययन का साधन माना जाता है, अतएव यह कहा जा सकता है कि साहित्य के लिए सृजन-व्यापार की आवश्यकता है और समीक्षा के लिए अन्त:करण के भावन-व्यापार की इसी आधार पर इन दोनों की परस्पर भिन्नता भी प्रतिपादित की जा सकती है । साधन रूप मानने से समीक्षा साध्य रूप साहित्य से भिन्न हो ही जाती है परन्तु समीक्षा केवल साधन ही नही है, यह स्वयं भी साहित्य का एक विशिष्ट रूप मानी जा सकती है ।

समालोचना भी साहित्य है क्योंकि इसमें भी साहित्य की भाँति विषय और विषयी दोनों का अस्तित्व रहता है । व्याख्या करते हुए विषय का, वस्तु का ग्रहण हो जाता है और निर्णय करते हुए विषयी का, समालोचक के निजत्व का, व्यक्तित्व का समावेश होने लगता है । विश्लेषण तो वस्तु का ही होता है परन्तु समष्टि रूप से कृति के मूल्याकन मे समालोचक को अपने व्यक्तित्व का प्रभाव स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है । इस कार्य में व्यक्तित्व उभरने लगता है । यदि समालोचना के व्याख्या और निर्णय ये दो कार्य मान लिए जाएँ तो विषय-विषयी के सम्मिश्रण के बिना ये कार्य सम्पन्न नही हो सकते ।

समालोचना में वस्तु या विषय की सत्ता तो प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है । विषयी के अस्तित्व के सम्बन्ध में विवाद अवश्य है। समालोचना को साहित्य का एक रूपविशेष स्वीकार करने वाले इसमें विषयी का अस्तित्व स्वीकार करते है और यह कहते हैं कि जब साहित्य में व्यक्ति की प्रधानता रहती है तब उसकी समीक्षा में भी वैयक्तिकता का तत्त्व प्रधानतया विद्यमान मानना पड़ेगा । उसमें व्याख्या और निर्णय समालोचक के व्यक्तित्व से परिचालित होते हैं । विषयी के अस्तित्व के कारण ही समालोचना को साहित्य के अन्तर्गत लिया जा सकता है; अन्यथा इसे साहित्य के क्षेत्र से बाहर स्वीकार करना पड़ेगा । आज जो समालोचना-साहित्य शब्द प्रयोग

में आ रहा है वही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि समालोचना में लेखक का अपनापन विद्यमान रहता है।

इसके अतिरिक्त रचनाकार के प्राय: सभी गुण समालोचक मे भी होने आवश्यक है। कवि की भाँति समालोचक को भी मानसिक रूप से सजग एवं सवेदनशील होना चाहिए, अर्थात् उसे कुशाग्रबुद्धि वाला, सब प्रकार के प्रभावो को शीघ्र अनुभव करने वाला और सारतत्त्व को दृढता से ग्रहण करने में सशक्त होना चाहिए। उसे द्रष्टा, उपभोक्ता, स्रष्टा होना चाहिए। उसे अनिवार्य रूप से इस योग्य होना चाहिए कि वह वस्तुओं को उनके यथार्थ स्वरूप मे देख सके। कवि और समालोचक में किसी प्रकार का अन्तर स्पष्ट नही किया जा सकता। अतएव समीक्षा को भी स्वतन्त्र रूप से साहित्य स्वीकार किया जा सकता है। समालोचना भी एक प्रकार का सृजन ही है। सृजन न सही, पुन:सृजन तो है ही। अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए, अपने भावो को पाठको व श्रोताओं तक पहुँचाने के लिए जिस प्रकार कवि सृजन करता है ठीक वैसे ही कवि-सृष्टि के भावक को भी भाव-प्रेषणीयता में सहायक होने के लिए भावन-व्यापार के साथ कुछ सृजनात्मक भी होना पड़ता है।

किसी सीमा तक यह कहा जा सकता है कि समालोचक के लिए भावन-व्यापार की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता है। इसमें भी सन्देह नही कि कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा में से कारयित्री प्रतिभा का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है, परन्तु इसी के आधार पर इन दोनों मे परस्पर विरोध की सम्भावना नही की जा सकती। इसी आधार पर समालोचना को साहित्य से हेय भी प्रतिपादित नही किया जा सकता। दोनो का अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र महत्त्व है। समालोचना रचनात्मक साहित्य के महत्त्व को बढाने में परम सहायक होने से कदापि हेय नही मानी जा सकती।

प्रतिभाओं के आधार पर भी विरोध नहीं सिद्ध किया जा सकता क्योकि कवि और समालोचक दोनों को दोनों प्रकार की प्रतिभाओं की आवश्यकता रहती है। समीक्षा की प्रौढता के लिए जैसे सृजनात्मक प्रतिभा

अपेक्षित है ठीक वैसे ही रचनाकार के लिए समीक्षा-शक्ति की आवश्यकता है। मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) की उक्ति इसी बात का समर्थन करती है। वे कहते हैं 'The ereatıon of a modern poet to be of worth much implıes a great critical effort behind it, else it must be a comparatively poor, barren and short-lıved affair.' अर्थात् आधुनिक कवि की रचना यदि बहुमूल्य है तो उससे सकेत मिलता है कि उसके मूल मे आलोचनात्मक दृष्टि का सहयोग अनिवार्यतः विद्यमान है अन्यथा यह अपेक्षाकृत तुच्छ, निस्सार एवं क्षणस्थायी वृथा प्रयास-मात्र होगी। इसी प्रकार टी. एस. इलियट (T. S. Eliot) की यह उक्ति कि 'किसी उत्तम कविता और तत्कालीन उत्तम समीक्षा का परस्पर महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रहता है' इसी बात का समर्थन करती है कि सृजन से पूर्व कवि के मस्तिष्क मे काव्य के उद्देश्य एवं स्वरूप के सम्बन्ध मे एक स्पष्ट अथवा अस्पष्ट धारणा अवश्य रहती है। अतः प्रतिभाओ के आधार पर दोनो में अन्तर सिद्ध नही किया जा सकता।

रचनात्मक साहित्य में जीवन की प्रत्यक्ष रूप से व्याख्या होती है और समीक्षा में इस काव्यगत जीवन की व्याख्या होती है—इस बात के आधार पर भी कई लोग इन दोनो के अन्तर को प्रतिपादित करना चाहते हैं। उनका कथन है कि काव्य यथार्थ जीवन से प्रेरणा ग्रहण करता है और समालोचना काव्य से, अत इन दोनों मे अन्तर स्थापित हो जाता है। यदि गम्भीरता से विवेचना की जाए तो यह अन्तर भी यथार्थ नही है। जीवन की प्रत्यक्ष रूप से व्याख्या करने वाले काव्य में और काव्य की व्याख्या करने वाले समीक्षा-साहित्य में भेद मानना उचित नही। काव्यगत जीवन-व्याख्या में कवि के व्यक्तित्व को मुख्य स्थान प्राप्त है। समीक्षा-साहित्य में भी यही व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है। जब कोई आलोचक लेखक की कृति की व्याख्या उसके विविध अंगों के साथ इस रूप मे करता है कि मानो उसकी अपनी अभिव्यक्ति हो तो वह ठीक उसी प्रकार जीवन की व्याख्या करता है जिस प्रकार कवि या नाटककार करता है। यथार्थ

आलोचना भी अपना विषय और उत्तेजना जीवन से ही प्राप्त करती है और अपने ही रूप में मूल साहित्य की भाँति रचनात्मक कहला सकती है। अत: काव्य जीवन से प्रेरणा ग्रहण करता है और समीक्षा काव्य से—यह अन्तर कृत्रिम है, अयथार्थ है। सच्ची समीक्षा भी जीवन से ही प्रेरणा लेती है। एक उत्तम पुस्तक ठीक उसी रूप में जीवित तत्त्व है जिस रूप में यथार्थ जीवन में कर्म तथा अनेक व्यवहार। यह पूर्णरूपेण स्पष्ट है कि आलोचना-साहित्य अपने मूल रूप में रचनात्मक साहित्य से भिन्न प्रकार का नही होता।

आलोचना किस रूप में बाधक है ?

आलोचना के सदुपयोग और दुरुपयोग का अन्तर समझना अत्यन्त आवश्यक है। हम अपने अनुभव से ही यह सुगमता से जान सकते है कि कब आलोचना हमारे लिए बन्धनस्वरूप हो जाती है और कब हमारे लिए सहायकरूप होती है। यदि व्यापक दृष्टिकोण से इस पर विचार किया जाए तो आलोचना उस समय बन्धनस्वरूप ठहरती है जब कि हम किसी लेखक के प्रति अन्य आलोचक की उक्तियों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और स्वय उस लेखक की रचना का अध्ययन नही करते। फिर भी यह धारणा बनाना ठीक नहीं कि समीक्षा सम्बन्धी पुस्तकें बिना किसी अपवाद के निन्दा के योग्य हैं।

हमें इस प्रश्न पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना पडेगा। साहित्य का क्षेत्र बड़ा विशाल है। नित्यप्रति इस क्षेत्र का विस्तार बढ़ता ही जाता है। आज के संघर्षमय जीवन में यह सम्भव नही है कि हम सारे साहित्य का स्वयं अध्ययन-परिशीलन करके रसास्वादन कर सकें। जीवन के संग्राम में जूझते हुए हमें इतना अवकाश ही नही मिल पाता है। नाना-विध, परस्पर-विरोधी स्वार्थों के द्वन्द्व के दबाव में पड़कर हम अत्यन्त विवशता से संसार के नवीन साहित्य का रसास्वादन करने के लिए इन आलोचना-पुस्तकों की ओर लपकने लगते है। विश्वविख्यात लेखकों की

सब रचनाओं का अध्ययन करने के लिए न तो हमारे पास समय है और न धैर्य। इस विशेष स्थिति में इन आलोचकों की कृतियों के माध्यम से ही रसास्वादन कर हमें सन्तुष्ट होना पड़ता है। पूर्णता की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि हमें ससार की सब पठनीय पुस्तकों का स्वयं अध्ययन करना चाहिए। परन्तु प्रश्न पूर्णता का नही है, प्रश्न तो यह है कि आज के सघर्षमय जीवन की विकट परिस्थितियों में यह सम्भव भी है या नही। जब यह सम्भव नही तो उचित समाधान यही है कि हम हंस-क्षीर-न्याय-वत् सार-भाग को ही ग्रहण करने का यत्न करें। समालोचक हमारे लिए स्वयं यत्न करके सार-भाग सचित कर देता है। हमें इतने से ही सतोष करके उससे लाभ उठाना चाहिए।

किसी महालेखक की सब कृतिओं को भलीभाँति स्वय पढना और उनसे लाभ उठाना कुछ असम्भव सा है। अतः आलोचना के रूप में उन पर लिखी पुस्तक को पढ़ने से हमें सुगमता से वह मधुर रस उपलब्ध हो जाता है जो उसकी रचनाओं में बिखरा पड़ा होता है। आलोचक इस रस को हमारे लिए इकट्ठा करके हमारे सम्मुख मधुमक्षिका-न्याय से प्रस्तुत कर देता है। चाहे यह प्रयास कितना ही तुच्छ या सामान्य क्यों न हो परन्तु हमारे लिए यह बहुत काम का है। दूसरों के विचारों का समुचित उपयोग न करना हमारी कृतघ्नता तथा अहमन्यता ही होगी।

यह सत्य है कि व्याख्या या आलोचना सम्बन्धी पुस्तकों का पूर्णतः आश्रय लेने से यह हानि हो सकती है कि हम किसी पुस्तक के सम्बन्ध में आलोचक की धारणा को ही मानने के लिए विवश हो जाएँ। किसी महान्, योग्यता-सम्पन्न, प्रतिभाशाली आलोचक का पाठक की विचार-शक्ति पर इतनी दूर तक प्रभाव पड़ सकता है कि वह उसके निर्णय को अन्तिम मान ले। हो सकता है कि पाठक मूल पुस्तक को उसी रूप में देखने लग जाए जिस रूप में आलोचक देखता है। परिणामस्वरूप जो बात आलोचक के ध्यान में नहीं आती वही बात पाठक के भी ध्यान में नही आती। उसका अध्ययन उसी पद्धति पर चलता है जिस पर आलो-

चक स्वयं चलता है। इस प्रकार वह आलोचक मूल विषय और पाठक के बीच में बाधकस्वरूप उपस्थित हो जाता है। पाठक को आगे सरकाने की बजाय वह उसके चिन्तन के मार्ग को ही रुद्ध कर देता है। मूल लेखक के साथ सीधा सम्बन्ध रुक जाता है और उसकी कृति के क्षेत्र में उसका स्वच्छन्द-प्रसार सर्वथा असम्भव बना दिया जाता है।

इस दोष के रहते भी आलोचना की उपेक्षा नही की जा सकती। आलोचक की सचित निधि को स्वीकार न करने का तो यह अर्थ होगा कि हम अपने से बढकर किसी को योग्य नही समझते और अपने से अधिक योग्य एव व्युत्पन्न व्यक्ति के गम्भीर चिन्तन व अनुभवो से लाभ उठाने को उद्यत नही हैं। जिस प्रकार कवि इस विस्तृत ब्रह्माण्ड से, जीवन के विविध क्षेत्रों से ज्ञान-राशि सचित करके अपनी रचना के माध्यम से हमें प्रदान करने का उपक्रम करता है ठीक उसी प्रकार समालोचक भी साहित्यिक की रचना से ज्ञान उपार्जित करके हमें उसका भागी बना देता है। उत्तम गुणो से युक्त सच्चे समालोचक के सम्बन्ध में यह धारणा बनाना कि वह किसी उत्तम कृति को हमसे अधिक नही समझ सकता, हमारा वृथा अभिमान ही है। यह सोचना भी हमारी कृतघ्नता एवं मूर्खता की पराकाष्ठा होगी कि उसकी सहायता से हम उसमें मे शक्ति और सौन्दर्य सम्बन्धी विशेषताओं का उद्घाटन नही कर सकेंगे। हो सकता है कि हम उसकी सहायता के बिना इन विशेषताओ से अनभिज्ञ ही रह जाएँ।

समालोचक के गुण

प्रत्येक व्यक्ति आलोचक नही बन सकता। आलोचक बनने के लिए कतिपय गुणों की अपेक्षा होती है। सच्चे समालोचक का पहला गुण उसकी विद्वत्ता माना जा सकता है। सच्चा समालोचक वही है जो अपने आलोच्य विषय सम्बन्धी ज्ञान से सर्वथा सम्पन्न हो। जिसे विषय के विस्तार का, उसकी गहनता का हमारी अपेक्षा अधिक परिचय हो। जिसने अपनी विद्या के

बल पर विशेष अन्तर्दृष्टि, पारदर्शन एवं विपय-ग्रहण की भरपूर शक्ति संचित कर ली हो वही समालोचक बनने का वास्तविक अधिकारी है। उसे काव्य-शास्त्र पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होना अपेक्षित है। काव्य-परम्पराओं से भी उसे परिचय प्राप्त कर लेना पडता है। लोक-व्यवहार मे निष्णात, बहुश्रुत समालोचक ही काव्य के मर्म को जानने मे समर्थ हो सकता है।

दूसरा गुण जो समालोचक के लिए आवश्यक समझा जाता है, वह है सहृदयता। सहृदय भावुक व्यक्ति ही किसी रचना के गुणों को ग्रहण कर सकता है। पण्डित्य के रहते भी हृदयहीन समालोचक कवि की भाव-भूमि का स्पर्श नही कर पाता। साहित्य में भावों की प्रधानता रहती है। भावों के प्रसार को, उनकी गतिशीलता को भावज्ञ व्यक्ति ही जान सकता है। यह सहृदयता अपने तक ही सीमित नही रहनी चाहिए अपितु रचनाकार के प्रति भी होनी चाहिए ताकि वृथा दोप-दर्शन में उसकी प्रवृत्ति न हो। लेखक के प्रति श्रद्धा-भावना रखने से उसके दृष्टिकोण को समझने में सुगमता होती है। केवल दोष-दर्शन से समालोचक का उद्देश्य पूर्ण नही हो सकता। गुणज्ञता सहृदयता का प्रथम लक्षण है। यही गुणज्ञता समालोचक को रचनाकार के ध्येय को परखने में सक्षम बना देती है। यही उसे सम्पूर्ण काव्य के गम्भीर अध्ययन की प्रेरणा प्रदान करती है। गम्भीर अध्ययन के कारण ही किसी समालोचक के निर्णयों मे गम्भीरता का गुण दृष्टि-गोचर हो सकता है।

तीसरा गुण है निष्पक्षता। समालोचक व्यक्तिगत, जातिगत अथवा देशगत रागद्वेष की भावनाओं से रहित होकर ही किसी रचना का वास्त-विक मूल्य आँक सकता है। राग-द्वेप मनुष्य की विवेक-शक्ति को मन्द कर देते है। इनके कारण समालोचक की दृष्टि धुँधली पड़ जाती है। धुँधले वातावरण में वह रचना की गहराई में पड़े हुए विचार-रत्नों का सग्रह नही कर पाता। वह उस मधुर रस से वंचित रहता है जो रचनाकार की सृष्टि में सर्वत्र परिव्याप्त रहता है। पक्षपातयुक्त आलोचना आलोचना नही कही जा सकती।

समालोचना का कार्य बड़ा दुष्कर है। इसके लिऐ स्वाभाविक प्रतिभा की भी नितान्त आवश्यकता रहती है। अपनी रचना में समालोचक इस प्रतिभा के बिना प्रभावोत्पादकता उत्पन्न नही कर सकता। इसके अतिरिक्त समालोचक में तर्कणा शक्ति भी अपेक्षित है। विचारों की सुनिश्चितता, क्रमबद्धता, सुस्पष्टता लाने में उसे इसी शक्ति से सहायता मिलती है। असम्बद्ध, असंगत आलोचना उसके निर्णयों को अविश्वसनीय बना डालती है। उल्लिखित गुणों के अतिरिक्त समालोचक को उदार होना चाहिए। इतने उदात्त गुणों वाले समालोचक जब इस क्षेत्र में विचरते दृष्टिगोचर होंगे तब साहित्य के इस रूप का महत्त्व दुगना बढ जाएगा। तब समालोचना साहित्य के स्तर को समुन्नत बनाने योग्य, उसका नियन्त्रण करने वाली, पथ-प्रदर्शन करने वाली समझी जाएगी।

समालोचक के उपकार

प्राय: समालोचक हमें किसी मूल रचना के विषय में सर्वथा नया दृष्टि-बिन्दु प्रदान करता है। वह हमारे अपने प्रभावों को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करने में सहायता भी कर सकता है। हमारे अपने प्रभाव धुँधले, अस्पष्ट और अनिश्चित रूप में रहने के कारण विशेष लाभदायक नहीं हो सकते। समालोचक उन्हें उज्ज्वल, स्पष्ट तथा निश्चित रूप में लाकर व्यवहारोपयोगी बना देता है। कभी-कभी आलोचक पथ-प्रदर्शक का कार्य भी करता है, वह मित्र की भाँति सहायक हो सकता है। हमारी आँखों के सामने वह नई भाव भूमि लाकर उपस्थित कर सकता है जिसके दर्शन से हम अपने भाव-जगत् को अधिक व्यापक एवं समृद्ध कर सकते हैं। कई बार ऐसा होता है कि हम किसी परिचित वस्तु को सामान्य दृष्टि से देखते हैं और उसके अन्तस्तल में विराजमान विशेषता से वंचित रह जाते है। समालोचक उस परिचित वस्तु के उपेक्षित अंश पर हमारा ध्यान ले जाता है और हमें मूल रचना के आस्वादन की पूर्ण क्षमता प्रदान कर देता है। वह हमें मूल रचना को पुन: अध्ययन करने की शिक्षा देता है ताकि

हम पहले की अपेक्षा अधिक चतुराई से, गम्भीरता से उसे पढ सकें। समालोचक हमें उत्तेजित भी करता है। जब वह हमारे अपने निर्णयों के विपरीत प्रबल विचार उपस्थित करता है और हमारी धारणाओ की तीव्र आलोचना करता है तब वह प्रकारान्तर से हमारी सहायता करता है। अपनी धारणा के विपरीत आलोचक की सम्मति को पढ़कर हमारी कल्पना उत्तेजित हो उठती है। हम विशिष्ट चिन्तन के लिए अग्रसर होने लगते हैं। ऐमर्सन के इस कथन मे पर्याप्त सत्यता है कि आलोचक हमें शिक्षा नही देता अपितु हमें उत्तेजित करता है। यदि हम उसकी आलोचना को ठीक उसी प्रकार पूर्ण सावधानता से पढे जैसे हम मूल रचना को पढते है तो चाहे हमारी धारणा उसके साथ मिलती हो या न मिलती हो, हमें लाभ अवश्य होगा।

समालोचक का विकृत रूप

जब समालोचक किसी निश्चित सिद्धान्त या वाद को अपनाकर समालोचना के क्षेत्र में प्रविष्ट होता है और अपने ही दृष्टिकोण के अनुरूप साहित्यिक रचनाओ का विश्लेषण करने लगता है तब वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। किसी वादविशेष के आधार पर किसी रचना की व्याख्या करने से उस पर कृत्रिमता का रग चढने लगता है। इसी प्रकार जब समालोचक किसी विचारधारा को केवल लिखने के लिए ही अपना लेता है और उस विचारधारा के प्रति उसके अतःकरण में दृढ़ आस्था नही होती तो उस स्थिति में भी उसकी आलोचना में सुनिश्चितता का दर्शन नही हो पाता। विचारों की अपरिपक्वता भी उसकी रचना को दूषित कर देती है। ऐसे अपरिपक्व और सिद्धान्त-प्रिय समालोचकों द्वारा लिखी गई आलोचना साहित्य को प्रेरणा नही देती। समीक्षा के इस रूप में मूल ग्रन्थो के अध्ययन का भी प्रोत्साहन नही मिलता। समीक्षा का यह अस्वस्थ रूप होता है और यह साहित्य के सृजन और अध्ययन दोनों में बाधक होता है। श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने अपने 'हिन्दी के आलोचक'

नामक ग्रन्थ में इसी तथ्य की ओर सकेत किया है। जब समालोचना के क्षेत्र मे वादविशेष पर आग्रह होने लगता है तब वह साहित्य की प्रगति में, उसके स्वस्थ विकास में बाधक बन जाती है। उस समय समालोचक का दृष्टि-कोण सकुचित हो जाता है। उसके चिन्तन में निष्पक्षता का अभाव हो जाता है और वह एकागी दृष्टिकोण को लेकर अस्वस्थ समालोचना साहित्य की सृष्टि करने लगता है। हिन्दी की वर्तमान स्थिति पर शचीरानी गुर्टू के ये शब्द पर्याप्त सारगर्भित प्रतीत होते है कि 'आज साहित्य ऊँचे उसूलो के बोझ से दबा कराह रहा है। विभिन्न वादो, मत-मतान्तरों और सिद्धान्तों से उसकी साँस घुट रही है।'

समालोचना के प्रकार

समालोचना के व्यापक विस्तार ने अनेकानेक भेदो का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। उन पर भी दृष्टिक्षेप करना समीचीन है।

सर्वप्रथम यह समझ लेना आवश्यक है कि समालोचना ने सिद्धान्त और प्रयोग दोनों क्षेत्रों में अपने पाँव पसारे है। इस दृष्टि से समालोचना के भी दो भेद हो सकते है—सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक।

सैद्धान्तिक समालोचना

इस प्रकार की समालोचना में समीक्षा-शास्त्र के अनेकानेक सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। समीक्षा-शास्त्र ऐसा विषय नही कि जिसके सिद्धान्त सार्वकालिक किंवा सार्वदेशिक हो। समय-समय पर इन सिद्धान्तों के निर्धारण की आवश्यकता पड़ी है। सिद्धान्त-निर्धारण सम्बन्धी जो भी आलोचना-प्रत्यालोचना होती है वह सब सैद्धान्तिक समालोचना का अग है। इसके अन्तर्गत साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विषयों यथा काव्य, नाटक, उपन्यास, कथा, निबन्ध, जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण आदि के रूप का सम्यक् विश्लेषण करके उनके लक्षण निश्चित किए जाते हैं। इसमें इस बात की भी चर्चा होती है कि आलोचना करते समय

किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए, कवि या कलाकार के समक्ष कौन-से आदर्श रहने चाहिएँ, विभिन्न काव्य-रूपों के मूल में कौन-कौन से तत्त्व निहित हैं, आदि। हमारे प्रकृत ग्रंथ का भी विषय यही है। अतः इसकी गणना भी सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत ही होगी।

प्राचीन भारतीय समालोचना मुख्यत सैद्धान्तिक ही रही है। भारतीय समीक्षा-शास्त्रों मे साहित्य या काव्य के स्वरूप-प्रतिपादन की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया है। भारतीय आचार्यो की दृष्टि सिद्धान्त-निरूपण की ओर रहने के कारण कवियों की रचनाओं का सांगोपांग अध्ययन सम्भव नहीं हो सका है। अपने प्रतिपादित सिद्धान्तो के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कही-कही रचनाओं की प्रयोगात्मक समीक्षा भी कर दी है।

प्रयोगात्मक समालोचना

इस प्रकार की समालोचना प्रमुख रूप से पश्चिम की देन है। रचनाओं की सागोपांग विवेचना करते हुए साहित्य सम्बन्धी धारणाओं के निर्माण का प्रयास पाश्चात्य साहित्य में ही दृष्टिगोचर होता है। समालोचना साहित्य मे आज जो विविधता परिलक्षित होती है वह प्रयोगात्मक समीक्षा के ही प्रभाव से है। प्रयोगात्मक समीक्षा कार्य व उद्देश्य की दृष्टि से दो प्रकार की होती है—(१) व्याख्यात्मक और (२) निर्णयात्मक। व्यवहार में ये दोनों प्रायः एकत्र मिली रहती है। ऐसी समीक्षा जो विशुद्ध रूप मे निर्णयात्मक या व्याख्यात्मक कही जा सके, सामान्यतः सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध मे यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक साहित्य में समीक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप निर्णयात्मक ही रहा है क्योंकि प्रायः समालोचक का वास्तविक उद्देश्य या कार्य निर्णय देना ही रहा है। धीरे-धीरे वह व्याख्यात्मक होती गई है। आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है।

व्याख्यात्मक समालोचना

व्याख्यात्मक समालोचक अपने आपको विचारणीय एवं आलोच्य पुस्तक की परिधि में ही सीमित रखता है और अपना ध्यान सर्वथा उसी बात पर केन्द्रित करता है जो उसे वहाँ पर ही उपलब्ध होती है। अपने इस प्रयास में वह विशेषतया तीन बातो पर दृष्टिपात करता है—१. रचनाकार की मूल भावना, २. प्रतिपाद्य विषय और ३. अभिव्यक्ति-कला।

रचनकार की मूल भावना:—रचनाकार की मूल भावना को सुष्ठुरीत्या अवगत करने के लिए व्याख्यात्मक समालोचक रचना का सम्यक् परीक्षण-परिशीलन करता है। उस रचना में इतस्ततः विकीर्ण कला सम्बन्धी या नैतिकता सम्बन्धी धारणाओं को हृदयंगम करने का यत्न करता है। समस्त रचना का आद्योपान्त मन्थन व विलोड़न करके उन सिद्धान्तों का उद्घाटन करता है जो उसमें सूत्र रूप से तिरोहित रहते हैं। वास्तव में ये ही वे सिद्धान्त हैं जो लेखक के श्रम पर नियन्त्रण रखते हैं और रचनाकारिता में उसका पदे-पदे पथ-प्रदर्शन करते हैं। सम्भव है कि इसमें से कुछ सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप से लेखक की दृष्टि में भी न रहे हों परन्तु व्याख्यात्मक समालोचक अपने परीक्षण से उनका भी अनुमान कर लेता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनों सूत्रों को ग्रहण करके व्याख्यात्मक समालोचक उनके आधार पर उस रचना की समीक्षा करता है।

प्रतिपाद्य विषय:—आलोचक के लिए आलोच्य पुस्तक का वर्ण्य विषय भी जानना आवश्यक है। प्रतिपाद्य विषय के निर्धारण के लिए आलोचक रचना के अर्थों की व्याख्या करता है और उन निर्धारित अर्थों के आधार पर फिर उनमें सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी सम्बन्ध के आधार पर वह यह निश्चय करने में समर्थ हो जाता है कि आलोच्य पुस्तक का मुख्य वर्ण्य विषय कौन-सा है और गौण विषय क्या है। मुख्य और गौण विषय के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी सूत्रों का संग्रह करना उसे आवश्यक हो जाता है। इस रीति से वह पाठक को रचना के

प्रतिपाद्य विषय से परिचित करवा देता है।

अभिव्यक्ति-कला:—आलोचक को प्रतिपाद्य विषय के अभिव्यक्ति प्रकार को, प्रकाशनरीति को समझने के लिए रचना के अग-प्रत्यंगों के परस्पर संगठन पर ध्यान देना पड़ना है। उसे लेखक की कल्पना-शक्ति की जाँच करनी पडती है। इसके लिए वह रचना की शब्द-योजना, विषय-विभाजन, उचित-क्रम-विन्यास, सगति तथा औचित्य आदि बातों पर ध्यान देता है। वह उस सौन्दर्य का भी दर्शन करने का यत्न करता है जो इस प्रकाशनरीति से रचना में उत्पन्न हो जाता है। वह यह भी देखता है कि रचना प्रभावशाली बनी है या नही। वह इस बात की विवेचना भी करता है कि रचना में सत्य, सौन्दर्य और शक्ति का समुचित निर्वाह हो सका है अथवा नहीं।

इस प्रकार उल्लिखित तीनों बातो पर दृष्टिपात करने के उपरान्त वह निर्णय या मूल्याकन का भार अपने ऊपर नही लेता। इसका भार वह पाठकों पर छोड़ देता है। यद्यपि लेखक की अपनी धारणा अव्यक्त रूप से उसकी सारी समीक्षा के अंन्दर परिव्याप्त रहती है तथापि वह निर्णय पाठकों पर ठूँसने का आग्रह नही करता। वह पाठक के समक्ष वह सामग्री प्रस्तुत कर देता है जिसके सहारे वह स्वयं उस रचना का मूल्यांकन कर सके, स्वयं अपनी सम्मति बना सके। उसका संपूर्ण ध्येय केवल उस पुस्तक का जानना या दूसरों को उससे परिचित कराना होता है। वह अपनी अभिरुचि के आधार पर उस पुस्तक के उपलक्ष्य में अपना कोई निर्णय नही देता। व्याख्यात्मक समालोचक प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण करता है और उसी लेखक की अन्य रचनाओं के विषयो के साथ उसका क्रम स्थापित कर देता है। वह इस विषय पर तुलना और विरोध की विधियों को अपनाकर चलता है। वॉल्टर पेटर (Walter Pater) के अनुसार इस प्रकार का समालोचक अपने तीन प्रमुख कर्त्तव्य समझता है। वह कवि के गुणों को अनुभव करता है, उन गुणों का विश्लेषण करता है और फिर उनको पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है।

इस समीक्षा-पद्धति के प्रधान समर्थक मोल्टन (Moulton) हैं। वे कहते हैं कि इसका प्रधान लक्ष्य यह है कि साहित्यिक समीक्षा को विज्ञान के तुल्य बना दिया जाए। जिस प्रकार वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में वस्तु का परीक्षण करता है और उसी परीक्षण के आधार पर कुछ सामान्य नियम निश्चित कर लेता है, ठीक उसी प्रकार व्याख्यात्मक समालोचक साहित्यिक पदार्थों का उसी रूप में समवलोकन करता है जिस रूप मे वे होते हैं। वह उन नियमों और सिद्धान्तों की खोज करता है, उन्हे क्रमबद्ध करने का यत्न करता है, जिनसे वे पदार्थ निर्मित होते हैं। साहित्यिक रचना को छोड़ अन्य कोई बात उसके ध्यान को नही खींच सकती।

निर्णयात्मक समालोचना

इस समालोचना में पूर्वनिर्धारित सिद्धान्तो के आधार पर आलोच्य पुस्तक की समीक्षा तथा मूल्याकन किया जाता है। कुछ विवेचकों द्वारा कुछ सिद्धान्त स्वीकार कर लिए जाते हैं और कुछ काल तक वे प्रचलित भी रहते हैं। समालोचना के इस प्रकार मे उन्ही प्रचलित मानदण्डों व सिद्धान्तो को आधार मान लिया जाता है। स्पष्ट ही ऐसा करने से आलोच्य पुस्तक का महत्त्व घट जाता है और स्थूल और रूढ़िगत दृष्टिकोण का प्राधान्य हो जाता है।

निर्णयात्मक समालोचक के तीन मुख्य व्यापार कहे जाते हैं। सबसे प्रथम वह प्रचलित साहित्यिक नियमो को महत्त्व प्रदान करता है। वह उनका उसी प्रकार अनुसरण करता है जिस प्रकार नैतिक नियमों या प्राशासनिक विधानों का अनुसरण किया जाता है। दूसरा कार्य वह यह करता है कि इन नियमों को स्थायित्व प्रदान करने और सब कालो मे उनको लागू करवाने का यत्न करता है। वह न्यायाधीश की भाँति निर्णय देने का साहस करता है। उसका तीसरा कार्य साहित्यिक रचनाओ में गुणो के आधार पर क्रम स्थापित करना होता है।

निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक समालोचना का अन्तर

निर्णयात्मक समालोचना अपने ऊपर लिखे तीनो व्यापारों के कारण व्याख्यात्मक समालोचना से भिन्न हो जाती है। व्याख्यात्मक समीक्षा में साहित्यिक नियमो को नैतिक नियमो या प्राशासनिक विधानो की भाँति किसी वाह्य सस्था द्वारा निर्धारित नही माना जाता। उन्हें तो प्राकृतिक नियमो की भाँति ही ग्रहण किया जाता है। व्याख्यात्मक समालोचक यह स्वीकार नही करता कि उस पर कुछ नियम बाहर से ठूँस दिये जाएँ। वह तो उन्हें रचना के अन्दर से ही ढूँढ निकालना चाहता है।

निर्णयात्मक समालोचना की भाँति व्याख्यात्मक समालोचना में किसी स्थिर, सार्वकालिक मानदण्ड को स्वीकार नही किया जाता, उसकी सम्भावना को ही अस्वीकार कर दिया जाता है। व्याख्यात्मक समालोचक साहित्य को अन्य प्रकृतिक पदार्थो की भाँति क्रमिक विकास की उपज मानता है, अत. कसौटी की विद्यमानता को वह अवैज्ञानिक समझता है। व्याख्यात्मक समालोचक गुणो के आधार पर क्रम-स्थापन का कार्य भी अपने हाथ में नही लेता। वह इसे वैज्ञानिक के क्षेत्र से बाहर का समझता है। वह कवियो के रचना-प्रकारों की विषमता को निम्न या उच्च रूप में नही देखता, वह तो उसे भिन्न वस्तु के रूप में ही ग्रहण करता है। जैसे वैज्ञानिक के सम्मुख भिन्न जाति के दो फूल अपने पृथक्-पृथक् रूप में ही आते है ठीक वैसे ही दो लेखको की रचनाएँ भी पृथक्-पृथक् रूप में ही समालोचक के सम्मुख आती है। इस स्थिति में उन दोनो की परस्पर भिन्नता को तो प्रतिपादित किया जा सकता है परन्तु उनमें गुणों के आधार पर मूल्य या क्रम-स्थापन का यत्न उचित नही कहा जा सकता।

संक्षेप में व्याख्यात्मक समालोचक का निर्णयात्मक समालोचक से मौलिक भेद यही है कि वह किसी स्थिर साहित्यिक नियम का अनुसरण नही करता। वह आलोच्य पुस्तक में से कुछ नियमो की स्वयं छानबीन

करता है और उनके आधार पर पुस्तक के सत्य, सौन्दर्य और शक्ति का विश्लेषण कर देता है। वह निर्णय के लिए सामग्री व आधार तो प्रस्तुत करता है परन्तु निर्णय नही करता। वह वास्तव मे जो है उसी का विधान करता है; हमारी धारणा के अनुसार जो होना चाहिए उसका वह विधान नही करता।

मनोवृत्तियों के आधार पर समीक्षा के प्रकार

प्रत्येक समालोचक आलोच्य वस्तु से स्वभावत· प्रभावित होता है और अपनी आलोचना मे वह उस प्रभाव की चर्चा किये बिना नही रह सकता। इसी मनोवृत्ति के आधार पर समीक्षा का एक तीसरा भेद और मानना पड़ता है जिसे प्रभावाभिव्यजक समीक्षा कह सकते हैं। मोल्टन (Moulton) ने भी मनोवृत्तियों के आधार पर समीक्षा के तीन प्रधान भेद माने हैं—१. व्याख्यात्मक, २ निर्णयात्मक और ३. प्रभावाभिव्यंजक। पहले दो प्रकारों का विवेचन किया जा चुका है। तीसरे भेद के सम्बन्ध में नीचे कुछ विचार किया जाता है।

प्रभावाभिव्यंजक समालोचना

मनुष्य जब अनेक रचनाओं का अध्ययन करता चलता है तब उसके हृदय पर उनके गुणों की छाप पड़ती जाती है और उसी छाप या प्रभाव के कारण वह स्वय यह जानने के योग्य हो जाता है कि क्या उदात्त है, श्रेष्ठ है, सुन्दर है, अनुकरणीय है, महान् है। इसी अभिज्ञान से सम्पन्न होकर जब वह समीक्षा लिखता है और उसे अपने व्यक्तिगत प्रभावो से पुष्ट कर देता है तब उस समालोचना को प्रभावाभिव्यजक समालोचना कह दिया जाता है। इसमें रचना की उपयोगिता, सौष्ठव आदि पर सर्व-सामान्य की दृष्टि से विचार नही किया जाता अपितु आत्मप्रधान दृष्टि से ही विचार किया जाता है। आलोचना के इस प्रकार में भाव-तत्त्व की प्रधानता रहती है और बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षाकृत गौणता रहती है।

यदि किसी समालोचक की वैयक्तिक रुचि का लोक-रुचि के साथ

सामजस्य हो जाए तो यह समालोचना निर्दोष कही जा सकती है। रुचि की नितान्त भिन्नता सदोष कही जाती है। आज साहित्य में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की भावनाओ के प्रसार के फलस्वरूप इस आलोचना-प्रकार को पर्याप्त प्रमुखता दी जा रही है।

शैली की दृष्टि से समालोचना के प्रकार

शैली की दृष्टि से समालोचना के दो मुख्य भेद किये जा सकते है—१. ऐतिहासिक और २. तुलनात्मक।

ऐतिहासिक समालोचना

साहित्यकार केवल निर्माता ही नही होता अपितु वह स्वयं निर्मित भी होता है, अर्थात् उसके निजी व्यक्तित्व पर युग-भावना का व्यापक प्रभाव पड़ता है। साहित्य और युग का यही सम्बन्ध ऐतिहासिक शैली का आधार है। इस शैली को अपनाने वाला समालोचक आलोच्य कवि या लेखक को समाज की अविरल धारा का एक अविभाज्य अंश स्वीकार करता है। वह उसकी समसामयिक परिस्थितियो का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करता है और उन्ही परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में कवि-कृति के वर्ण्य विषय, विचारधारा, भाव, भाषा तथा शैली का अध्ययन तथा मूल्यांकन करना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझता है। इतिहास के चौखटे में अपने आपको सीमित करके ही वह अपने मानदण्डो को प्रयुक्त करता है।

प्रत्येक कला-कृति के मूल में दो प्रधान प्रेरणाएँ स्रोत के सदृश स्वीकार की जाती है—१. कलाकार का व्यक्तित्व और २. युग-चेतना। इन दो प्रेरणाओ के आधार पर ऐतिहासिक शैली की समालोचना के भी दो रूप हो जाते है—१. शुद्ध ऐतिहासिक और २. चरितमूलक ऐतिहासिक।

शुद्ध ऐतिहासिक समालोचना— जब समालोचक केवल युग-चेतना के माध्यम से किसी आलोच्य ग्रन्थ की समीक्षा करता है तब वह शुद्ध ऐतिहासिक समालोचना कहलाती है। मार्क्सवाद के अनुयायी प्रगति-

वादी समीक्षक प्राय: इसी शैली मे अपनी समालोचनाएँ लिखते है।

चरितमूलक ऐतिहासिक समालोचना—जब समालोचक कलाकार के व्यक्तित्व अर्थात् उसके जीवन की घटनाओं, विशेष परिस्थितियो, तज्जनित मानसिक अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए कलाकृति के वर्ण्य-विषय और भाव, शैली आदि की समीक्षा करता है तब वह चरितमूलक समीक्षा कहलाती है। फ्रायडवाद के अनुयायी अन्तर्वादी समालोचको की समीक्षाएँ इसी रूप मे प्रधानतया दृष्टिगोचर होती है। कवियो को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर, उन पर विचार करने का सर्वप्रथम वैज्ञानिक प्रयास श्री रामचन्द्र जी शुक्ल की समीक्षाओ में हुआ है।

तुलनात्मक समालोचना

जब आलोचक दो भिन्न कवियो की एक ही विषय की रचनाओ का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत करता है तब समालोचना तुलनात्मक कहलाती है। इस प्रकार की समालोचना का एक सर्वसाधारण तथा व्यापक नियम यह है कि तुलना उन्ही रचनाओं की की जाती है जो परस्पर तुलना के योग्य हो। तुलना करते हुए तुलनात्मक दृष्टि कवियो के वर्ण्य विषय, भाव, उद्देश्य तथा शैली सभी बातों पर रहनी आवश्यक है। यह तुलनात्मक समीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है—(क) एक ही कवि के कई ग्रन्थो में आए हुए एक ही विषय की परस्पर, (ख) एक ही कवि की विभिन्न रचनाओं में समता, विषमता व क्रम प्रदर्शित करने के उद्देश्य से, (ग) एक ही विषय के सम्बन्ध मे एक ही भाषा के अन्यान्य कवियो की रचनाओ में परस्पर साम्य व वैपम्य प्रकट करने के लिए, (घ) एक ही विपय के सम्बन्ध मे विभिन्न भाषाओ व देशों के अन्यान्य कवियों की रचनाओ मे एकता व पारस्परिक प्रभाव को सिद्ध करने के लिए।

सम्प्रदायों की दृष्टि से समीक्षा के प्रकार

आज समालोचना के क्षेत्र मे अनेक वादों का भी आधार लिया जा

रहा है, अतः वादों या सम्प्रदायो के आधार पर समालोचना-स्वरूप में अन्तर परिलक्षित होता है। इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिए समालोचना के अन्य प्रकार भी माने जा सकते है। यथा—

(१) नीतिवादी या समन्वयवादी (२) सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी (३) मनोविश्लेषणवादी या अन्तर्वादी (४) प्रगतिवादी या मार्क्सवादी।

नीतिवादी या समन्वयवादी समीक्षा-पद्धति

समालोचना अपने प्राचीन अर्थो मे दोष-दर्शन अथवा गुण-विवेचन तक ही सीमित रही है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे आज समालोचना के अर्थो मे पर्याप्त विकास हुआ है। आज केवल काव्य-तत्त्वो के आधार पर किए गए गुण-दोष-विवेचन को ही समालोचना नही कहा जाता। आज तो इसके तीन मुख्य अर्थ स्वीकार किये जाते है। विश्लेषण (Analysis), विवेचन (Interpretation) और निगमन (Induction)। हिन्दी मे इन तीनो अर्थो को लेकर समीक्षा की निश्चित पद्धति को जन्म देने का श्रेय श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल जी को है। शुक्ल जी ने व्याख्यात्मक समीक्षा के स्वरूप में मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैली का समावेश करके एक नवीन समन्वयात्मक पद्धति का शिलान्यास किया है। इसे ही समन्वयवादी या नीतिवादी समालोचना का नाम दिया जाता है। इसमें कवि की विशेषताओं का अन्वेषण और उसकी अन्त प्रकृति की छानबीन की जाती है और फिर इसी अन्वेषण के आधार पर साहित्यिक धारा में उसका स्थान भी नियत किया जाता है। इसमें लोक-रुचि का अधिक ध्यान रखा जाता है, अतएव समालोचक के व्यक्तित्व को विशेष महत्त्व प्रदान नही किया जाता। यही कारण है कि इस समीक्षा-पद्धति मे समालोचना के अन्य सब प्रकारो का सामंजस्य हो जाने पर भी प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा को कोई स्थान नही मिल सका है।

सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति

इस समीक्षा-पद्धति मे किसी प्राचीन काव्य-शास्त्र का आधार नही लिया जाता। इस पद्धति के प्रत्येक समालोचक ने अपनी-अपनी धारणा के अनुसार काव्य-स्वरूप की विवेचना की है। इस समीक्षा को छायावाद से प्रेरणा मिली है। शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति अर्थात् नीतिवादी या समन्वयवादी समीक्षा-पद्धति से छायावादी रचनाओ का मूल्याकन नही हो सकता था। शुक्ल जी की नीतिवादिता, लोक-कल्याण-भावना, प्रबन्ध-काव्य के प्रति रुचि छायावाद के अनुकूल नही है।

किसी शास्त्र-विशेष का आधार न लेने के कारण और अपनी वैयक्तिक अभिरुचि का विशेष आश्रय लेने के कारण इस प्रकार का समीक्षक स्वच्छन्दतावादी कहलाता है। सौष्ठव या सौन्दर्य-बोध को यह काव्य का विशेष प्रयोजन मानता है, अतएव यह सौष्ठववादी भी कहलाता है। इस प्रकार स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस समीक्षा के प्रधान तत्त्व है। इसमें कला-कृति की अपेक्षा कवि के व्यक्तित्व को अधिक महत्त्व दिया जाता है। आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता के साथ ही सौन्दर्यानुभूति इस सम्प्रदाय के अन्दर आवश्यक मानी गई है।

सौष्ठववादी रसात्मकता को ही काव्य की आत्मा मानता है। काव्य-सृजन द्वारा आत्म-प्रकाशन से आनन्दानुभूति प्राप्त करना ही कवि का उद्देश्य होता है। इसकी धारणा में कवि स्वान्त.सुखाय लिखता है। इसी लिए इस पद्धति का समालोचक कवि के व्यक्तित्व और उसकी परिस्थितियो का निरूपण आवश्यक समझता है। कलाकृति में वह अलंकार आदि तत्त्वो की अपेक्षा पाठक के हृदय को स्पर्श करने वाले तत्त्वों का प्रकाशन अधिक लाभप्रद समझता है। वह रचना में निहित सौन्दर्य को ही देखने का यत्न करता है।

इस पद्धति के जन्मदाता जयशंकर प्रसाद है। इस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा पाश्चात्य समीक्षकों का प्रभाव अधिक है। भारतीय रस-सम्प्रदाय

के अधिक समीप होने के कारण यह सम्प्रदाय सर्वथा अभारतीय नहीं हुआ है। इस सम्प्रदाय की समीक्षा अपने रूप में प्रभावाभिव्यंजक है। काव्य की परिभाषाएँ शास्त्रीय न होकर वैयक्तिक प्रभावों के ही आधार पर निर्मित हुई है।

मनोविश्लेषणवादी या अन्तर्वादी समीक्षा-पद्धति

इस पद्धति मे मानोविश्लेपण या मनोविज्ञान को आधार वनाया गया है, अतः यह मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-पद्धति कहलाती है। भारतीय समीक्षा-शास्त्र में कवि के व्यक्तित्व की उपेक्षा की गई है। वह प्रायः सैद्धान्तिक है, प्रयोगात्मक नही; अतएव कवि को समालोचना-क्षेत्र मे स्थान नही मिल सका है। रचना करते समय कवि के मन की स्थिति कैसी है और उसे सृजन की प्रेरणा कहाँ से मिली है इस विषय पर पश्चिम के समीक्षा-शास्त्र में विशेष रूप से विचार हुआ है। इसी विचार का परिणाम यह मनोविश्लेषणवादी पद्धति है। इसे अन्तर्वादी भी कहा जाता है क्योकि इसमे अन्तर्जगत् सम्बन्धी नये सिद्धान्तो का आधार लिया जाता है। इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति के आविर्भाव मे तीन मनोवैज्ञानिको का बहुत बड़ा योग है। उनके नाम है—फ्रायड, एडलर और युँग। इन सबमे फ्रायड का कला-सम्बन्धी सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण है। अब हम क्रमशः एक-एक की प्रमुख मान्यताओ पर सक्षेपतः विचार करते है।

फ्रायड की मान्यता के तीन प्रमुख आधार माने जाते हैं—१. दमन, २. काम-वासना और ५. उदात्तीकरण।

मानव अपनी अनैतिक अर्थात् समाज की दृष्टि से अनुचित इच्छाओ का दमन कर लेता है। वे उसके अचेतन मन के स्तर में दबी पडी रहती है और समय-समय पर अनुकूल स्थिति पाकर उभरने का यत्न करती रहती हैं। मनुष्य के चेतन मन पर इनका प्रभाव आशु गति से पडता है और मनुष्य इन दमित वासनाओ के वशीभूत होकर ही सब कार्य करने लगता है। इन दमित वासनाओं में सबसे प्रबल वासना फ्रायड की धारणा

के अनुसार काम-वासना है। यही काम-वासना मनुष्य के जीवन के प्रत्येक व्यापार को प्रेरणा प्रदान करती है। काव्य-सृजन के मूल में भी यही वासना निहित रहती है। हाँ, काव्य में इस वासना का उन्नयन या उदात्तीकरण हो जाता है। फ्रायड के इसी विचार के आधार पर यह समझा जाने लगा है कि जीवन की प्रेरक-शक्ति काम-वासना है और वही उदात्त एव परिष्कृत होकर काव्य-सृजन में प्रेरक बन जाती है। उदाहरण के रूप में यह कहा जाता है कि तुलसी का पत्नी-प्रेम उदात्त होकर रामभक्ति के रूप मे काव्य में प्रकट हुआ है।

दूसरे मनोवैज्ञानिक एडलर प्रभुत्व-कामना को विशेष महत्त्व देते है। उनका कथन है कि बचपन से ही मनुष्य के मन मे यह कामना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा देने लग जाती है। जब यह कामना पूर्ण नही होती तब प्रतिक्रियास्वरूप उसका स्थान हीनता की भावना ले लेती है। तब मनुष्य का सारा इतर जीवन इसी हीनता को दूर करने में लग जाता है। उसका सारा कार्य-कलाप इसी क्षति को पूरा करने में रत रहता है। काव्य भी इसी प्रकार का ही एक प्रयास है। उदाहरण के लिए यहाँ कबीर और जायसी को प्रस्तुत किया जाता है। कबीर की यह उक्ति 'तू काशी का बाम्हन और मै काशी का जुलाहा' इसी क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त को स्पष्ट करती है। इसी प्रकार जायसी की 'चाँद जैस जग विधि औतारा दीन कलंक कीन्ह उजियारा' उक्ति में उनकी कुरूपता के कारण उत्पन्न हीनता की भावना झाँकती प्रतीत होती है। इस प्रकार मनोविश्लेषणवादी पद्धति में कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण विशेष महत्त्व प्राप्त कर लेता है।

तीसरे मनोवैज्ञानिक युंग काम-वासना और प्रभुत्व-कामना दोनों को जीवन-धारा के दो पहलू मानते हैं और जीवनेच्छा को जीवन की प्रधान प्रेरक शक्ति मानते है। मानव जीवित रहने की प्रबल आकाँक्षा से प्रेरित होकर ही साहित्य का सृजन करता है। यह जीवनेच्छा दो भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। इन्ही के आधार पर युंग ने दो प्रकार के व्यक्ति माने है—१-अन्तर्मुखी और २-बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी व्यक्ति में प्रभुत्व-कामना

प्रधान होती है। ऐसा कवि व्यक्ति-प्रधान रचना करता है। छायावादी व मुक्तक कवि इसके उदाहरण हैं। बहिर्मुखी कवि में काम-वासना प्रधान रहती है और वह विषय-प्रधान रचना करता है। तुलसीदास आदि प्रबन्ध काव्य के निर्माता कवि इसके उदाहरण हैं।

प्रस्तुत पद्धति में सौष्ठववादियों की भाँति काव्य को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति माना जाता है। इसमें काव्य-कला और स्वप्न को समान समझा जाता है। मनोविश्लेषणवादी समीक्षक की दृष्टि में काव्य का चरम लक्ष्य सौन्दर्य-बोध तथा तज्जन्य आनन्दानुभूति ही है। इस आनन्द के अतिरिक्त अन्य कोई नीति सम्बन्धी प्रयोजन इसकी दृष्टि मे नही आता। इस सम्प्रदाय में मनोवैज्ञानिक अथवा चरितमूलक समीक्षा-शैली को अपनाया जाता है। इस पद्धति के प्रचार का आधुनिक साहित्यिक रचनाओं पर पर्याप्त प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है। विशेषतया कहानी, उपन्यास आदि रूपों में इसका प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। पात्रों के व्यक्तित्व-निर्माण में अश्लीलता का प्रवेश भी इसी पद्धति का प्रभाव कहा जा सकता है। इलाचन्द्र जोशी, श्री अज्ञेय आदि समालोचक इस पद्धति के समर्थक कहे जाते हैं।

प्रगतिवादी या मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति

अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में जो मार्क्सवादी धारणाएँ प्रच-लित हुई है उन्ही को जब साहित्यिक विवेचना का भी आधार बनाया गया तो प्रगतिवादी या मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति का आविर्भाव हुआ। मार्क्स-वादी दर्शन के अनुसार मानव के सारे चिन्तन, उसकी सारी विधाएँ-उप-विधाएँ, उसके सब दर्शन-शास्त्र परिस्थितियो की उपज होते है। साहित्य भी इसका अपवाद नही हो सकता क्योकि साहित्यकार अपने पार्श्ववर्ती समाज का अग है, वह स्वतन्त्र नही है। उसके व्यक्तित्व का निर्माण समाज की भावनाओ, युगव्यापी चेतना के द्वारा ही हुआ है। साहित्य अपने युग की भावनाओ से रहित नही हो सकता। व्यक्ति की स्वच्छन्दता को

इस धारणा में कोई स्थान नही। व्यक्ति समाज-निरपेक्ष नही हो सकता। भौतिक परिस्थितियाँ ही कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण करती है, यह इस धारणा का मूल आधार है।

समाज-सगठन का वास्तविक आधार, प्रगतिवादी धारणा में, आर्थिक व्यवस्था ही है। इस व्यवस्था की विषमता वर्गवाद, वर्गसघर्ष को जन्म देती है। वर्गवादी समाज में लिखित साहित्य वर्गवादी ही होगा, अत वह उत्कृष्ट साहित्य न होगा। वर्गहीन समाज मे ही वर्गहीन साहित्य की सृष्टि हो सकती है। इस वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए साहित्य को साधन रूप में देखना प्रगतिवादी का प्रमुख कार्य है। यही कारण है कि इस पद्धति मे आनन्द को काव्य का लक्ष्य नही माना जाता अपितु उसको केवल साधन के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। प्रगतिवादी समीक्षक की दृष्टि में काव्य मानव को भौतिक विकास की प्रबल प्रेरणा देता है। वह उसमे क्रान्ति और नवनिर्माण की बुद्धि जागरित कर देता है। प्रगतिवादी को सौष्ठववादियो की रसानुभूति से सन्तोष नही। वह तो उसे बौद्धिक ज्ञान का पथ-प्रदर्शक बना देना चाहता है। वाह्य परि-स्थितियों को विशेष महत्त्व देने के कारण इस पद्धति में ऐतिहासिक समीक्षा-शैली को विशेष स्थान प्राप्त हो गया है।

हिन्दी-समालोचना का विकास-क्रम

हिन्दी साहित्य में आलोचना का प्रादुर्भाव गद्य के विकास के साथ अर्थात् आधुनिक काल में दृष्टिगोचर होता है। रीतिकाल में कुछ आचार्य कवियों ने काव्य के स्वरूप आदि पर विचार अवश्य किया है। परन्तु यह सब प्राचीन सस्कृत काव्य-शास्त्रों का अनुकरणमात्र है। आधुनिक हिन्दी आलोचना ने प्राचीन सस्कृत आलोचना-पद्धति से बहुत कम अश ग्रहण किया है। सस्कृत साहित्य में आलोचना से अर्थ भी दूसरा ही ग्रहण किया जाता था। वहाँ तो आलोचना से उस ज्ञान या भाव को ग्रहण किया जाता था जिसकी सहायता से आलोच्य ग्रन्थ का उचित ज्ञान प्राप्त किया

जा सके । यही कारण है कि वहाँ आलोचना टीका, शास्त्रार्थ, सूक्ति, खण्डन, लोचन किंवा आचार्य पद्धतियों तक ही सीमित रही । आलोचना के क्षेत्र मे व्यापक अर्थ का समावेश न हुआ । यह तो तब हुआ जब कि अग्रेज भारत मे आए । अग्रेजो के भारत में आने के पश्चात् परिस्थितियाँ बदली और इस जाति का बहुमुखी प्रभाव भारत पर पड़ा । हमारा साहित्य भी इससे प्रभावित हुआ । फलतः साहित्य का नए ढंग, नए आदर्श पर निर्माण होने लगा । हिन्दी साहित्य मे आमूलचूल परिवर्तन होने लगे । गद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली को स्थान मिला और धीरे-धीरे पद्य के क्षेत्र में भी इसी भाषा का एकच्छत्र राज्य स्थापित होने लगा । समालोचना साहित्य का विकास भी इसी नवीन परिस्थिति मे हुआ । इस प्रारम्भिक काल में भारतेंन्दु हरिश्चन्द्र का ही सर्वतोमुखी प्रभाव था । 'कवि-वचन-सुधा' आदि पत्रिकाओ के द्वारा उन्होने आधुनिक समालोचना-साहित्य की नीव भी रखी । भारतेन्दु काल में बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट आदि ने जो प्रयोगात्मक समालोचना लिखी उसका कोई विशेष महत्त्व नही । इन समालोचनाओ के मूल मे कोई स्थिर एवं सुनिश्चित सिद्धान्त नही थे । कविता, नाटक, उपन्यास आदि विविध काव्य-रूपो के सम्बन्ध में अभी तक कोई कसौटी निर्धारित नही हो सकी थी । अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप ये समालोचक आलोच्य रचना की विवेचना करने में संलग्न रहे । इनकी समालोचना में पुरातन परिपाटी के अनुरूप ही गुण-दोष-दर्शन के आधार पर निर्णय देने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है । सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से भारतेन्दुकाल का समालोचना साहित्य प्रायः अस्पष्ट, धुँधला, अविकसित रूप में ही है । फिर भी इस काल की पत्रिकाओं में जो थोड़े-बहुत समालोचनात्मक लेख निकलते रहे हैं उनसे साहित्य के पाश्चात्य सिद्धान्तों का सकेत अवश्य मिलता है । यह स्पष्ट झलकता है कि साहित्य-निर्माण में भारतीय लेखकों की प्रवृत्ति पाश्चात्य काव्य-दर्शन की ओर है, संस्कृत के काव्य-शास्त्रों की ओर उनकी प्रवृत्ति मन्द पड़ती जा रही है ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित होकर समालोचना साहित्य के समुचित विकास का मार्ग खोला। यह कहा जाता है कि द्विवेदी जी के आगमन से पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के तत्त्वों के स्वच्छन्द उपयोग का युग प्रारम्भ हो जाता है, अर्थात् भारतेन्दुकाल में पाश्चात्य साहित्य-दर्शन की ओर उन्मुख होने की जो प्रवृत्ति अस्पष्ट एवं धुँधली दिखाई पडती थी वह अब द्विवेदीकाल में आकर पूर्ण स्पष्ट होने लगी। अब साहित्य-निर्माण मे हमारे लेखक पश्चिम के काव्य-विवेचन को अपना आदर्श बनाते थे और इसी प्रकार काव्य-विवेचक भी अपनी विवेचना का आधार पश्चिम के काव्य-सिद्धान्तो को ही स्वीकार कर रहे थे। फिर भी अभी तक संस्कृत काव्य-शास्त्र का मोह सर्वथा लुप्त नहीं हुआ था। द्विवेदीकाल के विवेचकों पर प्राचीन काव्य-शास्त्र का अस्पष्ट प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है। यही कारण है कि इस काल में किसी हिन्दी-समीक्षा-शास्त्र का निर्माण नही हुआ। समय-समय पर प्रसंगवश साहित्य सम्बन्धी विषयों पर विचार अवश्य प्रकट होते रहे परन्तु नियमित रूप से काव्य-समीक्षा-शास्त्रों का निर्माण द्विवेदीकाल में न हो सका।

द्विवेदी जी के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास आदि ने काव्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादन का कार्य अपने हाथमें लिया। दोनों में भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों के समन्वय की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। आचार्य शुक्ल इस समन्वय में अधिक सफल रहे हैं। श्यामसुन्दरदास जी दोनों में यथेष्ट मात्रा में सामंजस्य स्थापित नही कर सके। उनके विवेचन में दोनों ही सिद्धान्त पृथक्-पृथक् झलकते दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों साहित्य-महारथियो के अथक प्रयास से हिन्दी में समालोचना के सिद्धान्तों पर स्वतन्त्र रूप से विचार प्रारम्भ हुआ। शुक्ल जी का अधिकतर प्रयास प्रयोगात्मक ही रहा। इस दृष्टि से श्यामसुन्दरदास जी का महत्त्व अधिक है। सैद्धान्तिक निरूपण की स्वतन्त्र प्रवृत्ति श्यामसुन्दरदास जी में अधिक परिलक्षित होती है। भारतीय सिद्धान्तों को पाश्चात्य सिद्धान्तों के तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों को भारतीय धारणाओं के प्रकाश

में रख काव्य-स्वरूप के निर्धारण की प्रवृत्ति शुक्ल जी की महत्त्वपूर्ण देन है। आज इसी प्रवृत्ति को ग्रहण करके बाबू गुलाबराय जी भी सैद्धान्तिक विवेचन में संलग्न हैं।

शुक्ल जी के पश्चात् जयशंकर प्रसाद जी ने भी काव्य-स्वरूप का विवेचन किया है। पश्चिम के प्रभाव को ग्रहण करके भी ये भारतीय रहे हैं। स्वच्छन्द व्यक्तित्व पर अधिक ध्यान देने के कारण इनकी समीक्षा-पद्धति स्वच्छन्दतावादी कहलाने लगी है। प्रसाद जी को सौष्ठववादी समीक्षा का प्रवर्त्तक कहा जाता है। इस आलोचना-प्रकार का वास्तविक प्रारम्भ 'इन्दु' के सम्पादकीय लेखों से ही हो जाता है। इनके ही अनुकरण पर पंत, निराला आदि छायावादी कवियों ने भी अपने साहित्य सम्बन्धी विचार प्रकट किये। इसी काल में नन्ददुलारे वाजपेयी के 'हिन्दी साहित्य: बीसवी शताब्दी,' तथा 'आधुनिक साहित्य' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं जिनमें समालोचना के सिद्धान्तों का प्रसंगवश विवेचन हो गया है। इसी प्रकार श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी भी समालोचना साहित्य के समुचित विकास में पूर्ण योग प्रदान कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण सुधांशु की 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक पुस्तकें सैद्धान्तिक विवेचन से सम्बन्ध रखती हैं। आज पं० रामदहिन मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार, रामकुमार वर्मा, बाबू गुलाबराय आदि महानुभाव साहित्य के विभिन्न अंगों का विस्तारपूर्वक विवेचन कर रहे हैं।

प्रयोगात्मक समीक्षा की दृष्टि से श्री डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र, विश्वम्भर मानव, डा० रामरतन भटनागर आदि महानुभावों का प्रयास विशेष उल्लेखनीय है। ये लोग भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का समन्वय करके साहित्यिक रचनाओं की समीक्षा कर रहे हैं। समीक्षा-सिद्धान्तों के निरूपण में प्रगतिवादी समालोचक भी पूरा सहयोग दे रहे हैं।

सैद्धान्तिक विवेचन के आधार पर आधुनिक समालोचना के क्षेत्र को चार भागों में बाँटा जा सकता है। कुछ विचारक आचार्य शुक्ल जी की

धारणाग्रो का अनुसरण करते दृष्टिगोचर होते है। ये लोग काव्य को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं और वाह्य जीवन को ही उसका प्रेरक स्वीकार करते है। काव्य का उद्देश्य शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना है अर्थात् हृदय को अपने सुख-दुःख, हानि-लाभ, योग-क्षेम से मुक्त करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि से मनुष्य की मनोवृत्तियो का परिष्कार हो जाता है और मानव मानवता की उच्चभूमि की ओर अग्रसर होने लगता है। प्रयोगात्मक समीक्षा में ये लोग व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक शैलियों का समन्वय करते है। शुक्ल-पद्धति के प्रधान समालोचकों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० कृष्णशकर शुक्ल, डा० रमाशकर शुक्ल 'रसाल' आदि है।

दूसरे भाग में प्रसाद जी के अनुयायी-वर्ग को लिया जा सकता है। ये लोग काव्य को कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते है और सौन्दर्यानुभूति वा आनन्दानुभूति को एकमात्र काव्य का प्रयोजन समझते हैं। प्रयोगात्मक समीक्षा मे ये प्रभावाभिव्यजक समीक्षा को अपनाते है। इस पद्धति के प्रधान समालोचक सुमित्रानन्दन पत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि हैं।

तीसरा भाग मनोविश्लेषणवादियों का है। ये लोग भी काव्य को कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते है परन्तु काव्य की प्रेरणा में मनोवृत्तियो की परितृप्ति को स्थान देते है। प्रयोगात्मक समीक्षा में ये चरित्रमूलक ऐतिहासिक शैली को अपनाते है। इस पद्धति के प्रधान समालोचक श्री इलाचन्द्र जोशी तथा श्री अज्ञेय जी कहे जा सकते है।

चौथे भाग में प्रगतिवादी समालोचक आते है। ये काव्य को जगत् की अभिव्यक्ति मानते है और प्रेरणा में युग-भावना को स्थान देते है। इनकी दृष्टि में काव्य का उद्देश्य भौतिक विकास में सहयोग देना है। प्रयोगात्मक समीक्षा में ये शुद्ध ऐतिहासिक शैली का आश्रय लेते हैं। प्रगतिवादी समालोचकों में शिवदानसिह चौहान, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे तथा रामविलास शर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

साहित्य

साहित्य की परिभाषा

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति

साहित्य शब्द अंग्रेजी के लिट्रेचर (Literature) शब्द का पर्याय है परन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से इन दोनों में मूलगत अन्तर है। लिट्रेचर शब्द लैटर (Letter—अक्षर) शब्द से निर्मित हुआ है। स्पष्ट ही लिट्रेचर शब्द की इस बनावट के अनुसार 'लैटरज़ (अक्षरो) का समस्त विस्तार' लिट्रेचर है। इसकी तुलना में 'साहित्य' शब्द का विग्रह होगा 'सहितस्य भावः साहित्यम्', अर्थात् सहित होने का भाव साहित्य है। 'स-हित' शब्द के पुनः दो अर्थ हो सकते है—१. सह (साथ) होना और २. स-हित होना, अर्थात् हित के साथ होना। यदि हम सहित शब्द से 'साथ होने' का भाव लें तो साहित्य से अभिप्राय होगा 'जहाँ शब्द-अर्थ, विचार-भाव और अनुमान-कल्पना परस्पर सह-भावसे स्थित हैं।' साहित्य की यही व्याख्या अधिक मान्य है। कविवर रवीन्द्र ठाकुर ने भी साहित्य की कुछ इसी प्रकार व्याख्या दी थी—"सहित शब्द से साहित्य में मिलने (अर्थात् एक-साथ होने) का भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरङ्ग मिलन भी है जो कि साहित्य के अतिरिक्त अन्य से सम्भव नही है।"

यदि हम सहित शब्द से 'स-हित' अर्थ लें तो साहित्य से अभिप्राय होगा कि जिससे मानव-हित का सम्पादन हो। इस प्रकार की व्युत्पत्ति मानने से साहित्य के तीन आदर्शो—सत्यं, शिवं, सुन्दरम्—में से साहित्य

में शिवम् आदर्श का विशेष रूप से समावेश हो जाता है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति यथार्थवादियों को प्राय: मान्य नही होती।

साहित्य का व्यापक अर्थ

मानव की विचारशीलता और संवेदनशीलता, तर्क और अनुभूति के सम्मिलन से ही साहित्य की सृष्टि होती है। जब इस धरातल पर आदि-मानव ने जन्म लिया और पार्श्ववर्ती प्रकृति का उसने अवलोकन किया तभी उसमें सुख-दु ख की अनुभूति भी उत्पन्न हुई। सुख-दु:खात्मक मूल अनुभूतियो से तथा प्राकृतिक पदार्थों के ज्ञान से उसमें विविध मनोवृत्तियाँ संचरित होने लगी। इन मनोवृत्तियों के प्रकाशन के लिए आदि-मानव ने विविध चेष्टाएँ की। उन्हीं चेष्टाओं का यह परिणाम था कि उसने अपनी वाक्-शक्ति से भी काम लिया। मानव ने अपनी वाणी से जो शब्द-विधान किया वही व्यापक अर्थ में साहित्य कहलाया। इसीलिए साहित्य का प्राचीन नाम वाङ्मय (वाक्+मय) है। यही शब्द-विधान धीरे-धीरे लिपि-संकेतो में बद्ध होने लगा। आज मनुष्य का सम्पूर्ण चिन्तन—चाहे उसका जीवन के किसी भी क्षेत्र से सम्बन्ध हो—लिपि-बद्ध होकर साहित्य नाम से अभिहित हो सकता है। मनुष्य ने आदिकाल से लेकर आज तक अपने चिरन्तन, दीर्घकालीन जीवन में जो देखा-सुना है, जो अनुभव किया है, अपने वा अपने पार्श्ववर्ती समाज के हित के लिए जो मनन किया है, उन सब विचारों वा अनुभूतियों का साहित्य एक महत्त्वपूर्ण लेखा है। संक्षेप में साहित्य भाषा के माध्यम से मूल रूप में जीवन का प्रकाशन है। साहित्य की इस व्यापक परिभाषा में विज्ञान, इतिहास, भूगोल, गणित, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, अध्यात्म व दर्शन सम्बन्धी समस्त ग्रन्थों का परिग्रहण किया जा सकता है। वाणिज्य-व्यवसाय से सम्बद्ध विज्ञप्तियों, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक संस्थाओं के विविध विवरणों वा सूचनाओं को भी इसी साहित्य शब्द से अभिहित किया जा सकेगा।

साहित्य का संकुचित अर्थ

साहित्य अपने संकुचित अर्थ में 'काव्य'* शब्द का पर्याय है। इस संकुचित परिधि में केवल उन ग्रन्थों का ही परिगणन हो सकता है जो अपने वर्ण्य विषय और वर्णन-प्रणाली के द्वारा सर्वसाधारण के मनोरंजन के लिए प्रणीत हुए हों, जिनमें मनुष्य का दर्शन, चिन्तन वा मनन भावना को माध्यम बनाकर प्रकट हो, जिनमें ज्ञान और कला, बुद्धि और हृदय का परस्पर सम्मिलन हो, जिनमें हित और आनन्द का विलक्षण संयोग हो। इस अर्थ में साहित्य मानव के अन्तर्जगत् का कलात्मक लेखा-जोखा है, वाह्य जगत् के प्रति उसकी प्रतिक्रिया की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है।

मानव जब प्रकृति की गोद में जन्म लेता है और उसके द्वारा पालित-पोषित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है तब उसके मन में सहज ही उसके विषय में एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगती है। यह प्रतिक्रिया दो रूपों में अभिव्यक्त होती है। एक रूप में वह दर्शन-शास्त्र का विषय बन जाती है जबकि इसका आधार बुद्धि होता है। इस रूप में आश्चर्यमयी प्रकृति मानव के ज्ञान-केन्द्र को आन्दोलित करती है। वह यह सोचने लगता है कि इस सृष्टि का निर्माता या नियन्ता कौन है? उसका स्वरूप कैसा है? उसका अधिवास कहाँ है? मेरी इस सृष्टि में क्या स्थिति है? मुझमें और इस जड़ प्रकृति में क्या अन्तर है? इस प्रकार के अनेकानेक प्रश्न उसे गम्भीर बौद्धिक चिन्तन में, तात्त्विक विश्लेषण में प्रवृत्त कर देते हैं। जब वह अवलोकन करता है कि यह प्रकृति उसके जीवन में बड़ा उपयोगी कार्य करती है, उसका जीवन इसी पर निर्भर है तब वह उसके वास्तविक स्वरूप को चीन्हने में प्रवृत्त हो जाता है। उसकी ज्ञान-मूलक प्रवृत्ति दर्शन-शास्त्र का निर्माण करने लगती है। इसके विपरीत एक स्थिति वह आती है जबकि मानव केवल बुद्धि से काम न लेकर हृदय को प्रधानता दे देता है। इस समय जबकि वह प्रकृति के उपयोगी रूप को क्षणभर के लिए ओझल कर देता है और केवल

*"वाक्य रसात्मकं काव्यम्" के अर्थ में।

सौन्दर्य की झलक को अपने अनुभूति-क्षेत्र में प्रतिफलित पाता है तब वह भावना-लहरियों से भर जाता है, वह उसकी ओर लपकने लगता है, उसे ललचाई आँखो से देखने लगता है। उस अवस्था में कभी वह उसे अपनी चिर-सहचरी कहकर पुकारता है, कभी उसे माता, कभी उसे अनिन्द्य सुन्दरी और कभी पगली के रूप में सम्बोधित करता है। प्रकृति का प्रत्येक व्यापार उसके हृदय को डुला देता है, उसे सक्रिय बना देता है। चन्द्रग्रहण की बेला में जब वह प्रकृति के दर्शन करता है तब उसे अपनी प्रिया का ध्यान आने लगता है। वह सोचता है कि उसकी प्रिया भी तो चन्द्र के समान सुन्दर है। यदि इस पूर्णचन्द्र को राहु ग्रस सकता है तो मेरी प्रिया के मुख को वह कब छोड़ेगा। वह अपनी प्रिया की सुरक्षा की भावना से चिल्ला उठता है :—

> **प्रविश ! प्रविश ! गेहे मा वहिस्तिष्ठ कान्ते !**
> **ग्रहणसमयवेला वर्तते शीतरश्मेः ।**
> **तव मुखमकलंकं वीक्ष्य नूनं स राहुः**
> **ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय ॥**

यही चिल्लाहट साहित्य का सृजन करती है। मानव जब कभी रात के समय आकाश में चमकते तारा-समूह को देखता है, उसका हृदय इस तारकित नभ को देखकर पुलकित हो उठता है। इस पुलकित अवस्था में उसका भावना-केन्द्र तरल होकर प्रवाहित होने लगता है। इसी मानसिक तरलता में वह कह उठता है कि यह तो कोई पगली जा रही है जिसके आँचल से गिरकर ये मोती बिखरे पडे हैं। वह बेचारी बेसुध है, उसे इतनी सुध-बुध कहाँ है कि इन्हें जरा सँभाल तो ले। वह उसके प्रति सहानुभूति से भरित हो पुकारकर कहता है—

> **पगली, हाँ, सँभाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल।**
> **देख बिखरती है मणिराजि, अरी, उठा बेसुध चंचल ॥**

मानव की यही मानसिक प्रतिक्रिया ही साहित्य है। मानव का बौद्धिक चिन्तन उसे दर्शन-शास्त्र की तर्कमयी भाषा में बोलने की शक्ति प्रदान

करता है। उसका मानसिक चिन्तन उसे भावमयी साहित्यिक भाषा में गुंजार करने की प्रेरणा देता है।

जड़ प्रकृति के इस भावमय दर्शन के अतिरिक्त जब मानव अपने सदृश सजीव एवं सचेतन सृष्टि पर ध्यान देता है तब भी उक्त दोनों ही रूपों में प्रतिक्रिया उसके अन्तःकरण में प्रादुर्भूत होती है। जब वह अपने सदृश इतर मानव-वर्ग को जीवन के विविध व्यापारों को करते देखता है तब वह सोचने लगता है कि उसमें और मुझमें क्या अन्तर है ? क्या हम दोनो एक ही है या भिन्न-भिन्न हैं। कभी वह दोनों में एकरूपता स्थापित करता है। कभी अपनी सत्ता को भिन्न समझने लगता है। यह द्वैत-अद्वैत चिन्तन बौद्धिक प्रक्रिया है, अध्यात्म-चिन्तन की भूमिका है। कभी उसमें सामाजिक चिन्तन बढने लगता है। वह अन्य मानव को जीवन में सहायक रूप में उपयोगी समझने लगता है और उसके साथ विविध प्रकार के व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। कभी उसे विरोधी रूप में अनुपयोगी समझकर उससे अपने बचाव का उपाय करता है। यह सब उसका बौद्धिक चिन्तन है। इस चिन्तन के आधार पर वह अपने अनेक शास्त्रों की रचना कर लेता है। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, गणित, भूगोल आदि अनेक शास्त्र इसी शुद्ध बौद्धिक चिन्तन के परिणाम हैं।

नरजीवन के इस व्यापक क्षेत्र के प्रति मानव की भावमयी मानसिक प्रतिक्रिया ज्ञानमूलक प्रतिक्रिया से भिन्न प्रकार की होती है। वह अपने जैसे चेतन व्यक्ति को देखछर उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, उसे सदा अपने समीप देखना चाहता है, उसके अभाव में छटपटाता है, पर्याप्त समय उसके आने की प्रतीक्षा में व्यतीत कर देता है। किसी व्यक्ति को देखकर वह क्षुब्ध होता है, बौखला उठता है, उसे वह अपनी आँखों के आगे से परे सरका देना चाहता है, वह उससे दूर भागता है, उसकी हानि में अपनी शक्ति लगा देना चाहता है। यही प्रतिक्रिया जब शब्दों का परिधान पहनकर बाहर निकलने लगती है तो वह साहित्य का

रूप धारण कर लेती है। इस प्रतिक्रिया में बौद्धिक चिन्तन की घनता नही रहती, उपयोगिता-अनुपयोगिता, शिष्टता-अशिष्टता, लाभ-हानि किसी का भी ध्यान नही रहता। यह तो शुद्ध भावात्मक होती है। रामायण के स्वयंवर प्रसंग में जब सीता राम को धनुष तोड़ने के लिए रगमंच की ओर जाते देखती है तो उसका भावना-केन्द्र डोल जाता है, उसमें लहरियाँ उठने लगती हैं। उस समय सीता तर्क-वितर्क नही करती, वह लाभ-हानि पर विचार नहीं करती, उचित-अनुचित का भी ध्यान नहीं करती। वह तो पिता को ही बुरा-भला कहने लगती है। यही प्रतिक्रिया साहित्य का सृजन करती है। तुलसी के शब्दों में वह पिता को यों कोसने लगती है— 'अहह तात ! दारुण हठ ठानी। समुझत नही कछु लाभ न हानी॥' सीता को यह भी ध्यान नही रहता कि धनुष तो जड़ है, उसमें सुनने की, सहानुभूति करने की शक्ति नही, फिर भी वह उसे निवेदन करने लगती है 'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी॥' सीता जी की इस प्रतिक्रिया मे तर्क-वितर्क का, ऊहापोह का कहाँ स्थान है ? बस इसी प्रकार की प्रतिक्रिया जिस शब्दावली में प्रकट होती है उसे साहित्य का नाम दिया जाता है। हडसन महोदय का यह कथन कि 'साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है' दूसरे शब्दों में उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि करता है।

साहित्य के मूल में प्रेरक भाव

इस साहित्य के मूल में प्रेरणा के रूप में मानव की मनोवृत्तियाँ रहती हैं। इनमें से सबसे प्रथम है 'आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति'। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, परिणामतः वह अपनी अनुभूतियों, विचारो, उमंगों वृत्तान्तों को अपने आस-पास रहने वाले जन-समुदाय से छिपाकर नही रह सकता। जब तक वह इन्हे प्रकट नहीं कर लेता तब तक उसको सन्तोष नहीं होता। वह उन्हें सबके सामने प्रकट करके ही आत्म-सन्तुष्टि अनुभव करता है। साहित्य के मूल में यही आत्म-प्रकाशन की मनोवृत्ति प्रेरक

रूप में दृष्टिगोचर होती है। साहित्य के विभिन्न रूप इसी वृत्ति को सन्तुष्ट करने के उपायो का सकेत करते है।

आत्म-प्रकाशन के अतिरिक्त साहित्य-निर्माण में दूसरी मनोवृत्ति पार्श्ववर्ती जन-समुदाय के प्रति मानव की सहज स्वाभाविक रुचि है। मानव स्वभाव से ही अपने सम्बन्धियों, पड़ोसियों, बन्धु-बान्धवों, देशवासियों के जीवन में विशेष रुचि रखता है। वह कभी-कभी अपने आपे को भूल जाता है, उसे केवल दूसरों के आपे को जानने की ही प्रबल अभिलाषा रहती है। वह अपने पार्श्ववर्ती जन-समुदाय पर, उसके क्रिया-कलाप पर गहरी दृष्टि डालता है। उसकी अनुभूतियों की परिधि का विस्तार इसी अभिलाषा का परिणाम कहा जा सकता है। वह मानों अपने आपे को अधिक व्यापक बना लेना चाहता है। इसी व्यापकता में उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दूसरो के जीवन सम्बन्धी व्यापारों में रुचि रखने का परिणाम यह होता है कि वह इन अनुभूतियों को भी आत्मा का अंग बना लेता है। आत्म-प्रकाशन की मनोवृत्ति उसमें रहती ही है। अब वह उसकी प्रेरणा से उन अंगीकृत अनुभूतियों को साहित्य के रूप में प्रकाशित करने लगता है।

मानव के आस-पास जन-समुदाय के अतिरिक्त प्राकृतिक जगत् की भी सत्ता रहती है। वह इसके प्रति भी रागात्मकता अनुभव करता है। प्राकृतिक जगत् भी उसे कभी लुब्ध या क्षुब्ध बना देता है। उसकी आत्मा की परिधि में और अधिक विस्तार हो जाता है। यह प्राकृतिक जगत् भी उसके अपने जीवन का एक अंग बन जाता है। अपने अंगों की उपेक्षा मानव नही कर पाता। वह इसके प्रति होने वाली अपनी सहज मानसिक प्रतिक्रिया को भी अपने संकुचित क्षेत्र में बाँधकर नही रख सकता। आत्म-प्रकाशन की सहज वृत्ति इसे यहाँ फिर उकसाती है और वह प्राकृतिक जगत् को आत्मवत् समझकर इसे प्रकाशित करने के लिए शब्द-विधान करने लगता है। इस प्रकार प्राकृतिक जगत् के प्रति मानव की रुचि साहित्य-निर्माण में सहायक बन जाती है।

इस प्राकृतिक यथार्थ जगत् के अतिरिक्त मानव का एक काल्पनिक जगत् भी होता है। इस जगत् का निर्माण वह स्वयं करता है। इसकी सृष्टि वह अपने अन्तःकरण में कर लेता है। प्रत्यक्ष जगत् के सहारे वह अनुमान द्वारा एक ऐसा जगत् बना लेता है जो उसे प्रिय प्रतीत होता है। धर्म, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक, परमात्मा—ये इसी काल्पनिक जगत् के तत्त्व हैं। ये भी मानव के अन्तस्तल को आन्दोलित करते रहते हैं। इनके प्रति भी वह स्वभाव से ही मुग्ध अथवा क्रुद्ध होता रहता है। यह प्रतिक्रिया भी उसकी आत्मा में तरलता उत्पन्न कर देती है। यही तरलता शब्दों की प्रणाली से बाहर प्रवाहित हो प्रकट होने लगती है। साहित्य के निर्माण में प्रेरणा के रूप में इसकी भी अपनी उपयोगिता सर्वविदित है।

सौन्दर्य के प्रति मानव की रुचि चिरन्तन है। मनुष्य अपने चारों ओर की वस्तुओं को सुन्दर देखना चाहता है। मानव के विकास में इस रुचि की बड़ी उपयोगिता है। मनुष्य के सांस्कृतिक विकास में, लौकिक विभूतियों की समृद्धि में इस रुचि ने पूरा सहयोग दिया है। यहाँ तक कहा जाता है कि आज मानव यदि मननशील है, उन्नत है, सभ्य है तो केवल इसीलिए कि वह सौन्दर्य के प्रति आसक्ति रखता है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसी रुचि का दर्शन किया जा सकता है। साहित्य के मूल में भी इस रुचि का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार साहित्य के मूल में चार मनोवृत्तियाँ प्रेरक रूप में विद्यमान रहती हैं—(१) आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति, (२) पार्श्ववर्ती जनसमुदाय में और उनके कार्यों में मानव की सहज स्वाभाविक रुचि, (३) वास्तविक प्राकृतिक जगत् और काल्पनिक जगत् के प्रति मानव की रुचि और (४) रचना-सौन्दर्य के प्रति आसक्ति।

केवल आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा से जो साहित्य निर्मित होगा उसमें साक्षात् लेखक के अपने विचार तथा अनुभूतियाँ होंगी। पार्श्ववर्ती जन-समुदाय में रुचि के कारण जो साहित्य निर्मित होगा उसमें मानव-जीवन के कार्य-कलापों का प्रदर्शन होगा। इसे मानव-जीवन का अभिनय भी

कहा जा सकता है। तीसरी मनोवृत्ति से जिस साहित्य की सृष्टि होगी उसके द्वारा दृष्ट या कल्पनाप्रसूत वस्तुओं का वर्णन प्रस्तुत किया जायगा। एक प्रकार से यह विवरणात्मक साहित्य होगा। सौन्दर्यासक्ति की प्रेरणा से जब साहित्य निर्मित होगा तब वह कलात्मक होगा। उसमें मानव की अनुभूतियों, विचारों, दृष्ट वा कल्पित पदार्थों को सौन्दर्यमय रूप प्रदान करने का यत्न आधार रूप से विद्यमान रहेगा।

अन्तिम मनोवृत्ति तो प्रत्येक प्रकार के साहित्य के मूल में स्वीकार की जाती है। साहित्य का वर्गीकरण करने के लिए अन्य तीन मनोवृत्तियाँ ग्रहण की जा सकती हैं। वस्तुतः साहित्य के मूल में एक ही भावना रहती है। वह है जीवन की अभिव्यक्ति। जीवन की अभिव्यक्ति ही साहित्य का निर्माण कर देती है। उल्लिखित वृत्तियाँ अन्त में 'जीवन' में ही समाविष्ट हो जाती हैं। जीवन में मानव जो कुछ स्वयं देखता या सुनता है उसी की अभिव्यक्ति की प्रेरणा ही उसे साहित्य के निर्माण में प्रवृत्त करती है। इस प्रकार साहित्य के मूल में एक ही प्रवृत्ति के सिद्ध हो जाने से साहित्य के सब रूप वस्तुतः एक ही होंगे और परस्पर पृथक् प्रतीत नहीं होंगे। फिर भी किसी एक प्रवृत्ति का किसी रूप-विशेष में प्राधान्य पाकर पृथक् वर्ग की कल्पना भी की जा सकती है। वर्गीकरण के आधार के लिए उल्लिखित वृत्तियों का सहारा लिया जा सकता है।

साहित्य के प्रति मानव की रुचि का कारण

जिस प्रकार साहित्य के निर्माण में उल्लिखित वृत्तियाँ प्रेरणा उत्पन्न करती हैं ठीक उसी प्रकार उसके पठन-श्रवण आदि के प्रति रुचि भी इन वृत्तियों के कारण से ही मानी जा सकती है। साहित्यकार इन वृत्तियों की सहायता से संवेदना शक्ति और कल्पना शक्ति प्राप्त कर लेता है। इन शक्तियों के द्वारा ही वह साहित्य के निर्माण में समर्थ हो जाता है। साहित्यकार को वाह्य जगत् के माध्यम से ये शक्तियाँ प्राप्त होती हैं और पाठक को साहित्य-जगत् से। साहित्य की सृष्टि का अध्ययन करने

के उपरान्त वह उसी प्रकार की संवेदना शक्ति और कल्पना शक्ति का अपने अन्तर्जगत् में संचार अनुभव करता है जिस प्रकार साहित्यकार वाह्य सृष्टि का गम्भीर विश्लेषण करके करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि पाठक भी उल्लिखित वृत्तियों की प्रेरणा से ही साहित्य के पठन-श्रवण में संलग्न रहता है।

साहित्य के तत्त्व

साहित्य के मूल में कतिपय तत्त्व निहित रहते हैं। इन विधायक तत्त्वों में से कुछ तत्त्व ऐसे है जो कि साहित्य के सब रूपों में अन्तःस्यूत रहते हैं। ये 'मौलिक तत्त्व' कहलाते हैं। जीवन के यथार्थ तत्त्वों से ही साहित्य के सब रूप निर्मित होते हैं, अत॰ यह कहा जा सकता है कि जीवन ही साहित्य का मौलिक तत्त्व है। यही वह मौलिक सामग्री है जिसके द्वारा साहित्यकार अपनी सृष्टि का निर्माण करता है। जीवन की इस कच्ची सामग्री को लेकर साहित्यकार अपनी ओर से कुछ तत्त्व और जोड़ देता है। ये तत्त्व 'साहित्यकार द्वारा प्रदत्त' तत्त्व कहलाते हैं। बुद्धि, भाव अथवा राग, कल्पना और कला या शैली ये साहित्यकार द्वारा प्रदत्त तत्त्व कहलाते हैं।

साहित्य के सृजन के लिए दो पक्ष अनिवार्य होते हैं—एक अनुभूति पक्ष और दूसरा अभिव्यक्ति पक्ष; जिन्हें क्रमशः भाव पक्ष और कला पक्ष भी कह दिया जाता है। क्रम से अनुभूति पहले आती है और अभिव्यक्ति बाद में। प्रत्येक प्राणी, जिसे हृदय और मस्तिष्क मिले हैं, इस पृथ्वी पर आने के उपरान्त चेतना उपलब्ध करते ही आस-पास के वातावरण से प्रभाव ग्रहण करने लगता है। हृदय उसे अनुभव करने की क्षमता देता है और मस्तिष्क सोचने की। कल्पना का भी वह समय पर आश्रय लेता है। मानव का यह व्यापार यहीं समाप्त नही होता। वह जो कुछ अनुभव करता, सोचता या कल्पना करता है उसको प्रकट भी करना चाहता है, अपने मित्र-बन्धुओं में उसकी चर्चा करना चाहता है।

इससे अगली स्थिति की चर्चा करें तो यों कहेंगे कि वह उसे मूर्त्त रूप देना चाहता है। यह है अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के लिए अन्यान्य साधनों की अपेक्षा होती है, यथा छन्द, अलङ्कार आदि। ये सब साधन कला या शैली के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि सोचने, अनुभव करने और कल्पना करने की क्रिया हर व्यक्ति करता है, तथापि हर व्यक्ति कवि या लेखक बनकर साहित्य की सृष्टि नही कर सकता। उसके लिए विशेष प्रतिभा और अभिव्यक्ति की क्षमता अपेक्षित होती है। कवि या लेखक सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कुछ अधिक भावुक अथवा विचारशील होता है। अतः कविता करने या अन्य साहित्य-सृष्टि का काम कवि या लेखक ही कर सकता है।

साहित्य की सृष्टि के लिए अभिव्यक्ति पक्ष और अनुभूति पक्ष दोनों की समान आवश्यकता है। अनुभूति पक्ष के अन्तर्गत बुद्धि-तत्त्व, भाव-तत्त्व और अभिव्यक्ति पक्ष के अन्तर्गत कल्पना, कला या शैली तत्त्वों को ग्रहण किया जाता है। आगामी पक्तियों मे इन सभी तत्त्वों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है।

बुद्धि-तत्त्व

साहित्यिक रचना में जो विचार प्रकट होते है उनका सम्बन्ध लेखक की बुद्धि के साथ होता है। साहित्यिक सृष्टि में बुद्धि के सहयोग की परम आवश्यकता है। यह सत्य है कि साहित्य मे भावो की प्रधानता है। बौद्धिक चिन्तन तो दर्शन वा विज्ञान का विषय है। साहित्य में इसके अत्यधिक प्रवेश से हानि की आशका रहती है। फिर भी साहित्यिक रचना में बौद्धिक प्रक्रिया की नितान्त उपेक्षा नही की जा सकती। बौद्धिक प्रक्रिया में इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रथम स्थान होता है। आँख, कान, नाक, रसना और त्वक् इन्द्रियाँ अपने रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श विषयों का ज्ञान मानव को प्रदान करती हैं। इसी ज्ञान के आधार पर मानव का भाव-क्षेत्र निर्मित होता है। मानव के भाव-क्षेत्र में मूल

रूप से दो ही अनुभूतियाँ रहती हैं, सुखात्मक या दुखात्मक। ये ही दोनों अनुभूतियाँ इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के साथ मिलकर रति, हास, शोक, उत्साह, भय, क्रोध, घृणा, विस्मय, निर्वेद आदि मनोविकारों का रूप धारण कर लेती हैं। बिना ज्ञान-संचार के भाव-प्रसार नही हो सकता, अतः साहित्य में यदि भाव-प्रसार अपेक्षित है तो इसके लिए बौद्धिक प्रक्रिया के अग इस इन्द्रिय-जन्य ज्ञान-संचार की उपेक्षा नही की जा सकती है। साहित्य में बुद्धि का इतना ही प्रवेश स्वीकार किया जाता है। इसी से साहित्य का श्रेय पक्ष—जिसे सत्य या शिव कहा जा सकता है—निर्मित होता है। इस पक्ष में विचारों को परिगणित किया जाता है। विचार भावों से सर्वथा भिन्न नही होते। इनमें भावों का योग रहता ही है। जब भाव निष्क्रिय अवस्था में रहते हैं तब बुद्धि का योग अधिक मात्रा में हो जाता है। इस योग से विकल्प की, प्रतिबन्ध की स्थिति उत्पन्न होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि भावों की सक्रिय दशा में बुद्धि का नियन्त्रण ढीला पड़ जाता है और भावो के अनुरूप शरीर में चेष्टाएँ होने लगती हैं। यह भाव-स्थिति कहलाती है। परन्तु जब बुद्धि का योग अधिक मात्रा में हो जाता है तब ये चेष्टाएँ रुकने लगती हैं और मानसिक क्रिया अर्थात् चिन्तन-मनन प्रारम्भ हो जाता है। यह विचार-स्थिति होती है। दोनों ही स्थितियो में बुद्धि का योग बना रहता है। साहित्य में भाव-स्थिति की प्रधानता है, फिर भी बुद्धि की उपेक्षा नहीं की जा सकती है क्योंकि बुद्धि के योग के बिना यह भाव-स्थिति भी उपादेय नहीं हो सकती। अनियन्त्रित भाव-स्थिति तो विक्षेप का कारण बन जाती है। विक्षिप्तावस्था में जो कुछ मानव करता है वह न तो उसके अपने काम का होता है और न अन्यों के। वह तो व्यर्थ प्रलाप होने के कारण त्याज्य या उपहासास्पद ही होता है। अतः साहित्यकार अपनी रचना में बुद्धि का उचित मात्रा में योग लेता है। वह बुद्धि के दृढ़ नियन्त्रण को कुछ ढीला करके भाव-प्रसार के लिए मार्ग निकाल लेता है। बाँध के हटते ही भाव-धारा प्रवाहित होने लगती है

परन्तु तटों का बन्धन इस स्थिति में भी बना रहता है। इस बन्धन से धारा जीवन-क्षेत्र में सुव्यवस्थित रूप से प्रसरित होकर उसे सरस, हरा-भरा बना देती है। वह फलने और फूलने लगता है। बन्धन के अभाव में हो सकता है कि भाव-धारा प्रबल बाढ़ का रूप धारण करके जीवन-क्षेत्र को ही उजाड़ दे, उसे विनष्ट कर दे। बस, साहित्य में बुद्धि की इतनी ही उपादेयता है कि वह भाव-धारा को किनारों से बाहर उछलने नही देती, उसमें बाढ नही आने देती। उसके सुसगत, व्यवस्थित एवं क्रमिक प्रसार के लिए आवश्यक बुद्धि को साहित्य के क्षेत्र से बाहर धकेला नही जा सकता। जो साहित्य बुद्धि के इस आवश्यक नियन्त्रण को सर्वथा दूर कर देता है वह जीवन का विरोध करता है। जीवन का विरोध करके साहित्य अपने ही मूल में कुठाराघात करता है। साहित्य का मूल स्रोत तो जीवन है। उसके सूख जाने से साहित्यधारा के ही सूख जाने की प्रबल आशंका है। तत्त्वो की दृष्टि से साहित्य पर विचार करते समय बुद्धि-तत्त्व की गणना इसीलिए सबसे पहले की जाती है।

भाव-तत्त्व

साहित्यिक रचना में जो भी अनुभूतियाँ प्रकट की जाती है उनका सम्बन्ध लेखक की हृदयवृत्ति के साथ होता है। साहित्यिक सृष्टि में हृदय का योग अनिवार्यतः अपेक्षित रहता है। इसके बिना साहित्य का अस्तित्व ही नही रहता। यह तो उसकी आत्मा है। मानसिक प्रक्रिया में दो प्रकार की अनुभूतियाँ रहती हैं—संकल्पात्मक और विकलपात्मक। संकल्पात्मक अनुभूति में बुद्धि का नियन्त्रण अपेक्षाकृत कम रहता है, अतएव यही साहित्य के लिए उपयोगी होती है। बुद्धि-तत्त्व के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि बुद्धि के नियन्त्रण के ढीला पड़ने पर भाव की धारा प्रवाहित होने लगती है। यही भाव-स्थिति साहित्य के प्रेय पक्ष की सृष्टि करती है। इस भाव-स्थिति में मन सक्रिय हो जाता है, उसमें आवेश आने लगता है। इस

आवेश के आते ही बुद्धि का अंकुश हटने लगता है। बुद्धि अब प्रतिबन्धक नही रहती अर्थात् वह भाव के आवेश के अनुरूप उत्पन्न होने वाली शारीरिक चेष्टाओ को रोकती नही। हाँ, उन्हे संयत अवश्य रखती है। अनुभूतियों के घटित होने क कारण, क्रियाशील होने के ही कारण मन की यह स्थिति भाव कहलाती है। कवि अपनी इसी स्थिति से अपने साहित्य के कलेवर में प्राणों की प्रतिष्ठा कर पाता है। यह स्थिति उसे बाह्य जगत् के दर्शन से उत्पन्न होती है। अपनी इस स्थिति से जिस सृष्टि का वह निर्माण कर देता है उसी के दर्शन वा श्रवण से द्रष्टा वा श्रोता भी भाव-स्थिति में आने लगता है। वे भाव जो कवि में अपने वर्ण्य-विषय से उत्पन्न होते है और जिनको वह पाठक, श्रोता वा द्रष्टा के अन्तस्तल में उत्तेजित करना चाहता है, साहित्य में भाव-तत्त्व के नाम से अभिहित होते हैं।

कल्पना-तत्त्व

जब हम यह कहते है कि साहित्य का निर्माण होता है तब हमारा यह स्पष्ट सकेत रहता है कि उसके लिए निर्माण शक्ति की आवश्यकता है। बुद्धि और भाव-तत्त्वों से साहित्य निर्मित होता है अर्थात् यह तो उसके उपादान कारण हैं। ये दोनों स्वतन्त्र रूप से साहित्य के विधायक नही। अर्थात् इन दोनों के रहते भी साहित्य का स्वरूप उद्भावित नही हो सकता। केवल शब्दार्थ-विधान ही साहित्य की सृष्टि नहीं करता। इसके लिए वस्तु रूप के अथवा व्यापार के गोचर रूप में उद्भावना की अपेक्षा रहती है। कवि या साहित्यकार बाह्य जगत् में अनेक रूपों वा व्यापारों का दर्शन करता है और प्रतिक्रियास्वरूप अनेक प्रकार के भावों की अनुभूति भी हृदय में कर लेता है परन्तु जब वह अन्यान्य समयों पर बाह्य वस्तुजगत् द्वारा प्राप्त की हुई अनुभूतियों को शब्द रूप में परिणत करने लगता है उस समय तो ये वस्तुएँ उसकी इन्द्रियों की परिधि में नही रहतीं। इस स्थिति में भावों की पुनरुद्भावना हो तो

कैसे हो, यह एक समस्या बन जाती है। यदि ये वस्तुएँ अपने गोचर रूप में उसके भावना-केन्द्र में समुपस्थित नही हो पाती तो वह अपने इस केन्द्र को सक्रिय नहीं बना सकता है। साहित्य के लिए अपेक्षित भाव-स्थिति इसके अभाव मे नही बन पाती। साहित्य-सृष्टि का कार्य इस प्रकार अधूरा ही रह सकता है। साहित्यकार के हृदय में इस भाव-स्थिति का निर्माण करने के लिए इस कल्पना-तत्त्व की नितान्त आवश्यकता है। यह अनुपस्थित वस्तुओ के रूपों या व्यापारों को उपस्थित करके भावना-केन्द्र को क्रियाशील एवं स्पन्दित कर देती है, जिससे भाव-स्थिति सम्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार अगोचर, निराकार तथ्यों को भी यह कल्पना गोचर एवं साकार रूप प्रदान कर देती है। यह अमूर्त्त को मूर्त्त और परिचित को अपरिचित बना देती है। साहित्यकार इस तत्त्व के सहारे अपने मन में आवश्यक रूप-व्यापार का विधान कर लेता है और इसी के सहारे अपने मानसिक रूप-विधान को पाठक के सम्मुख रखने योग्य गोचर, मूर्त रूप में ले आता है। इस प्रकार साकार रूप में आये हुए वस्तुओं के रूप और व्यापार पाठक के लिए अपरिचित एवं नवीन प्रतीत होने लगते है। पाठक का हृदय उनकी ओर आकृष्ट होने लगता है। पाठक अपने ज्ञान-केन्द्र को उनकी ओर प्रवृत्त कर देता है। तत्काल ही पाठक का भावना-केन्द्र प्रतिक्रियास्वरूप तरंगित होने लगता है और साहित्यकार अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है।

भक्त अपने उपास्यदेव के दर्शन लौकिक जगत् में नहीं कर पाता। वह अन्तर्मुखी होकर अपने मानसिक क्षेत्र में इसी कल्पना-शक्ति से अपने इष्टदेव की मूर्ति का ध्यान करने लगता है। अब वह उसके समीप होता है। इसी सामीप्य के परिणामस्वरूप वह अपनी भावना में एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति कर लेता है। बिना इस सामीप्य के उसमें आनन्द-सृष्टि नही हो सकती। ठीक यही प्रक्रिया साहित्यिक क्षेत्र में भी होती है। साहित्यकार लौकिक वस्तुओं के रूपों और व्यापारों से अपने हृदय में आनन्दानुभूति करना चाहता है, वह उनके प्रति लुब्ध या क्षुब्ध होकर

अपने हृदय की व्यापकता अधिगत करना चाहता है, वह उन वस्तुओं के सौन्दर्य-बोध से अपने हृदय को आन्दोलित बना लेना चाहता है। इस प्रकार स्वयं आनन्दमग्न, लुब्ध या क्षुब्ध, व्यापक, सौन्दर्य-निमग्न होकर अपने सम्पर्क में आने वाले पाठकसमाज को भी आनन्दमग्न एव सौन्दर्याभि-भूत बना देना चाहता है। इसके लिए उसे जिस शक्ति की अपेक्षा है वही कल्पना-शक्ति है। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भावों के प्रवर्त्तन के लिए कल्पना की अपेक्षा रहती है। कल्पना से साहित्य के कलेवर में सौन्दर्य की सृष्टि होती है, वह ग्राह्य एवं मर्मस्पर्शी बन जाता है। प्राय. समीक्षा-क्षेत्र में यह कहा जाता है कि 'कल्पना' से 'सुन्दरम्' का शरीर बनता है। यह भी नितान्त सत्य है कि साहित्य का सारा रूप-विधान कल्पना ही करती है। कवि के मन के भीतर लोकोत्तर उत्कर्ष की झाँकियाँ तैयार करना भी इसी का काम है।

योरोपीय साहित्य-मीमांसा में इस तत्त्व को बहुत प्रधानता दी गई है। साहित्य-निर्माण में इसके सहयोग को या महत्त्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु कोरी कल्पना साहित्य के लिए उपादेय नहीं मानी जा सकती। कल्पना स्वयं साध्य नही है वह तो साधन है। आनन्द कल्पना में नही, भाव में है। हाँ, अगोचर, अमूर्त्त रूप में आनन्ददायक नहीं होता, वह तो गोचर एवं मूर्त्त रूप में आकर आनन्दप्रद हो सकता है। कल्पना उसे यही गोचर रूप प्रदान कर देती है। यदि कल्पना अपने मूल में भाव को नहीं रखती तो वह बौद्धिक चमत्कार का तो कारण बन सकती है, परन्तु मन के आह्लाद का कारण नहीं बन सकती। मानसिक सन्तुष्टि के लिए भाव की अपेक्षा है, कल्पना की तो परम्परा से ही आवश्यकता है। साहित्यिक सृष्टि में इस तत्त्व की साधन रूप से आवश्यकता है, साध्य रूप से नहीं।

शैली-तत्त्व

यह एक प्रकार का रचना सम्बन्धी तत्त्व है। इसका सम्बन्ध साहित्य

के शरीर के साथ है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कल्पना मानसिक रूप-विधान में साहित्यकार की सहायता करती है। वह भी रचनात्मक तत्त्व कहला सकती है। शैली-तत्त्व भी रचनात्मक है। दोनो में यही अन्तर है कि शैली का सम्बन्ध बाहर अभिव्यक्त होने वाले साहित्य-शरीर के साथ है, जब कि कल्पना साहित्यकार के मन में अनुपस्थित वस्तुओं के रूप और व्यापार को उपस्थित करके उसके भाव-जगत् को सक्रिय बनाती है। मानसिक सृष्टि को साहित्यकार जिस तत्त्व की सहायता से वाह्य जगत् में अभिव्यक्त करता है वही शैली-तत्त्व से अभिप्रेत है। इसी के द्वारा वह जीवन से प्राप्त कच्ची सामग्री को किसी क्रम में विन्यस्त करके, उसमें सौन्दर्य और प्रभाव उत्पन्न कर देता है।

शैली-तत्त्व के दो रूप किये जा सकते है। एक रूप में इसका सम्बन्ध ढाँचे के बाहरी रूप-आकार के साथ होता है। इसे विधान, संस्थान या रचना-कौशल कह सकते है। अंग्रेजी मे इसे टैक्नीकल ऐलीमैण्ट (Technical Element) कहा जाता है। दूसरे रूप में इसका सम्बन्ध ढाँचे के आन्तरिक रगों के साथ है। इसे अंग्रेजी में स्टाइल (Style) कहा जाता है। इन दोनों रूपों के अन्तर को समझने के लिए शैली और कला-विधान या रचना-कौशल आदि शब्दो की व्याख्या समझ लेनी आवश्यक है।

शैली—शैली का सम्बन्ध लेखक के अपने व्यक्तित्व के आभास के साथ है। इसी के कारण हम किसी रचना को देखकर यह कहने लगते हैं कि यह अमुक की रचना होगी। दूसरे शब्दो में शैली का सम्बन्ध उस ढंग या रूप के साथ है जो साहित्यकार अपने भावों या अनुभूति के प्रकाशन के लिए अपनाता है, जो कि उसका अपना, केवल अपना होता है, अन्य का नही। शब्दों का चुनाव, वाक्यांशो का विशिष्ट प्रयोग, वाक्य-रचना, विशेष प्रकार का ताल-लय-स्वर इन सब बातों का लेखक के अपने व्यक्तित्व के साथ सहज सम्बन्ध रहता है। यद्यपि इन्हें पृथक् निरूपित करना सम्भव नही तथापि वह इनमें अपनापन स्थापित कर देता है। पोप (Pope) ने इसे विचारो की पोशाक (The dress of thought)

कहा है। परन्तु यह कोई ऐसी वस्तु नही जिसे जब चाहे पहन लें और जब चाहे उतार दें। कारलाइल (Carlyle) के कहने के अनुसार इसे लेखक की त्वचा कहा जा सकता है। यह वस्त्र नही है। जब कोई व्यक्ति अपनी बात कहता है तो उसके कहने का ढग उसका अपना होता है। बात भले ही दूसरों के सदृश हो परन्तु उसका रग अपना ही होता है। यह छाया की तरह से उसका अनुसरण करती है। एक की छाया दूसरे की नही हो सकती। यह तो एक प्रकार का दर्पण है जिसमें लेखक का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित रहता है। जिस प्रकार हमारे शरीर का ढाचा सारे मनुष्य मात्र के शरीरो के साथ समता रखता है फिर भी हममें अपना विशेष रूप पृथक् झलकता प्रतीत होता है, इसी प्रकार प्रत्येक उपन्यास-कार या नाटककार आदि का बाहरी ढाँचा समान होते हुए भी अपना पृथक्त्व लिए रहता है। यही पृथक्त्व शैली नाम से अभिहित होता है। कला-विधान या रचना-कौशल इससे भिन्न होता है।

कला-विधान या रचना-कौशल—जिस प्रकार अन्य ललित कलाओं के अपने कुछ नियम होते हैं ठीक उसी प्रकार साहित्य-रूपों के निर्माण के भी अपने कुछ नियम होते है। कला-विधान (Technique) शब्द का सम्बन्ध इन्ही सामान्य नियमों के साथ है। यह रचना का एक ऐसा ढाँचा है जिसका अनुसरण अनेक कर सकते है। इस पर किसी एक की छाप नहीं होती है। निर्माण-कार्य के साथ इसका सम्बन्ध होने के कारण कहने की विधि, विवेचन की रीति, अभिव्यक्ति के रूप और शैली के साथ भी इसका सम्बन्ध होता है। शैली की अपेक्षा यह शब्द अधिक व्यापक है। किसी रचना की विधान सम्बन्धी सब बातों का इस तत्त्व में समावेश रहता है।

साहित्य में व्यक्तित्व

यदि साहित्य मानव जीवन की अभिव्यक्ति है तो इसमें लेखक के व्यक्तित्व का अनुसन्धान आवश्यक हो जाता है क्योंकि साहित्य में अभि-

व्यक्त जीवन का रूप वही होता है जो कि लेखक के अन्तस्तल में निर्मित होता है। यह सर्वथा समीचीन है कि लेखक मानव-मात्र की भावनाओं, आकांक्षाओ तथा इच्छाओं की अभिव्यञ्जना करता है, परन्तु इस साहित्यिक अभिव्यञ्जना पर उसकी अपनी रुचि तथा स्वभाव का प्रभाव निरन्तर विद्यमान रहता है। Art is life seen through temperament इस उक्ति के अनुसार कला जीवन है जो कि लेखक की प्रकृति के माध्यम से देखा जाता है। लेखक अपने ही दृष्टिकोण से जगत् को, मानव जीवन को देखता है। देखने के पश्चात् जो प्रतिक्रिया उसके हृदय में होती है उसी को वह लिपिबद्ध करके साहित्य रूप में प्रस्तुत कर देता है। यही उसका दृष्टिकोण साहित्य में व्यक्तित्व की नीव रख देता है।

लेखक के अपने अनुभव और विचार ही तो साहित्य का रूप धारण करते है, अत: साहित्य से व्यक्तित्व को पृथक् नही किया जा सकता। यदि कोई साहित्य महान् है तो इसका यही अर्थ है कि उसका लिखने वाला महान् है। इस सम्बन्ध मे मिल्टन (Milton) की उक्ति विशेष उल्लेखनीय है। वे कहते हैं कि 'एक उत्तम पुस्तक मानो एक महान् आत्मा के जीवन का एक बहुमूल्य रक्तबिन्दु है जिसे उसने जीवन के पश्चात् आने वाले जीवन के लिए संचित एव सुरक्षित रखा है।' लेखक का यह संचय ही तो साहित्य है। वह अपने इन रक्त-बिन्दुओं को शब्द-संकेतों द्वारा पाठक की भावनाओ में प्रवाहित करना चाहता है। इसी को वह अपने परिश्रम की सार्थकता समझता है। प्लेटो की धारणा से भी यही बात सिद्ध होती है कि साहित्य में लेखक का अपना आपा प्रतिफलित होता है। उनका कथन है कि 'अच्छे अमर साहित्य का मूल्य केवल इस बात पर निर्भर है कि वह लिखने वाले के प्रति सत्य हो अर्थात् उसमें लेखक की अपनी यथार्थ अनुभूति, अपना सत्य-दर्शन प्रतिफलित होना चाहिए। भले ही लेखक का दृष्टिकोण अधिक विस्तृत न हो, अनुभूति का क्षेत्र भी भले ही सकुचित हो परन्तु उसे वही लिखना चाहिए जो कि उसका अपना हो, जो उसके अपने अन्दर विद्यमान हो।'

व्यक्तित्व का स्वरूप

साहित्य में जिस व्यक्तित्व का प्रतिफलन होता है उसके स्वरूप को समझने के लिए सस्कृत की यह उक्ति 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे-तुण्डे च सरस्वती' बहुत उपयोगी है। व्यक्तित्व का अर्थ विशेषता है। मानव की विशेषता का रहस्य इस उक्ति के अनुसार दो बातो में अन्तर्निहित है—एक तो उसकी बुद्धि मे, दूसरा उसकी वाणी में।

यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व का सम्बन्ध मानव के अपने ज्ञान-केन्द्र के साथ है अर्थात् उसकी बुद्धि के साथ है। व्यक्ति का भाव-क्षेत्र या अनुभूति-केन्द्र अपने मूल रूप मे सामान्य रूप धारण किये रहता है। उसके कारण तो मानव परस्पर समान है, विशेष नहीं। जब यह कहा जाता है कि साहित्य में व्यक्तित्व का समावेश होता है तब उसका यही अर्थ समझना चाहिए कि लेखक का विचार-क्षेत्र, ज्ञान-केन्द्र, उसकी अपनी अन्तर्दृष्टि ही साहित्य मे प्रतिफलित होती है। हाँ, यह अन्तर्दृष्टि अपनी अभिव्यक्ति में माध्यम रूप से भावों का आश्रय पकड़कर चलती है। यदि वह भावो का आश्रय न पकड़े तो वह अपने शुद्ध रूप में दर्शन-शास्त्र का ही प्रणयन कर सकती है, साहित्य का नहीं। मानव-मात्र में सामान्य रूप से विद्यमान भाव अपनी-अपनी बुद्धि के प्रकाश मे विशिष्ट रूप धारण करने लगते है परन्तु अपनी बुद्धि को सामान्यता प्रदान कर देते है। भाव-माध्यम से प्रकट होने वाली बुद्धि विशिष्ट होकर भी सामान्य प्रतीत होने लगती है। इसी सामान्यता के कारण प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र में कवि के व्यक्तित्व का अनुशीलन समालोचना का विषय नही बनाया गया। भाव को प्रधानता देने के कारण बुद्धि-जन्य व्यक्तित्व का साहित्य-क्षेत्र में विशेष महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता था। सस्कृत समीक्षा-क्षेत्र में वाक्-शक्ति-जन्य व्यक्तित्व को स्थान मिल गया है। कवि के व्यक्तित्व-दर्शन की झलक प्राचीन काव्य-समीक्षा में इसी रूप में मिलती है। इसका सम्बन्ध भावों या विचारों से न होकर केवल अभिव्यक्ति के प्रकार के साथ ही हुआ है। 'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।

दण्डिनस्तु पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः'' 'नव सर्गगते माघे नव शब्दो न विद्यते' आदि समीक्षा सम्बन्धी उक्तियाँ इस बात का समर्थन करती हैं। कुछ भी हो, चाहे व्यक्तित्व बुद्धि-जन्य हो चाहे वाक्-शक्ति-जन्य, साहित्य में उसका किसी-न-किसी रूप में समावेश होता है, यह निर्विवाद है। बुद्धि-जन्य व्यक्तित्व का अनुशीलन यदि प्राचीन संस्कृत-समीक्षा मे नही हुआ तो वाक्-शक्ति-जन्य व्यक्तित्व का तो हुआ ही है, अतः उसमें व्यक्तित्व का प्रत्याख्यान नही हुआ है। प्राचीन दृष्टि के अनुसार व्यक्तित्व से शुद्ध बुद्धि-क्षेत्र ही अभिप्रेत है। क्योंकि बुद्धि का सम्बन्ध विचारों के साथ है, अतः बुद्धि को अपने शुद्ध रूप में काव्य-क्षेत्र में स्थान नहीं दिया जा सकता था। हाँ, वाक्-शक्ति के रूप में जो व्यक्तित्व निर्मित होता है उसे काव्य-समीक्षा मे स्थान मिल ही गया है।

योरपीय साहित्य में व्यक्तित्व-दर्शन की प्रवृत्ति वैज्ञानिक युग की देन है। इसी युग के प्रभाव के फलस्वरूप आज प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को प्रधानता मिल रही है। साहित्य-क्षेत्र में भी आज व्यक्तित्व के चिन्तन का प्रश्न समाविष्ट हो गया है। यही कारण है कि आज व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को ही काव्य स्वीकार किया जा रहा है।

कई समालोचक साहित्य को जगत् की अभिव्यक्ति मानते हैं। इनकी दृष्टि में भी व्यक्तित्व का विरोध नही है। यह जगत् पहले व्यक्ति के अन्तर्जगत् की सीमा में प्रविष्ट होता है, तदनन्तर साहित्य रूप में उद्भावित होता है। व्यक्तित्व का ये लोग भी विरोध नही कर सकते क्योकि साहित्य में अभिव्यक्त होने वाला जगत् वही होता है जो कि द्रष्टा के अपने व्यक्तित्व में प्रतिबिम्बित हुआ है। यह अब अपने शुद्ध रूप में नहीं रह पाता। यह तो परिवर्तित रूप में ही साहित्य में आ सकता है। 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं विपरिवर्त्तते।' इस कविरूप प्रजापति के हृदय में विश्व का जो चित्र निर्मित होगा वही तो साहित्य-फलक पर अंकित होगा, अतः कवि का व्यक्तित्व सहज ही उस जगत् के रूप में प्रविष्ट हो जाता है। इसके विपरीत जो लोग व्यक्तित्व

की अभिव्यक्ति को ही काव्य या साहित्य मानते हैं उनके मत में तो व्यक्तित्व के सम्बन्ध में शंका ही प्रस्तुत नही की जा सकती है। व्यक्तित्व से भिन्न साहित्य हो ही नही सकता। इस दृष्टि से व्यक्तित्व के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं। एक रूप वह है जिसमें विचार-भाव का, ज्ञान-अनुभूति का समन्वय किया जाता है। विषय-प्रधान महाकाव्य (Epic Poetry) आदि रचनाओं में इसी के दर्शन होते हैं। दूसरा रूप वह है जिसमे केवल अनुभूति को ही व्यक्तित्व स्वीकार किया जाता है। विषयी-प्रधान मुक्तक रचनाओं (Lyric Poetry) में इसी के दर्शन होते हैं।

विषय-प्रधान रचनाओं में कवि अपने अन्तःकरण में से बाहर की ओर आता है और वाह्य जगत् की क्रियाओं या भावनाओं के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है। इस प्रकार वाह्य जगत् मे अपने व्यक्तित्व को अन्तर्निहित करके वह साहित्य की सृष्टि करता है। उसका व्यक्तित्व उसकी सृष्टि द्वारा प्रकाशित होता है। वह अपने आपको परोक्ष रूप से अभिव्यक्त करता है। वह अपने आपको अपनी कल्पना-प्रसूत सृष्टि में इस प्रकार छिपा लेता है जिस प्रकार परमात्मा ने अपनी इस रूपात्मक सृष्टि में अपने आपको विलीन कर रखा है। इसके विपरीत विषयी-प्रधान रचनाओं में कवि अपने अन्त.करण में अवतरित हो जाता है और वहीं वाह्य जगत् की क्रियाओं, व्यापारो तथा भावनाओ को अन्तर्निहित करके उनका साक्षात्कार करता है और फिर उन पर अपनी भावनाओं का पुट देकर अभिव्यक्त करने का यत्न करता है। इस प्रकार वह अपने व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष रूप से ही अभिव्यक्त करता है। वह अपनी सृष्टि में छिपा नहीं रहता। उसकी सृष्टि का एक-एक अंश उसकी झाँकी देने में समर्थ रहता है। वह और उसकी सृष्टि परस्पर अभिन्न परिलक्षित होते हैं। यह सृष्टि उसका मूर्त्त रूप बन जाती है। जैसे ब्रह्म के दो रूप स्वीकार किये जाते हैं—एक मूर्त्त और दूसरा अमूर्त्त, इसी प्रकार कवि-भावना के भी दो रूप माने जा सकते हैं। यह शब्दमयी सृष्टि कवि-भावना का मूर्त्त रूप है।

सारांश यह है कि व्यक्तित्व के इन दोनों ही रूपों में व्यक्तित्व के साथ साहित्य का अटूट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। दूसरे रूप में व्यक्तित्व को स्वीकार कर लेने से साहित्य और समाज का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता अर्थात् केवल अनुभूति को ही व्यक्तित्व स्वीकार कर लेने से ऐसे व्यक्तित्व वाली रचनाओं में युग-भावना की दृष्टि से परीक्षा नही हो सकती। नायक-नायिका-भेद से सम्बद्ध काव्य में यही रूप परिलक्षित होता है। हिन्दी का रीतिकालीन मुक्तक साहित्य भी इसी प्रकार व्यक्तित्व के प्रकाशन का उदाहरण माना जा सकता है। इस प्रकार के व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य को युगविशेष का, जातीय भावना का परिचायक नही माना जा सकता। उसमें मानव का सामान्य रूप अथवा सामान्य मानव-भावना ही अभिव्यक्त हुई है। हिन्दी में बिहारी के दोहों तथा छायावादी कवियों की रचनाओं में कवि की अपनी विशिष्ट अनुभूति ही अभिव्यक्त हुई है, युग नही। कहने का अभिप्राय यह है कि जिन रचनाओं मे इस प्रकार के युग-निरपेक्ष भावों का प्रकाशन होता है उनमे मानव का सामान्य रूप रहने पर भी कवि या लेखक की अपनी विशिष्ट अन्तर्दृष्टि वा सूझ-बूझ के कारण विशेषता झलकने लगती है। यही व्यक्तित्व होता है, क्योंकि इसमें बुद्धि का योग रहता है और वह सामान्य मानव-भाव को अपने ही प्रभाव से विशिष्ट रूप प्रदान करता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सूर्य की किरणों को प्रातःकाल कलियो पर पड़ते देखकर सामान्य मानव आह्लादित होता है और वह अपनी इस अनुभूति की दशा में निर्विशेष होता है परन्तु उस अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए जब वह अपनी बुद्धि का, सूझ-बूझ का सहयोग लेता है तब उसकी मानव-सामान्य अनुभूति में विशेषता आने लगती है। प्रसाद जी ने अपनी इस सामान्य अनुभूति को अपने व्यक्तित्व से विशिष्ट बनाकर साहित्य का रूप प्रदान कर दिया है :—

चपल ठहरो, कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ-शून्य अनन्त।

सुमन-मन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहाँ बसन्त ।।

किरण के प्रति यह अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रसाद के बुद्धि-जन्य व्यक्तित्व को साथ ले रही है। इसी प्रकार यमुना के प्रति निराला की यह उक्ति :—

यमुने ! तेरी इन लहरों मे किन अधरों की आकुल तान।
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है किस अतीत के गौरव गान ।।

उनके व्यक्तित्व से शून्य नही कही जा सकती। इस प्रकार की साहित्यिक अभिव्यक्तियों मे अनुभूति बुद्धि-जन्य व्यक्तित्व से प्रभावित होकर पाठक के सम्मुख आती है। शुद्ध अनुभूति के रूप में इनमें मानव-हृदय के सामान्य स्वरूप का ही प्रदर्शन होता है, अतएव इनमे युगविशेप या जाति-विशेष की भावना का दर्शन नही हो सकता। जो लोग साहित्य और समाज का, साहित्य और युग का सम्बन्ध अनिवार्य समझते है वे व्यक्तित्व का पहला रूप—अर्थात् बुद्धि और भाव का ज्ञान और अनुभूति का समन्वय—ही स्वीकार करते है। सौष्ठववादी समीक्षकों तथा मनोविश्लेपणवादी समीक्षकों ने प्रायः शुद्ध भावात्मक व्यक्तित्व को स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल तथा प्रगतिवादियों ने समन्वयात्मक व्यक्तित्व का ग्रहण किया है, अतः इनकी दृष्टि में साहित्य का जीवन से, समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि साहित्य में व्यक्तित्व का प्रतिफलन होता है इस विचार का विरोध किसी भी साहित्यिक सम्प्रदाय में नहीं हुआ है।

साहित्य और समाज

अब समस्या यह है कि यदि साहित्य में व्यक्तित्व का प्रतिफलन अनिवार्यतः स्वीकार किया जाएगा तो उसका समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई होगी। यदि साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को ही लेकर साहित्य-सृष्टि में प्रवृत्त होता है तो अन्य व्यक्तियो को उससे कोई प्रयोजन

नही रहेगा। किसी के व्यक्तित्व से दूसरों का कोई स्वार्थ सिद्ध नही हो सकता। ऐसी अवस्था में यदि साहित्य की समाज के लिए कोई उपयोगिता स्वीकार्य है तो व्यक्तित्व-प्रतिफलन के सिद्धान्त का परित्याग करना पड़ेगा।

सूक्ष्मतया विचार करने पर यह समस्या किंवा आशंका निर्मूल सिद्ध होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को रखता हुआ भी समाज के लिए उपेक्षणीय नही होता। व्यक्ति में जहाँ कई विशेष गुण होते है वहाँ उसमें सामान्य गुणों का सर्वथा अभाव नही माना जा सकता। निस्सन्देह समाज में कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें औरो की अपेक्षा वर्गगत गुणो का अत्यन्त अल्प अश विद्यमान रहता है, फिर भी उन्हे समाज-निरपेक्ष नही कहा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति जो कुछ साहित्य द्वारा अभिव्यक्त करेंगे उसमें समाज का पर्याप्त भाग रहता है। अत साहित्य में व्यक्तित्व-प्रतिफलन से व्यक्ति का जो अश आता है उस पर समाज का, युग का प्रभाव अवश्य सिद्ध किया जा सकता है। अतएव व्यक्तित्व-प्रतिफलन मात्र से साहित्य को समाज से पृथक् नही किया जा सकता।

सत्य बात तो यह है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसकी आत्माभिव्यक्ति में यह सामाजिकता सर्वदा विद्यमान रहती है। यदि साहित्यकार को यह विश्वास न हो कि उसकी रचना को अन्य लोग पढेगे तो वह कदापि रचना-कार्य में प्रवृत्त नही होगा। दूसरो को अपनी भावनाओ में सम्मिलित करने के लिए ही वह अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। इसीलिए वह उसमे ऐसी बात कहता है,जिसका सम्बन्ध अन्य लोगों के साथ भी होता है। मानव का कोई कार्य एकान्तत समाज-निरपेक्ष नही हो सकता, अत: साहित्य में भी सामाजिकता के दर्शन किये जा सकते हैं।

साहित्यकार अपने समय का प्रतिनिधि होता है और वह अपने समय की ही भावनाओं, विचारों को अपनी वाणी से मुखरित करता है। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध है। जिस प्रकार साहित्य में सामाजिक भावनाओ का प्रतिविम्व रहता है, ठीक उसी प्रकार समाज पर भी

साहित्य द्वारा अभिव्यक्त भावनाओं का प्रभाव पड़ता है। बाबू गुलाबराय जी का यह कथन नितान्त सत्य है कि— 'कवि और लेखक किसी अश में समाज के प्रतिनिधि होते हैं और किसी अश मे वे समाज को अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के आधार पर नये भाव और विचार प्रदान करते हैं। समाज कवि और लेखको को बनाता है और लेखक तथा कवि समाज को बनाते हैं। दोनो का आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-भाव चलता रहता है। यही सामाजिक उन्नति का नियामक सूत्र बनता है।'

यह सर्वमान्य उक्ति है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। उसमें जातीय भावनाओं का प्रतिविम्ब देखा जा सकता है। किसी जाति अथवा समाज के साहित्य का अवगाहन कर हम उस जाति या समाज के विशेष गुणों से परिचित हो सकते हैं। जाति की सबलता वा निर्बलता, उन्नति वा अवनति साहित्य के अग-प्रत्यंग में गुम्फित रहती है। यदि किसी जाति का साहित्य महान् है तो वह अपनी पतित अवस्था में भी, पराजय की स्थिति में भी, वैभव-क्षीणता मे भी अपने गौरव की, अभ्युदय की छाप दूसरो पर अकित करने में समर्थ रहती है। साहित्य की उच्चता उसे आर्थिक तथा राजनीतिक अवनति की स्थिति में उच्च बनाए रखती है क्योकि उसके साथ उसका अटूट सम्बन्ध रहता है। वह उसी सम्बन्ध से ऊँची बनी रहती है। यदि साहित्य और समाज का सम्बन्ध न होता तो यह जातीय साहित्य, राष्ट्रीय साहित्य की भावना आज विश्व मे न रहती। आज हम देखते हैं कि जातियों का, राष्ट्रो का साहित्यविशेष से सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक जाति वा राष्ट्र अपने-अपने साहित्य के प्रति अनुराग रखता है। वह उसकी रक्षा में अपना तन, मन, धन न्योछावर कर देता है। यदि इन दोनों का कोई पारस्परिक सम्बन्ध ही न हो तो साहित्य को इतना महत्त्व कैसे मिल सकता। यदि साहित्य व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत निधि होती तो उस व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर वह साहित्य भी नष्ट हो जाता। साहित्य व्यक्ति की उपार्जित सम्पत्ति होने पर भी उस पर केवल उसका ही आधिपत्य स्वीकार नही किया जाता। वह तो व्यक्ति की होकर भी राष्ट्र वा

समाज की सम्पत्ति है। उसकी रक्षा का भार समाज वा राष्ट्र पर होता है। व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नही होता क्योकि समाज उसकी रक्षा में सन्नद्ध रहता है।

वैदिक काल से लेकर आज तक भारत में जितना साहित्य निर्मित हुआ है उसमें भारतीयता की झलक को कौन झुठला सकता है? क्या रामायण और महाभारत हमारे सांस्कृतिक अभ्युदय के प्रतीक नही है? इन दोनो प्रबन्ध काव्यो मे भारत के सास्कृतिक जीवन की आत्मा सुरक्षित है। इनमें जातीय भावना का इतना व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है कि व्यक्ति तो इसी भावना की तीव्र ज्योति में तिरोहित हो गया है। वाल्मीकि की रामायण में वाल्मीकि नही है, राम नही है, उसमे तो वाल्मीकि को बनाने वाली, राम को रामत्व प्रदान करने वाली संस्कृति चित्रित है। रामायण का एक-एक शब्द भारतीय भावनाओं के समुज्ज्वल रूप का प्रतिनिधित्व करता है। यह नही कि उसमे वाल्मीकि की आत्मा नही है, उसका अस्तित्व अवश्य है परन्तु पृथक् नही, उसने जाति के साथ तादात्म्य कर लिया है। जातीय भावनाओ के माध्यम से ही वह अपनी आत्मा को वाणी प्रदान कर रहा है। महाभारत में निगडित तत्कालीन समाज की आत्मा को कौन नही पहचान सकता? वह इतने स्थूल एवं माँसल रूप में पाठकों के सम्मुख आ विराजती है कि वह चकित हो उसके दर्शन करने लगता है। व्यास की आत्मा इसी रूप में घुल-मिल गई है। उसके व्यक्तित्व की झाँकी इससे पृथक् नही है। दोनों का सामंजस्य साहित्य को अमरत्व प्रदान कर गया है। इसी अमरत्व से भारत की सस्कृति को, जातीय भावना को दीर्घकालीन जीवन प्राप्त हो सका है।

आधुनिक युग का मानव अपने व्यक्तित्व को सामाजिक व्यक्तित्व में अन्तर्विलीन नही करना चाहता। व्यक्ति और समाज के जिस सामंजस्य से अद्‌भुत सौन्दर्य की सृष्टि होती है वह इस वैज्ञानिक युग में नही है। फिर भी उसमे व्यक्तित्व के स्थूल रूप मे सूक्ष्म रूप से समाज का रूप भी परिव्याप्त रहता ही है। सस्कृत के अन्यान्य महाकाव्यों, नाटको में कवियो

का व्यक्तित्व वाल्मीकि और व्यास की भाँति अन्तर्विलीन नहीं हो सका है, वह अपना पृथक् रूप झलकाता प्रतीत होता है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व के उद्भावन से भी समाज का अस्तित्व मिट नहीं सकता। हाँ, दब अवश्य जाता है। कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की रचनाओं में उनके व्यक्तित्व का स्वर अधिक घनता को प्राप्त हो गया है परन्तु जातीय स्वर की तीव्रता कम नहीं हो पाई है। हिन्दी साहित्य के कवियों में भी व्यक्तित्व और समाज के सम्मिलित रूप को देखा जा सकता है। वीरगाथाकाल और भक्तिकाल के कवियों की रचनाओं में समाज को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व मिला है। रीतिकाल में आकर युग-भावना का समष्टि रूप से सर्वाङ्गीण प्रदर्शन रुकता प्रतीत होता है। रीतिकालीन साहित्य में यदि समाज के जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद दृष्टिगोचर होता है तो व्यक्तित्व के भी सच्चे स्वरूप की झाँकी नहीं मिल सकी है। उसमें तो एक प्रचलित परम्परा का पालन मिलता है। यह भी तो एक प्रकार से समाज के एक पक्ष की सामूहिक प्रवृत्ति का निदर्शन ही कहा जा सकता है। साहित्य से समाज का सम्बन्ध तो यहाँ भी टूट नहीं सका है।

भारतेन्दु काल में सामाजिक जीवन और साहित्य का सम्बन्ध अधिक गहरा हो गया। इस काल में लेखक द्वारा अपने व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामयिक परिस्थितियों का प्रकाशन करना परिलक्षित होता है। साहित्य की पृष्ठभूमि में हम समाज की ही छाया पाते हैं। द्विवेदी-कालीन नाथूराम शंकर, मैथिलीशरण आदि अन्यान्य कवियों में समाज में परिव्याप्त अभ्युत्थान की मंगल कामना ऊपर उचकती देखी जा सकती है। छायावादी युग में समाज की, जीवन की उपेक्षा की प्रवृत्ति प्रबल हो गई। व्यक्तित्व को अधिक महत्त्व देकर समाज को नीचे धँसाने का सामूहिक प्रयास इस काल में हुआ है। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को साहित्य माना जाने लगा है, फिर भी क्या सामाजिक प्रवृत्तियों को, युग-व्यापी भावनाओं, परम्पराओं को साहित्य में आने से रोका जा सका है? छायावाद स्वयं भी तो एक विशेष युग की सामूहिक भावना ही है। अपने-अपने पृथक्

व्यक्तित्व का प्रकाशन करते हुए भी ये कवि एक कहे जा सकते है। यही एकरूपता तो सामाजिकता का उपलक्षक है। भावों, परिस्थितियो की एकता के ही कारण से मानव एक दूसरे से भिन्न होकर भी अभिन्न कहा जा सकता है। यह व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य भी युग-व्यापी प्रवृत्ति का परिचायक है, अतएव समाज से पृथक् नही कहा जा सकता। अत. यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि समाज और साहित्य का अटूट सम्बन्ध है।

राष्ट्रीय साहित्य, जातीय साहित्य, भारतीय साहित्य, योरपीय साहित्य, मुस्लिम साहित्य आदि शब्द इसी बात के साक्षात् प्रमाण है कि साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्यकार अपनी पार्श्ववर्ती परिस्थितियो से प्रभावित होता है। उसका व्यक्तित्व भी इन्ही सीमित परिस्थितियों से निर्मित होता है। उसका चिन्तन, मनन सब आज के विशिष्ट वातावरण से प्रभावित रहता है। जो कुछ वह लिखता है उस पर इस वातावरण की गहरी छाप रहती है। वह इस सकुचित परिधि से बाहर जाने में असमर्थ है। वह इसकी ओर से मुँह मोड़ने का स्वाँग भले ही रच सकता है परन्तु यह छाया की भाँति उसके साथ चिपटी रहती है। अरब का निवासी कवि प्रकृति की हरीतिमा को, शीतल शाद्वल भूमि को, कल कल नाद से झरते निर्झरो के सौन्दर्य को लिपिबद्ध नही कर सकता। उसकी रचनाओ में पिक स्वर के माधुर्य का आभास नहीं हो सकता, उनमें घन नाद से मत्त मयूरो का नृत्य प्रदर्शित नही किया जा सकता। भारतीय साहित्य के गगन मे विचरने वाले पपीहा, कोयल, चकोर, चकवा अरब के साहित्य के प्रागरण में नही देखे जा सकते। इसी प्रकार क्या उर्दू साहित्य के आकाश में गूँजने वाला नर-विलाप हिन्दी साहित्य में उसी मात्रा में उपलब्ध हो सकता है ? नही। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक देश की, प्रत्येक जाति की अपनी परिस्थितियाँ, परम्पराएँ एव रूढियाँ रहती है जिनके प्रभाव से लेखक अपने आपको मुक्त नहीं कर पाता। आज विज्ञान ने ससार के देशो की पारस्परिक दूरी को कम कर दिया है। अतीत काल की अपेक्षा आज ससार अधिक सटा हुआ है। फिर भी प्राकृतिक दूरी की

सत्ता को मिटाया नही जा सकता। आज का साहित्य विज्ञान के इस प्रभाव को भी प्रकट कर ही रहा है। हमारा प्रगतिवादी साहित्य इस बात का सबल प्रमाण है। आज हमारे इस साहित्य में विदेशी भावनाएँ यदि झिलमिला रही है तो यह परिस्थितियो के प्रभाव के कारण से ही। कहने का अभिप्राय यह है कि लेखक अपने व्यक्तित्व को उभारने के मधुर स्वप्न लेकर भी अपने पार्श्ववर्ती समाज के प्रवेश को रोक नही सकता है। वह तो व्यक्तित्व के उभार के साथ ही उभरता चलता है, उसके साथ ही वह साहित्य में सन्निविष्ट होने लगता है।

प्रबन्ध काव्यो मे कथा, पात्र, कथोपकथन तथा वस्तु-वर्णन के माध्यम से युग-भावना, जातीय भावना झलक जाती है। मुक्तक श्रेणी के काव्यों में भी भावो के प्रकाशनार्थ गृहीत वस्तुओं के आधार पर समाज के स्वरूप की उद्भावना की जा सकती है। सारे ससार के साहित्य का अध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकल सकता है कि समाज और साहित्य का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध से साहित्य अमर होता है और स्वयं अमर होकर समाज को भी अमरत्व प्रदान कर देता है।

साहित्य का वर्गीकरण

आज साहित्य के अनेक रूप परिलक्षित होते हैं। आज इन रूपो के वर्गीकरण की आवश्यकता स्वभावतः ही अनुभव की जाती है। पदार्थ के स्वरूप-ज्ञान के लिए वर्गीकरण आवश्यक समझा जाता है। साहित्य के रूपों का वर्गीकरण करने से प्रत्येक रूप का सामान्य परिचय प्राप्त करने में सुगमता हो जाती है। साहित्य के अध्ययन को प्रारम्भ करने से पूर्व हमें उसके पृथक्-पृथक् रूपो के मौलिक भेद को समझना समीचीन है। अध्ययन को सुविधाजनक बनाने के लिए ही साहित्य के विभिन्न रूपों को वर्गों में विभक्त किया जाता है।

वर्गीकरण के अनेक आधार हो सकते है—वर्ण्य विषय की दृष्टि से, भाव की दृष्टि से, प्रभाव की दृष्टि से, उद्देश्य की दृष्टि से, ग्राहक की

दृष्टि से और प्रेरक वृत्ति से। सभी दृष्टियों के आधार पर वर्गीकरण करना उपयोगी नही होगा। जिस आधार पर आजकल प्रायः साहित्य के रूपो को विभक्त किया जाता है उन्ही आधारों को लेकर हम भी विचार करेंगे।

व्यक्तित्व के आधार पर वर्गीकरण

सर्वप्रथम साहित्य के रूपो मे लेखक के व्यक्तित्व के अंश के अनुपात को देखकर उन्हे वर्गों में विन्यस्त किया जा सकता है। जिन रूपो में लेखक का व्यक्तित्व अधिक मात्रा में या सीधा प्रतिफलित होगा उन्हे एक वर्ग में रखा जाएगा और जिनमें यह व्यक्तित्व परम्परा से, परोक्ष वृत्ति से रहता है उन्हे दूसरे वर्ग मे स्थान दिया जाएगा। इस तथ्य को दृष्टि-पथ में लाते हुए साहित्य को तीन वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है :—

१, विषयगत (Subjective), २. विषयीगत (Objective) और ३. मध्यवर्ती।

विषयगत :—जिसमे वर्णित विषय की प्रधानता रहेगी और कवि का व्यक्तित्व परोक्ष वृत्ति से रचना मे प्रतिफलित होगा वह विषयगत साहित्य कहलाएगा। इस प्रकार के साहित्य में वस्तु-वर्णन की प्रधानता रहती है। इसमें लेखक प्रकथन को स्वीकार कर लेता है, स्वयं सामने नही आता। कथा, पात्र, कथोपकथन, देशकाल के माध्यम से वह अपने विचारों, अनुभूतियों, संकल्प-विकल्पो को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कवि या लेखक की अपनी अनुभूतियाँ, आकाक्षाएँ तथा आदर्श इन पात्रो के सवादों में या घटनाओ की परिस्थितियो के चित्रण में प्रतिफलित रहते हैं। प्रबन्ध काव्य के प्रायः समस्त भेद इसके अन्तर्गत समाविष्ट किये जा सकते है।

विषयीगत :—साहित्य के जिस रूप में भाव की प्रधानता रहेगी और कवि का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष वृत्ति से रचना मे प्रतिफलित होगा वह विषयीगत साहित्य होगा। इसमें वर्ण्य विषय वाह्य जगत् से ग्रहण नही किये जाते अपितु अपने अन्तर्जगत् को ही कवि प्रतिपाद्य विषय बना लेता है। इसमें कवि या लेखक की अनुभूतियाँ, आकांक्षाएँ तथा आदर्श ही प्रधान

रूप से प्रतिध्वनित होते हैं। इसमें कवि का अन्तर्नाद ही प्रमुख रूप से गूंजने लगता है। वाह्य जगत् आँखों से तिरोहित होने लगता है। विशेषतया गीतिकाव्य के समस्त रूप तो इसी के अन्तर्गत परिगणित किये जा सकते हैं।

मध्यवर्ती :—नाटक को विषयगत और विषयीगत इन दोनों के बीच का स्थान दिया जाता है। यह भी होता तो विषय-प्रधान है किन्तु इसके पात्रो मे उनके निजी व्यक्तित्व का अंश अधिक उभर आता है और महाकाव्य की भाँति इसमें लेखक को प्रकथन का अवसर नही रहता। लेखक जो कुछ भी बात कहना चाहता है, वह पात्रो के मुख से ही कहला सकता है।

आकार-प्रकार की दृष्टि से वर्गीकरण

साहित्य के रूपो का वर्गीकरण प्रायः आकार-प्रकार की दृष्टि से ही किया जाता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम साहित्य के दो भेद किए जाते हैं—दृश्य और श्रव्य।

दृश्य काव्य:—दृश्य रूप वे है कि जिनका आनन्द देखने से आता है। ऐसे रूप अभिनय के योग्य होते हैं। दृश्य काव्य के भी दो भेद किए जा सकते हैं—प्राचीन और नवीन। प्राचीन भेदो मे रूपकों और उपरूपकों की गणना हो सकती है। नवीन भेदों के अन्तर्गत नाटक, एकांकी, भावनाट्य आदि को लिया जा सकता है। नाटक-श्रेणी का एक और रूप है रेडियो नाटक। परन्तु यह दृश्य श्रेणी का होता हुआ भी, होता है श्रव्य। इसका रूप-विधान अपनी ही विशेषता लिए है।

श्रव्य काव्यः—श्रव्य रूप वे हैं जिनका आनन्द पढ़ने और सुनने से आता है। इसके भी अभिव्यक्ति-माध्यम के आधार से तीन रूप हो सकते हैं—पद्यात्मक, गद्यात्मक और मिश्रित।

पद्यात्मकः—बन्ध की दृष्टि से पद्यात्मक भेदों के पुनः दो भेद हो

सकते हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध-रूपों में धारावाहिकता रहती है, एक तारतम्य रहता है। इनकी तुलना में मुक्तक-रूप स्वतंत्र होते हैं; उनका प्रत्येक छन्द अपने आपमें पूर्ण रहता है।

प्रबन्ध:—प्रबन्ध काव्य भी तीन रूपों में विभक्त हो सकता है—महाकाव्य, खण्डकाव्य और एकार्थकाव्य। महाकाव्य में जीवन की सर्वांगीण विवेचना रहती है। इसमें आकार की विशालता तो रहती ही है, भावों की उदात्तता और विशालता भी विद्यमान रहती है। कविपुगव तुलसीदास का 'रामचरितमानस' महाकाव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। खण्डकाव्य में जीवन के किसी एक अंग अथवा घटना का चित्रण रहता है। इसमें जीवन के किसी एक पहलू की ही झाँकी देखी जा सकती है। मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ-वध' इसका उदाहरण है। आजकल महाकाव्य-शैली पर जो ऐसे काव्य रचे जा रहे हैं जो देखने को तो महाकाव्य लगते हैं परन्तु महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण उन पर नही घटते, उन्हें एकार्थकाव्य की सज्ञा दी गई है। ऐसे काव्यों का 'एकार्थकाव्य' नामकरण श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा किया गया है। उनके कथनानुसार एकार्थकाव्य वह है जिसमें महाकाव्य की अपेक्षा कथा-प्रवाह के मोड़ कम होते हैं, यथा श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'वैदेही-बनवास'। विद्वानो द्वारा 'एकार्थकाव्य' सज्ञा को अधिक मान्यता प्राप्त नही हुई।

मुक्तक:—मुक्तक काव्य में स्फुट कविताएँ आती है। मुक्तक कविताओं में कुछ तो पाठ्य होती है और कुछ गेय। पाठ्य कविताओ में रसमय पद्यों और सूक्ति-पद्यों की गणना हो सकती है। रसमय पद्यों में विशेष रूप से किसी रस या भाव का चित्रण रहता है, यथा बिहारी के दोहे। सूक्ति-पद्यों में सांसारिक रीति-नीति का वर्णन रहता है, यथा रहीम के दोहे। गेय पद्य गाए जा सकते है। इन्हें प्रगीत पद्य की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। पाश्चात्य साहित्य में ऐसी वस्तु लिरिक (Lyric) है। सूर के पदो और महादेवी के गीतों की गणना प्रगीत पद्यों में हो सकती है।

गद्यात्मक:—लगभग वैसे ही रूप जैसे पद्य के है, गद्य के भी है। महाकाव्य की तुलना में हम उपन्यास को ले सकते है। इसी प्रकार खण्डकाव्य की तुलना में आख्यायिका, मुक्तक की तुलना में कहानी आदि को ग्रहण कर सकते है। हिन्दी में गद्य का आविर्भाव आधुनिक काल में हुआ है, अत: पद्य की तुलना में गद्य के रूप अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। आजकल गद्य के जो रूप सामान्यत: प्रचलित है, वे इस प्रकार है—उपन्यास, आख्यायिका, कहानी, लघुकथा, रेखाचित्र, निबन्ध, समालोचना, गद्यकाव्य, जीवनी, आत्मकथा, पत्र-पत्रिकाएँ, रिपोर्ताज़, संस्मरण, इण्टरव्यू (साक्षात्वार्ता) आदि।

मिश्रित:—मिश्रित काव्य में गद्य-पद्य का मिश्रण रहता है। मिश्रित काव्य को 'चम्पू' कहकर भी पुकारा जाता है। संस्कृत में चम्पू रचनाओं का प्राचुर्य होता था, हिन्दी में ये कही-कही ही देखने को मिलती हैं।

पाठकों की सुविधा के लिए आगे हम चित्र रूप में इस समस्त वर्गीकरण को प्रस्तुत करते है:—

श्रव्य काव्य के रूप
गद्य
पद्य
मिश्रित
अथवा चम्पू
प्रबन्ध
मुक्तक
महाकाव्य
खण्डकाव्य
एकार्थकाव्य
रसमय पद्य
सूक्ति-पद्य
प्रगीत पद्य
उपन्यास
अख्यायिका
कहानी
लघुकथा
समालोचना
निबन्ध
रेखाचित्र
गद्यकाव्य
जीवनी
आत्मकथा
पत्र-पत्रिकायें
इण्टरव्यू
रिपोर्ताज
संस्मरण
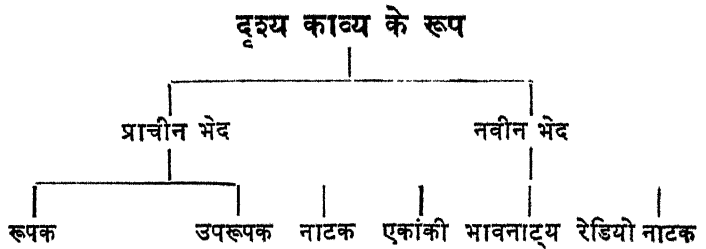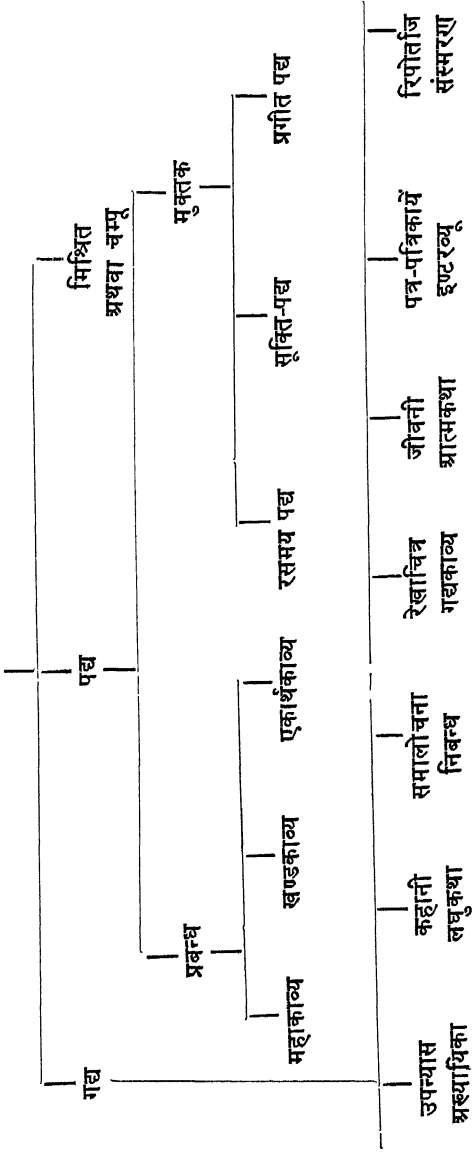
कविता

कविता का अर्थ

संसार के समस्त साहित्य-समुदाय में कविता पर सर्वाधिक विचार हुआ है। कविता का सामान्य प्रयोग काव्य अर्थ में भी किया जाता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से भी इसी सामान्य अर्थ का सकेत मिलता है। कवि-कर्म को काव्य कहा जाता है। कविता में भी कवि के भाव की प्रतीति होती है, अतः वह भी एक प्रकार से कवि-कर्म ही कहला सकती है। आन्तरिक प्रकृति का बोध कराने के लिए जो ढग अपनाया जा सकता है उसे भाव कहा जाता है। कवि अपनी प्रकृति की विशेषताओं को सूचित करने के लिए जो शब्द-विधान का ढंग अपनाता है वही कविता है और वही काव्य है। इस प्रकार कविता और काव्य के सामान्य अर्थों में कोई अन्तर प्रतीत नही होता। 'कवि का भाव ही कविता है' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से इस बात का संकेत मिलता है कि कविता के स्वरूप को समझने के लिए कवि शब्द को समझने की भी आवश्यकता है। कवि शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से पता चलता है कि 'कवि' शब्द 'कु' धातु—जिसका अर्थ शब्द करना या बोलना है—से बनता है, अतः इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ शब्द-विधान करने वाला अर्थात् निर्माता या स्रष्टा होगा। इस प्रकार कविता शब्द-विधान करने वाले स्रष्टा का भाव है अथवा उसकी मुख्य विशेषता है। अंग्रेजी में कविता शब्द के लिए पोयट्री (Poetry) शब्द का प्रयोग होता है। जिस प्रकार कवि शब्द का सम्बन्ध कवि के साथ है ठीक इसी प्रकार पोयट्री (Poetry) शब्द का सम्बन्ध पोयट (Poet) के साथ है। पोयट (Poet) शब्द का अर्थ भी मेकर (Maker—निर्माता) ही है। बनाना (To Make) इस अर्थ वाली (Poieo) धातु से ग्रीक शब्द (Poietes) बनता है और उससे अंग्रेजी के Poet

शब्द की रचना होती है, अतः इसका भी धातुजन्य अर्थ 'निर्माता' हुआ। यही कारण है कि पहले एक समय इग्लैण्ड में कवियों को प्राय: मेकर्ज (Makers—बनाने वाले, अर्थात् निर्माता) के नाम से पुकारा जाता था। यदि Poet निर्माता है तो Poetry उसकी निर्मित सृष्टि है। वह विधाता है और यह उसके द्वारा विहित है, मानो यह उसका भाव है, उसकी मुख्य विशेषता है। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य साहित्यो में प्रयुक्त शब्दों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्राय: एकसमान है। परन्तु इतना भेद अवश्य लक्षित होता है कि 'कृ' धातु के विशेष अर्थ के कारण भारतीय 'कविता' शब्द में 'संगीतात्मकता' की ध्वनि आती है और पाश्चात्य Poetrv शब्द में 'कल्पना' की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

कविता अपने विशेष अर्थ में काव्य का एक विशिष्ट तथा प्रधानतम रूप है, जिसमें काव्य या साहित्य के प्राय: सभी तत्त्व समाविष्ट रहते हैं और जो अपने छन्दोबद्ध रूपविशेष के कारण साहित्य के अन्य रूपों से भिन्न प्रतीत होती है।

कविता के तत्त्व

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर कविता मे दो तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं—एक निर्माण-शक्ति अर्थात् कल्पना और दूसरा तत्त्व निर्माता का भाव अर्थात् उसकी विशेषता जो उसकी अपनी मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में होती है। इस प्रकार कविता में दो प्रधान तत्त्व अर्थात् कल्पना (Imagination) और भाव (Emotional Thought) सिद्ध होते हैं। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि भाव-प्रसार बिना ज्ञान-प्रसार के सम्भव नहीं होता, अतः भाव-तत्त्व के साथ ही बुद्धि-तत्त्व को भी कविता के तत्त्वों में स्थान देना पड़ता है। कल्पना-तत्त्व का सम्बन्ध कविता के निर्माण पक्ष के साथ है, अतएव इससे शैली-तत्त्व का भी ग्रहण हो जाता है। सारांश यह है कि साहित्य के जो तत्त्व माने गए है वे ही तत्त्व कविता के भी माने जा सकते है। इसी कारण प्राय: काव्य शब्द सारे साहित्य

का पर्य्यायवाची भी मान लिया जाता है। इसकी पद्यात्मकता, छन्दोबद्धता ही इसे अन्य साहित्यिक रूपो से पृथक् कर देती है।

कविता का लक्षण

भारत के और अन्य देशो के साहित्यों में सर्वत्र कविता के लक्षण के विषय में विचार हुआ है। इनमें से पाश्चात्य समालोचको ने साहित्य के मूल तत्त्वों—बुद्धि, भाव, कल्पना, शैली—में से किसी एक तत्त्व या उससे अधिक तत्त्वों पर विशेष बल देते हुए लक्षण किये है।

एक पाश्चात्य विद्वान् मिल (Mill) ने कविता का लक्षण इस प्रकार किया है—'What is poetry, but the thought and words, in which emotion spontaneously embodies itself' अर्थात् 'केवल शब्द और विचार ही तो कविता है, जिसमें मनोवेग सहज ही अपना मूर्त्त रूप ग्रहण करते है'। मिल के इल लक्षण में विचार को कविता कह दिया गया है। परन्तु साथ ही मनोवेगों के समावेश की भी चर्चा कर दी है, अर्थात् शुद्ध विचार कविता नही है, उसमें मनोवेगों के सम्मिश्रण से ही कविता की सृष्टि होती है। इस प्रकार बुद्धि-तत्त्व को प्रधानता देकर भी मिल ने शैली-तत्त्व तथा भाव-तत्त्व को भी स्वीकार कर लिया है।

इसी प्रकार कारलाइल (Carlyle) ने भी विचारों को प्रधानता देते हुए कहा है कि संगीतमय विचार को कविता कहा जाएगा। कारलाइल का ध्यान बुद्धि-तत्त्व की ओर विशेष गया है परन्तु उसने कविता के लिए गेय होने की आवश्यकता का भी अनुभव किया है।

हैज़लिट (Hazlit) ने कविता को भावोद्वेगों और कल्पना की भाषा कहा है। कविता की इस परिभाषा के अनुसार उन्होंने मिल या कारलाइल की भाँति विचारों पर बल नहीं दिया, उन्होंने तो कविता के अन्य तत्त्वों—कल्पना, भाव तथा शैली को ही विशेष महत्त्व प्रदान कर किया है। 'भाषा' से उनका संकेत शैली-तत्त्व की ओर है, 'भावोद्वेग' से भाव की ओर तथा कल्पना से कल्पना-तत्त्व अभिप्रेत है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जब भाव

कल्पना के सहारे शब्दों का परिधान धारण करके अभिव्यक्त होते हैं तब कविता अपना रूप ग्रहण करती है।

ले हण्ट (Leigh Hunt) का कथन है कि 'सत्य, सौन्दर्य और शक्ति के लिए हमारी चाह जब पुकार का रूप धारण करती है तब वह कविता बन जाती है। यही आन्तरिक चाह कल्पना और मधुर स्वप्नों के द्वारा जब शरीर धारण कर लेती है और अपना प्रदर्शन करने योग्य हो जाती है तब उसे कविता कह दिया जाता है। यह कविता एकता में विविधता के सिद्धान्त पर अपनी भाषा को सुव्यवस्थित कर लेती है।' ले हण्ट के इस स्वरूप में भी भाव, कल्पना, शैली तत्त्वो पर विशेष बल दिया गया है। यद्यपि उन्होने 'सौन्दर्य' और 'शक्ति' के साथ 'सत्य' की भी गणना की है तथापि 'चाह' को प्रधानता देकर भाव पक्ष को अधिक महत्त्व दे दिया है। बुद्धि का कविता की भाषा में योग तो रहता है परन्तु उसका कठोर नियन्त्रण उनको प्रिय नही है। उनकी दृष्टि में इसके कठोर नियन्त्रण से कविता में भाव-प्रसार के रुद्ध होने की आशंका रहती है।

मैकाले (Macaulay) ने कविता के लक्षण में शैली-तत्त्व को प्रधानता दी है और कहा है कि 'By poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination, the art of doing by means of words what the painter does by means of colours.' इस लक्षण में कविता के वास्तविक स्वरूप की चर्चा न करके उन्होने उसके प्रभाव को ही वर्णित किया है। उनका कथन है कि कविता एक ऐसी शब्द-योजना की कला है कि जो पाठक की कल्पना के सम्मुख एक मायाजाल सा बुन देती है और यह शब्द-योजना की कला ऐसी है जैसी कि रंगों के माध्यम से चित्रकार की होती है।

कालरिज (Coleridge) ने कविता का लक्षण करते हुए यह कहा है :—Poetry is the antithesis of science having for its jmmediate object pleasure, not truth अर्थात् कविता ज्ञान-विज्ञान

की विरोधनी है और इसका निकटतम उद्देश्य आनन्द है, सत्य नही। इस लक्षण में कविता और विज्ञान के अन्तर को अधिक महत्त्व देते हुए जीवन की, सत्य-विज्ञान की उपेक्षा की गई है। अनन्दानुभूति को कविता का लक्ष्य मान लिया गया है।

कई ऐसे समालोचक भी हैं जो कविता और विज्ञान के इस विरोध को स्वीकार नही करते। वे कविता की विवेचना करते हुए जीवन को साथ लेकर चलते हैं। वर्डस्वर्थ (Wordsworth) ने कविता को समस्त ज्ञान का उच्छ्वास कहा है और उसे ज्ञान की मनोज्ञ भावना स्वीकार किया है। वे यह कहते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत जितनी वस्तुएँ आती हैं कविता उन सबका भावमय शब्दों में प्रकाशन कर देती है। कहने का अभिप्राय यह है कि कविता का मूल आधार ज्ञान-विज्ञान है। इन दोनों का पारस्परिक विरोध उनको अभीष्ट नही है। कालरिज की तरह ज्ञान-विज्ञान का कविता से विरोध स्वीकार न करके उसे उसी का भावात्मक रूप वर्णित किया है। इस लक्षण में कविता में भाव, बुद्धि और कल्पना को समान रूप से महत्त्व प्राप्त हो गया है।

इसी प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) ने भी कविता का और जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार किया है और कविता को जीवन की आलोचना स्वीकार किया है। कविता में जिस रूप में जीवन का चित्रण रहता है वह सामान्य जीवन से कुछ विलक्षण अवश्य हो जाता है क्योंकि वास्तविक जीवन का सत्य और सौन्दर्य, कविता के सत्य और सौन्दर्य से भिन्न रहता है। कविता के सत्य में सम्भाव्यता रहती है, व्यावहारिक जीवन के सत्य में कटु यथार्थता रहती है। मैथ्यू आर्नल्ड की दृष्टि में कविता भाव-प्रकाशन के निमित्त चरम विकास वाली वाणी का एक आनन्दप्रद तथा पूर्णतम रूप है अर्थात् मनुष्य की यह अत्यन्त पूर्ण भाषा-शक्ति है जिसके द्वारा वह सत्य के प्रकाशन में समर्थ हो जाता है।

प्रसिद्ध समालोचक हडसन ने भी कविता को जीवन की व्याख्या ही

माना है परन्तु इस व्याख्या में मनोवेगों और कल्पना को भी स्थान दिया है। कविता मे जीवन भावों के माध्यम से ही आना चाहिए। इस व्याख्या में कल्पना की भी सहायता ली जाती है।

इन सब लक्षणो में कविता के उन्ही तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है जो कि सामान्यत: साहित्य के सब रूपों मे हमें उपलब्ध हो जाते हैं। इस-लिए ये सब लक्षण एक प्रकार से साहित्य या काव्य के ही हो जाते हैं। इनमें से किसी ने भी कविता के विशेष रूप को ध्यान में रखते हुए लक्षण नही किया है। जॉनसन (Johnson) का कविता का लक्षण इस दृष्टि से पूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि उसमें कविता के सब तत्त्वो तथा उसके अपने विशेष रूप का समान रूप से ध्यान रखा गया है। उनका कविता का लक्षण इस प्रकार है :—Poetry is metrical composition. It is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason and its essence is invention. अर्थात् कविता एक छन्दोबद्ध रचना है। यह एक कला है जिसमें सत्य और आनन्द का सम्मिश्रण किया जाता है। इसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का आश्रय लिया जाता है और इसका सार-तत्त्व आविष्कार या नूतन निर्माण है। इस लक्षण मे बुद्धि, भाव, कल्पना तथा शैली सभी तत्त्वों का परिग्रहण किया गया है और साथ ही छन्दोबद्धता की विशेषता का भी उल्लेख कर दिया गया है।

पाश्चात्य आलोचको के इन लक्षणों का भारतीय आलोचको पर भी पूर्ण प्रभाव पड़ा है। भारतीय आलोचकों के भी कुछ लक्षणो पर यहाँ विचार कर लेना समीचीन होगा।

सबसे पहले इस सम्बन्ध में महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के लक्षण पर विचार किया जाएगा। द्विवेदी जी ने कविता के लक्षण में तीन गुणो का उल्लेख किया है। वे कहते हे 'कविता सादी हो, जोश से भरी हो, अस-लियत से गिरी न हो'। इसके अतिरिक्त उनका कथन है कि 'कविता की साफ-सुथरी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हो।

दोनों तरफ फूलों से लदे हुए पेड़ हो, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्यों की नई-नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों'। कविता सम्बन्धी इस विवेचन से कविता में वर्णित जीवन के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। व्यावहारिक जीवन में कोई स्थिर आदर्श, नियम परिलक्षित नही होता। कविता में जीवन एक निश्चित आदर्श वा नियम के अनुरूप चलता दिखाया जाता है। यही मानों कविता की साफ-सुथरी सड़क है जिस पर कवि पाठक को चलाना चाहता है। इस विवेचन से कविता में सत्य और सौन्दर्य की प्रमुखता सिद्ध होती है।

द्विवेदी जी की कविता-सम्बन्धी धारणा पर मिल्टन (Milton) के इस लक्षण Poetry should be simple, sensuous and passionate का प्रभाव परिलक्षित होता है।

स्पष्ट ही द्विवेदी जी के लक्षण में कविता के लिए सत्य, सुन्दर कल्पना, शैली की सरलता एवं विशदता तथा भावात्मकता को विशेष उपयोगी समझा गया है। उनके मत में जीवन की सत्यता को उभार देना, उसको पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर देना कविता का प्रमुख लक्ष्य है।

हिन्दी समालोचको में प्रसिद्ध रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी कविता के स्वरूप पर विचार किया है। उनके लक्षण से हर्बट रीड के विचारो की पर्याप्त समता दिखाई जा सकती है। हर्बट रीड का कथन है कि 'कविता मनोवेगों को अधिक अनिरुद्ध छोड़ देना नहीं अपितु उनसे मुक्ति पाना है। यह व्यक्तित्व का प्रदर्शन नही अपितु व्यक्तित्व से मुक्ति पाना है'। शुक्ल जी ने भी प्राय: यही भाव अपने कविता-लक्षण में प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं 'हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं'।

तत्त्वो की दृष्टि से यदि शुक्ल जी के लक्षण पर विचार किया जाए तो भाव-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और शैली-तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख प्रतीत होता है। 'हृदय की मुक्ति' से भाव-तत्त्व का, 'शब्द-विधान' से कल्पना-तत्त्व का', 'मनुष्य की वाणी' से शैली-तत्त्व का संकेत स्पष्ट है। बुद्धि-

तत्त्व का स्पष्ट संकेत न होने पर भी यह कहा जा सकता है कि उनके लक्षण में हृदय शब्द बुद्धि का भी उपलक्षक है क्योकि वे भाव-प्रसार के लिए ज्ञान-प्रसार को अत्यन्त आवश्यक समझते है । उनकी यह धारणा है कि बिना ज्ञान के भाव की स्थिति ही नही हो सकती । अत: यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शुक्ल जी कॉलरिज की भॉति कविता का ज्ञान-विज्ञान से विरोध नही मानते, वे तो वर्डस्वर्थ की भॉति इसे ज्ञान की भावोद्वेगमयी अभिव्यक्ति (Impassioned Exrpression) ही स्वीकार करते है ।

जयशकर प्रसाद जी ने भी कविता के स्वरूप पर प्रकाश डाला है । उनके लक्षण मे कविता का व्यापक अर्थ लेकर ही विचार किया गया है । कविता व्यापक अर्थ में काव्य का प्रतीक है । प्रसाद जी ने काव्य को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति कहा है । आत्मा की तीन मौखिक क्रियाएँ होती है.—मनन, निर्वचन तथा प्राण । आत्मा की पहली क्रिया 'मनन' होती है । मनन प्रक्रिया में दो प्रकार के व्यापार होते है—एक सकल्प और दूसरा विकल्प । विकल्प संकल्प की परीक्षा करता है और फलत: उसका प्रतिबन्धक बन जाता है। जिस समय आत्मा में 'मनन व्यापार' से 'संकल्प' की अनुभूति होती है उस समय यदि विकल्प अनुभूति बाधक न हो तो वह आत्मा के दूसरे व्यापार 'निर्वचन' के द्वारा बाहर पूरे 'प्राण' के साथ अभिव्यक्त हो जाती है और यदि विकल्प उसकी परीक्षा करके उसमें प्रतिबन्धक बनने लगता है तो उसकी अनुभूति पूरे प्राण के साथ अभिव्यक्त नहीं हो पाती । मनन की संकल्पात्मक अनुभूति में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य रहता है। विकल्पात्मक अनुभूति से प्रेय की मात्रा कम हो जाती है, अतएव इस अनुभूति की अभिव्यक्ति में संकल्पात्मक अनुभूति की अपेक्षा सजीवता, प्रभावोत्पादकता न्यून होती है । प्रसाद जी ने अपने लक्षण की व्याख्या में 'सत्यं प्रियं हितं' की भावना का प्रतिपादन किया है । वे जब काव्य को श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा कहते है तब वे कविता में विचार-तत्त्व, भाव-तत्त्व, कल्पना और शैली तत्त्वों का स्पष्ट

सकेत करते प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार अन्य विचारकों ने भी पाश्चात्य काव्य-दर्शन से प्रभावित होकर कविता के लक्षण किये है। विस्तारभय से उन पर विचार नहीं किया जा रहा।

कविता का विधान

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कविता साहित्य का एक विशिष्ट रूप है। इसकी रचना मे कुछ विशेष नियमों या बातों का ध्यान रखना पड़ता है। कविता अपने रूप मे अन्य सब साहित्यिक रूपों से भिन्न प्रकार की है। यह भिन्नता जिन विशेषताओं के कारण से उत्पन्न होती है उन्हें ही कविता के विधान के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

कविता के रूप-विधान पर विचार करते समय हमारा ध्यान सर्व-प्रथम कविता के विशिष्ट वर्ण-विन्यास, विचित्र शब्द-योजना, छन्द, ताल-लय आदि बातों पर जाता है। नियमित पद-योजना से कविता का वाह्य रूप निर्मित होता है। इस पद-योजना में वर्ण-योजना का भी विशेष महत्त्व है। पद-योजना करते हुए वर्णों के गुरु-लघु स्वरों और मात्राओं का ध्यान रखना पड़ता है। इसी विशिष्ट योजना के परिणामस्वरूप कविता की भाषा में एक विशिष्ट गति, ताल या लय की सृष्टि हो जाती है।

कविता में भाव-तत्त्व की प्रधानता होने के कारण उसकी भाषा में साधारण व्यावहारिक भाषा से अन्तर पड़ जाता है। कविता की भाषा में वस्तु-संकेत ही अपेक्षित नहीं होता, उसमें वस्तु-प्रदर्शन भी नितान्त आवश्यक समझा जाता है। व्यावहारिक भाषा में वस्तु-संकेत से कार्य चल सकता है। कविता में प्रयुक्त शब्दावली केवल वाच्यार्थ को ही पाठक के सम्मुख प्रस्तुत नही करती, वह तो उसका स्वरूप भी अभिमुख रखने का आयोजन करती है। इस शब्दावली से कल्पना में वस्तु का संकेत ही नहीं मिलता अपितु वह वस्तु ही अपने विशिष्ट रूप के साथ उपस्थित होने लगती है। कहने का अभिप्राय यह है कि कविता अगोचर बातों या भाव-

नाओ को भी, जहाँ तक हो सकता है, स्थूल एव गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। कविता की भाषा में एक प्रकार की चित्रमयता की विशेषता उत्पन्न हो जाती है। इसी गुण के कारण कविता की भाषा गद्य की भाषा से अधिक सप्राण एवं प्रभावोत्पादक हो जाती है। कविता की भाषा में वस्तु का गोचर रूप चित्रवत् पाठक या श्रोता के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। कविता की यही विशेषता इसे साहित्य के अन्य रूपों से अधिक भावोत्तेजक बना डालती है। कवि इस मूर्ति-विधान के लिए भाषा की लक्षरणा शक्ति से काम लेता है। जैसे 'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भागा जाता है' यह कहना वह अधिक पसन्द करता है। लक्षरणा शक्ति से कविता की पद-योजना में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह सूक्ष्म पदार्थ को स्थूल मूर्त्त रूप में हमारे सामने लाकर उपस्थित कर देती है। उदाहरण के लिए तुलसीदास का यह पद्य प्रस्तुत किया जा सकता है:—

फूले फूले फिरत है आज हमारे व्याऊ।
तुलसी गाय-बजाय कै देत काठ में पाँऊ॥

विवाह के पश्चात् मनुष्य किस प्रकार कठिनाई में पड़ जाता है इसका वर्णन व्यावहारिक भाषा में यदि किया जाएगा तो वह इस कठिनता के सूक्ष्म स्वरूप का प्रतीक हमारे सामने उपस्थित नही कर सकेगा। इसे ही लक्षरणा शक्ति के द्वारा पद्यमयी भाषा में यदि वर्णित किया जाए तो यही सूक्ष्म कठिनता अपना स्थूल, साकार रूप धारण करके हमारे मन में भावात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में सक्षम हो जाएगी। तुलसी के इस पद्य में 'विवाह करना' के स्थान पर 'काठ में पाँव देना' यह कहा गया है। इसी लाक्षणिक प्रयोग से वैवाहिक जीवन की कठिनाइयाँ हमारे सम्मुख अपना स्वरूप झलकाने लगती है।

भावना को गोचर रूप में रखने के लिए कविता की पद-योजना में दूसरी बात यह ध्यान में रखनी पडती है कि उसमें जाति-सकेत वाले शब्दो का प्रयोग न किया जाए। अनेक-व्यापार-सूचक शब्द के प्रयोग से कल्पना

में कोई स्पष्ट चित्र उपस्थित नही होता, अतएव वह भावनाओ को उत्तेजित नही कर पाता। जैसे 'अत्याचार' शब्द कहने से अनेक व्यापारों की स्पष्ट धुंधली सी प्रतीति मात्र हो सकती है, किसी विशेष व्यापार की झलक नही हो सकती है। इसके स्थान पर 'दण्डप्रहार करना', 'धन अपहरण करना', 'खून चूसना' आदि विशेष-व्यापार-सूचक शब्दों के प्रयोग से अत्याचार का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाएगा।

कविता की शब्द-योजना के सम्बन्ध में तीसरी विशेषता वर्ण-विन्यास की है। कविता में माधुर्य, प्रसाद और ओज गुणों की सृष्टि करने के लिए विशिष्ट वर्ण वाले पदों की योजना की जाती है। उचित वर्ण-विन्यास से ही कविता में नाद-सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। यह सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए वर्णों की सख्या तथा क्रम को नियत कर दिया जाता है। इसी प्रकार वर्णों की मात्राओं के आधार पर भी पद-योजना की जाती है। किसी विशेष नियम से अक्षर या मात्राओ के बन्धन के आधार पर की गई पद-योजना को ही छन्द का नाम दिया जाता है। इस प्रकार नियमबद्ध पद-योजना से कविता की भाषा में एक विशेष प्रकार की तरलता उत्पन्न हो जाती है। यही तरलता कविता का प्राण है, सौन्दर्य का साधन है। इससे भाव-धारा पाठक के भीतर संचारित कर दी जाती है और वह हृदय में एक दृढ़ स्थान स्थापित कर लेती है। ताल-पत्र, भोजपत्र आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक हमारी जिह्वा पर नाचती रहती है।

भाषा सम्बन्धी इन विशेषताओ के अतिरिक्त प्रस्तुत और अप्रस्तुत योजना में भी कवि की कुशलता अत्यन्त अपेक्षित रहती है। प्रस्तुत के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए अप्रस्तुत की योजना की जाती है। इस योजना में भी भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिरा कर कहना पड़ता है। कथन के भिन्न ढंगों को अपनाना पड़ता है। इनके ही सहारे कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। इनके बिना इसका काम नहीं चल सकता।

सामान्य प्रयोग में आने वाले शब्दों से कभी-कभी अपने मानसिक भावों की पूर्णतया अभिव्यंजना नही हो पाती। हम इसके लिए लोकोत्तर विधान की कल्पना करते है। हमें तब सामान्य रीति का अतिक्रमण करना पडता है। आँखों में बसाना, पलक पाँवड़े बिछाना इत्यादि इसी प्रकार के प्रयोग हैं। कवि नन्ददास का निम्नलिखित पद्य हमारे भाव को अधिक स्पष्ट कर सकता है :—

नवला निकसत तीर जब, नीर चुअत वर चीर।
जनु अँसुअन रोवत बसन, तन विछुरन की पीर॥

नारी के वस्त्रों से जल टपक रहा है। कवि यहाँ अपनी कल्पना से इस दृश्य के वर्णन में सामान्य भाषा का प्रयोग न करके बात घुमाकर कह देता है। कविता-रचना के लिए इसी वक्रता की आवश्यकता है। इसी को प्राचीन प्रारतीय काव्य-शास्त्रों में 'अलंकार' अभिहित किया जाता है। बिहारी आदि अलंकारवादियो की कविताओं में इसी प्रकार की वक्रता प्रचुर मात्रा में हमें उपलब्ध होती है। सामान्य व्यावहारिक भाषा से कुछ विशेषता उत्पन्न करके भावों की अभिव्यंजना को ही अलकार कहा जाता है। कविता के लिए इस प्रकार के अलंकारों की आवश्यकता रहती है।

वस्तु या व्यापार की भावना को चटकीली करने और भाव को उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए अलंकारों की योजना की जाती है। इस योजना में वस्तुओं की समता पर ध्यान दिया जाता है। वस्तु या व्यापार की भावना को तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली अन्यान्य वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। इस प्रकार जो वस्तुएँ सामने लाई जाती है यदि उनसे ठीक उसी प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है जिस प्रकार वर्ण्य वस्तु से उद्बुद्ध होती है या हो सकती है तो यह योजना उचित समझी जाती है, अन्यथा नही। अन्त में यही कहा जा सकता है कि कविता-रचना के लिए सामान्य भाषा का प्रयोग लाभप्रद सिद्ध नही हो सकता है। उसमें लोकोत्तरता लाने के लिए कुछ विशेष उपाय प्रयोग में लाने पड़ते हैं। इनके बिना कविता में कलात्मक सौन्दर्य उत्पन्न नहीं किया

जा सकता ।

कविता-निर्माण के लिए प्रायः तीन हेतु स्वीकार किये जाते हैं:— १. प्रतिभा, २. अभ्यास और ३. लोक-ज्ञान। प्रतिभा ईश्वर-प्रदत्त कल्पना शक्ति है जो पद-योजना या अर्थ-योजना के लिए नये-नये विधानों को सुझाती रहती है। इस प्रतिभा के न होने पर भी कवि निरन्तर अभ्यास से कविता का निर्माण कर सकता है। बहुश्रुत होना, लोक-व्यवहारों से सर्वथा परिचित होना भी कविता-निर्माण के लिए अपेक्षित रहता है।

कविता में जीवन-व्याख्या

कवि अपनी जीवन-सम्बन्धी अनुभूतियों को कविता के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दो में कविता जीवन की व्याख्या है। कवि की अन्तर्दृष्टि जीवन को जिस रूप में पाती है उसी का रूपान्तरण कविता के शब्दो मे हो जाता है। यद्यपि कवि द्वारा की गई जीवन की व्याख्या दार्शनिक, वैज्ञानिक या समाजशास्त्री की व्याख्या से भिन्न होती है तथापि कवि जीवन की व्याख्या किये बिना नही रह सकता। कवि के जीवन-दर्शन और सामान्य व्यक्ति के जीवन-दर्शन में अन्तर होता है। सामान्य जनों की दृष्टि पर वाह्य परिस्थितियो का इतना प्रबल प्रभाव पड जाता है कि वह संकुचित हो जाती है। उसे उसके भौतिक स्वार्थ, योगक्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख इतना आक्रान्त कर लेते हैं कि वह जीवन को उसके वास्तविक रूप में देखने में असमर्थ हो जाता है। सामान्य व्यक्ति की दृष्टि, जाने या अनजाने, निजी स्वार्थों के तले रौद दी जाती है, पंगु बना दी जाती है। कवि-दृष्टि बड़ी सूक्ष्म तथा विमल होती है। वह क्रान्तप्रज्ञ एवं मननशील होता है। सच्चा कवि अपने में भौतिक सौन्दर्य के दर्शन या अनुभव करने की शक्ति रखता है। उसमें पदार्थों के मूल रहस्यों को समझने की भी शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहती है। इसी शक्ति के द्वारा वह हमारे सामने एक ऐसी अक्षय्य निधि लाकर रख देता है जिसे हम अपनी स्वार्थ-चिन्ताओ के परिणामस्वरूप देखते हुए भी नही देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते, हृदय रखते हुए भी अनुभव नहीं

करते, नही समझते। कवि जीवन की प्रत्येक वस्तु को अपना विषय बनाकर इस प्रकार उसका वर्णन करता है कि वह हमारे लिए सौन्दर्य तथा विलक्षण अर्थ का प्रतिपादन करने वाला बन जाता है। भले ही वह यथार्थ रूप से तुच्छ वस्तु को भी अपना विषय बना ले तो भी वह उसे अपने कलापूर्ण कर-स्पर्श से सौन्दर्य प्रदान करता है और उसे हमारे लिए ग्राह्य बना देता है।

कवि और वैज्ञानिक का क्षेत्र भिन्न-भिन्न होता है। विज्ञान का जिस जगत् के साथ सम्बन्ध होता है अथवा जिसके विषय में वह विचार करता है वह तथ्यों का संसार है। विज्ञान का उद्देश्य विश्व के पदार्थो की क्रमबद्ध एवं युक्ति-युक्त व्याख्या करना है। इस व्याख्या में पदार्थों की प्रकृति, उत्पत्ति तथा इतिहास भी सम्मिलित रहता है। वह कारण-कार्य भाव तथा अन्यान्य भौतिक नियमों के आधार पर अपनी व्याख्या करता है। उसकी इस व्याख्या के अनन्तर जो कुछ अवशेष रह जाता है, विज्ञान का उससे कोई सम्बन्ध नही रहता। इसी अवशिष्ट के साथ कविता का प्रयोजन होता है। कविता का दैनिक जीवन के व्यवहार में आने वाले पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के साथ कोई विशेष लगाव नहीं। उसकी दृष्टि तो पदार्थ के उस स्वरूप की ओर जाती है जिसकी झाँकी कवि की कल्पना में उपस्थित होती है, अर्थात् कवि को जिस रूप में पदार्थ दृष्टिगोचर होते है उसी रूप में वह उनका वर्णन कविता में कर देता है। वह पदार्थो को अपने मनोवेगों के अनुकूल बना लेता है और फिर उसी रूप का दर्शन कविता द्वारा पाठकों को करवा देता है। इसके लिए वह अपनी हृदय वृत्ति का सहयोग लेता है और बुद्धि के कठोर नियन्त्रण को ढीला कर देता है। कवि निरा बौद्धिक प्राणी नही है। वह रस का स्रष्टा है। अतः उसकी व्याख्या भी रसमयी होती है। कवि जीवन का भावावेशमयी दृष्टि से दर्शन करता है, इस भाव-भरित मनोदशा में जीवन के पदार्थ अधिक भव्य एवं रमणीय प्रतीत होने लगते है। कविता इसी रमणीयाश को अपने में धारण कर लेती है और उसके द्वारा हममें उसके प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया

उत्पन्न कर देती है।

ले हण्ट (Leigh Hunt) का कथन है कि 'कविता का प्रारम्भ उस स्थान से होता है जहाँ पदार्थ-विज्ञान अपने यथार्थ स्वरूप में नही रहता अपितु उससे भी आगे के सत्य का दर्शन करने लगता है; जहाँ वह हमारे भाव-जगत् के साथ अपने सम्बन्ध पर प्रकाश डालने लगता है और साथ ही कल्पना के आनन्द की उत्पत्ति में अपनी शक्ति का परिचय देने लगता है।' साराश यह है कि जीवन की वैज्ञानिक द्वारा की गई व्याख्या से हम सन्तुष्ट नही होते। वैज्ञानिक का प्रयत्नसाध्य जीवन-विश्लेषण हमें आनन्दित एवं रसमग्न नही कर सकता। हम जीवन के माधुर्य और सौन्दर्य का साक्षात्कार करने के लिए तथा उससे आनन्द की प्राप्ति करने के लिए कविता का मुँह ताकने को विवश होते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) का यह धारणा सर्वथा सत्य प्रतीत होती है कि 'कविता की शक्ति इस बात में है कि वह पदार्थों का इस प्रकार प्रतिपादन करती है कि हममें उसके प्रति सर्वथा नवीन तथा पूर्ण आत्मीय भावना प्रबुद्ध हो उठती है। यह भावना तर्कसंगत है या असगत इससे हमे कोई प्रयोजन नही।'

यह स्पष्ट है कि पदार्थों के प्रति आत्मीय भावना तो कविता की जीवन-व्याख्या से ही प्राप्त हो सकती है, वैज्ञानिक व्याख्या से नही। वैज्ञानिक जीवन के जिस सत्य को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है उसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता। निरपेक्ष दृष्टि से की गई वैज्ञानिक की जीवन-व्याख्या हमारी बुद्धि पर ही प्रभाव डालती है और उससे एक प्रकार की तटस्थता की वृत्ति ही जाग सकती है। कवि का सत्य इससे भिन्न प्रकार का होता है। वह वस्तु के प्रचलित अर्थ के प्रति सत्य नही होता है, वह तो हमारे पदार्थों के भावमय साक्षात्कार के प्रति सत्य होता है। वह उस प्रभाव के प्रति सत्य होता है जो पदार्थ हमारे भावजगत् पर डालता है। वह आनन्द, वेदना, आशा, भय, आश्चर्य या पूज्यभाव आदि की जो विविध अनुभूतियाँ इसके द्वारा हमारे अन्तःकरण

में उद्‌बुद्ध होती हैं, उनके प्रति सत्य होता है। उसके प्राकृतिक यथार्थ स्वरूप के प्रति सत्यता वैज्ञानिक की सत्यता होगी, कवि की नही।

संक्षेप में यदि कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि कविता मनोवेगों और कल्पना के माध्यम से जीवन की व्याख्या करती है। कवि अपनी रचना में जीवन के पदार्थों को अपनी कल्पना और अनुभूति से स्पर्श करता है और उन्हें हमारे जीवन के साथ जोड़ देता है।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षा में काव्य को कलाओं के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। कलाओं के प्रयोजन के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए पाश्चात्य समीक्षको ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये हैं। कई समीक्षक कला को जीवन के अर्थ मानते हैं। उनकी दृष्टि में कला का उदय जीवन से होता है और उसमें जीवन की व्याख्या के साथ जीवन-पथ का प्रदर्शन भी होता है। वह जीवन में जीवन डालती है। वह जीवन को जीवन के योग्य बनाकर उसे ऊँचा उठाती है। वह जीवन में नये आदर्शों की स्थापना कर उनका प्रचार करती है और हमारे जीवन की समस्याओ पर नया प्रकाश डालती है। कविता काव्य-कला का एक विशिष्ट रूप है, अतएव इस सिद्धान्त के अनुसार कविता की उपेक्षा स्वीकार नही की जा सकती, उसमें जीवन की व्याख्या अनिवार्यतः विद्यमान रहती है। उसका मूल्यांकन करने के लिए इस व्याख्या पर भी ध्यान देना आवश्यक मानना पड़ेगा।

आजकल 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का प्रचार भी हो रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य-कला का अन्य कलाओ की भाँति सर्व-प्रथम प्रयोजन आनन्द प्रदान करना है। आनन्द प्रयोजनातीत है। काव्य के पठन-श्रवण से सौन्दर्य की या आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए। यदि किसी काव्य से इस प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है तो हमें यह देखने की आवश्यकता नहीं कि उसमें जीवन की व्याख्या हुई है या नही। इनकी दृष्टि में काव्य वाह्य जगत् की अभिव्यक्ति नहीं है, वह तो कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। अतः कविता में व्यापक जीवन के दर्शन की आकांक्षा उचित नहीं समझी जा सकती है। संसार के महाकवियों ने इस सिद्धान्त

का अनुमोदन या अनुकरण नहीं किया है। प्रायः सभी ने यह स्वीकार किया है कि कविता जीवन से ही निकलती है, जीवन से सम्बन्ध रखती है और जीवन के लिए है। इसी मुख्य सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने अपनी रचनाएँ की हैं। आज वे यदि महान् समझे जाते हैं तो केवल इसीलिए कि उन्होंने जीवन को उसकी पूर्ण गहराई के साथ ग्रहण किया है। उनकी महत्ता का निर्धारण भी उनकी जीवन ग्रहण करने तथा व्याख्या करने की शक्ति के आधार पर किया जा सकता है।

हम मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) के साथ सर्वथा सहमत हैं जब वह यह कहता है कि 'कविता अपने मूल रूप में जीवन की व्याख्या है। कवि की महत्ता इसी बात में है कि वह जीवन सम्बन्धी अपनी धारणाओं, विचारों को किस प्रकार सशक्त एव सौन्दर्यपूर्ण रूप प्रदान करता है। नैतिक आचरणों की चर्चा प्रायः संकुचित दृष्टि और मिथ्या रीति से की जाती है, उन्हें समसामयिक विश्वासों तथा विचारधाराओं के साथ जोड दिया जाता है, अतएव वे कविता में हमारे लिए भारस्वरूप एवं अरुचिकर हो जाते हैं। कभी-कभी हम उनके विरोध में कही गई उक्तियों से आकृष्ट होने लगते हैं। उस समय हमें ऐसी कविताएँ लुभाने लगती हैं जिनका आदर्श उमर ख़य्याम के इन शब्दों में है कि 'आओ, मस्जिद में जो समय हमने गँवाया है उसकी कमी मधुशाला में रहकर पूरी कर लें।' ऐसी स्थिति में नैतिकता के प्रति उदासीन कविताएँ भी कभी-कभी हमारा ध्यान ख़ीच लेती हैं जिनमें वर्ण्य विषय का ध्यान किये बिना केवल उसके रचनारूप और सौन्दर्य पर ही ध्यान दिया गया है। दोनों दशाओं मे हम भ्रान्त हो जाते हैं। इस भ्रान्ति से बचने का एक ही उपाय है कि हम केवल एक महान् तथा अमर शब्द 'जीवन' पर ही अपना ध्यान जमाए रखें और अन्त में इसका यथार्थ अभिप्राय समझने के योग्य हो जाएँ कि जो कविता नैतिक नियमों का विरोध करती है वह जीवन के प्रति विद्रोह करने लगती है, जो कविता नैतिक नियमों से तटस्थता रखती है वह जीवन से तटस्थ रहने वाली है।'

मैथ्यू आर्नल्ड की इस उक्ति से यह सकेत मिलता है कि 'कविता में जीवन-व्याख्या' से यह अभिप्राय समझा जाता है कि कविता में नैतिकता का उपदेश होता है। इसी के आधार पर कलावादी कविता का जीवन से सम्बन्ध स्वीकार करने में हिचकिचाते है और उसे जीवन से दूर किसी अन्तर्जगत् की सृष्टि मानते है। इन लोगो की दृष्टि में काव्यानुभूति सामान्य जीवन की अनुभूति से सर्वथा विलक्षण वस्तु होती है। इसका जीवन के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। जब काव्य-कला का जीवन से ही सम्बन्ध नही तब कविता में जीवन-व्याख्या का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। कलावादियों की इस दृष्टि से कविता का हृदय पर उतना ही और वैसा ही प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है जितना और जैसा किसी परदे के बेल-बूटे, मकान की नक्काशी, सरकस के तमाशे आदि का पडता है। इस धारणा के प्रचार से जाने या अनजाने कविता का लक्ष्य बहुत नीचा कर दिया गया है। इस प्रकार काव्य में जीवन-व्याख्या के सिद्धान्त का प्रबल विरोध हुआ है। इस विरोध का आधार केवल यही है कि जीवन-व्याख्या के बहाने काव्य में नैतिकता का समर्थन या उपदेश होने लगता है और उससे कला के सौन्दर्य में व्याघात पड़ जाता है।

उपदेशात्मकता के विरोध में कलावादी जो कुछ कहते है अधिकांशत: उसके साथ हम सहमत हो सकते है, परन्तु हमें इस सम्बन्ध में निर्भ्रान्त होकर विचार करना चाहिए। केवल जीवन सम्बन्धी विचारो को काव्य में ग्रहण करने मात्र से कोई काव्य निन्दनीय नही हो जाता। काव्य में नैतिकता के पक्ष का समर्थन करने वालो का यह अभिप्राय नहीं होता कि महाकवि बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह सीधे रूप से विचारो को प्रस्तुत करे या जान-बूझकर नैतिकता के लक्ष्य से लिखने लगे। इनकी भी यही धारणा है कि किसी धर्मोपदेशक के साथ कवि-कर्म को उलझाया नही जा सकता। धर्मोपदेशक का कार्य मार्ग प्रदर्शित करना या उपदेश देना है। कवि का कर्म आन्दोलित करना, सप्राण बनाना, उत्तेजित करना और आनन्दित करना है। 'कविता में जीवन-व्याख्या' के समर्थन में जो

कुछ कहा जाता है वह इस अन्तर को सम्मुख रखते हुए ही कहा जाता है। कविता अपने अन्यान्य तत्त्वों का और अपने सौन्दर्य का परित्याग किये बिना नैतिक या दार्शनिक सत्यों का परिवहन कर सकती है। इस स्थिति में काव्यत्व और उपदेशत्व में विरोध स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। काव्य और उपदेश में विचारों का होना या न होना ही विभाजक तथ्य नही है। विनियोग-विधि के अन्तर का ही यहाँ प्रमुख भाग है। कविता में जीवन-व्याख्या या नैतिकता इस रूप में आनी चाहिए कि यह प्रतीत न हो कि कवि केवल इसी उद्देश्य के लिए कविता की रचना कर रहा है। यदि कवि जीवन सम्बन्धी विचारों को, नैतिक तथ्यों को काव्य-रूप में निहित करने में असमर्थ रहेगा तो उसकी निन्दा की जा सकती है, उसका विरोध भी किया जा सकता है। हमें उस कवि की निन्दा नही करनी चाहिए जो जीवन या नैतिक सत्य का प्रतिपादन काव्यरूप में पाठक के सम्मुख रखता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि जीवन-दर्शन सम्बन्धी विचारो को कल्पना और मनोवेगो के द्वारा रूपान्तरित कर दिया जाए। उन्हे सौन्दर्यपूर्ण वस्तु के रूप में लाकर प्रस्तुत किया जाए अथवा यथार्थ काव्याभिव्यक्ति के रूप में अकित किया जाए। यदि यह बात पूरी कर दी जाए तो हम ऐसे कवि का शिक्षक या उपदेशक रूप में भी अभिनन्दन करने के लिए सहर्ष उद्यत हो सकते है क्योंकि हमें यह विश्वास है कि जीवन-सत्य या दर्शन उसके हाथों में पड़कर बहुमूल्य हो जाएगा तथा प्रबल शक्ति धारण कर लेगा।

कविता में जिस सत्य की प्रतिष्ठा की जाती है वह कवि-सत्य होता है। कवि अपने जीवन-सत्य को पाठको के सम्मुख रखने के लिए उसमें कल्पना का सम्मिश्रण कर सकता है। वह इन साधनों को प्रयोग में ला सकता है जिनसे वह सत्य अधिक सुन्दर एवं चमत्कृत होकर ग्राह्य हो सके। उसे वैज्ञानिक की भाँति निरपेक्ष रहने की आवश्यकता नही। वह भावुक है, भावावेश में मन की जो स्थिति हो जाती है उसमें तर्क की पकड़ ढीली हो जाती है। इस स्थिति में मन जिस रूप में वस्तु-दर्शन

करता है उसी रूप को कविता में रखना पड़ता है। कवि की मानसिक स्थिति के कारण वास्तविकता में जो अन्तर सम्भव हो सकता है उसे कविता में स्थान प्राप्त है। कवि वास्तविक जीवन को इस रूप में कविता में उपन्यस्त करता है कि वह जीवन से भिन्न होकर भी अभिन्न रहता है, वह यथार्थ से दूर होकर भी अयथार्थ नही होता, वह विलक्षण होकर भी असम्भावित नहीं होता। महाकवि तुलसीदास की एक सामान्य उक्ति से भावना-सत्य का स्वरूप स्पष्ट हो सकता है। धनुषभंग प्रकरण में कवि अपनी मानसिक स्थिति के अनुरूप ही जीवन-वस्तुओं का दर्शन करता है और उनका उसी रूप में चित्रण करता है। राम के प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति की भावना से कवि के मुँह से ये शब्द निकल पड़े कि 'भूप सहस दस एकहिं बारा, लगे उठावन टरे न टारा'। ये शब्द सामान्य व्यावहारिक भाषा में प्रयुक्त नही हो सकते। एक धनुष को दस सहस्र व्यक्ति एक साथ उठाने में संलग्न नही हो सकते। काव्य में ये शब्द बड़े मार्मिक है। कवि का हृदय इन्ही शब्दों के मार्ग से बाहर प्रवाहित होता दीख पड़ता है। हृदय से निकले ये शब्द पाठक के हृदय पर गहरी चोट करते हैं। यथार्थ सत्य से दूर होकर भी ये सत्य हैं। इनकी सत्यता कवि के हृदय की अनुरूपता के कारण से सिद्ध होती है। इसी प्रकार की उक्तियों से कवि पाठक के हृदय पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है और फिर अपने नैतिक उद्देश्य की ओर प्रेरित करने लगता है। नैतिक कर्मो की ओर प्रवृत्त करने के लिए वह उपदेश नही देता, वह तो ऐसा सौन्दर्यपूर्ण वातावरण पाठक के सम्मुख उपस्थित करता है कि वह उसी सौन्दर्य-दर्शन में संलग्न होकर उचित मार्ग की ओर स्वतः ही अग्रसर होने लगता है। अशुभ कर्मो का ऐसा असुन्दर रूप वह अपनी कविता के शब्दो द्वारा चित्रित करता है कि पाठक उसकी ओर से स्वतः ही मुँह मोड़ने लगता है। कवि को स्वयं उपदेशक की भाँति, शासक की भाँति प्रेरणा देने के लिए अथवा डराने-धमकाने के लिए वहाँ उपस्थित होने की आवश्यकता नही रहती। कवि कर्म-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति पाठक की अन्तः-

प्रकृति में उत्पन्न कर देता है। अभिप्राय यह है कि जीवन-व्याख्या को कविता में विन्यस्त करते समय कवि का ध्यान सौन्दर्य की ओर ही रहता है। कवि स्वयं सौन्दर्य से प्रभावित रहता है, और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। धर्मशास्त्र में जो धर्म है, पुण्य है, शुभ है, मंगल है, वही कविता में सुन्दर है; अर्थशास्त्र में जो उपयोगी है, लाभदायक है वही कविता में सुन्दर है। नीतिशास्त्र में जो पाप है, अनैतिक है, वही कविता में असुन्दर है। कविता में 'जीवन-व्याख्या' 'सुन्दरम्' का आवरण पहनकर आती है, नीति या धर्म का नही।

अतः यह स्पष्ट है कि काव्य में जीवन की व्याख्या हो सकती है। जीवन सम्बन्धी, नीति सम्बन्धी विचारों के रहते भी काव्य-सौन्दर्य अक्षुण्ण रह सकता है। इसके लिए कवि अपने विचारों को कल्पना-योग से रमणीय बना लेता है। उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि वे विचार पाठकों के भावों के विषय बन सके और उन्हे आन्दोलित एव तरंगित कर सकें। इसके बिना वे विचार काव्य-क्षेत्र के न रहकर दर्शनशास्त्र के क्षेत्र के माने जाएँगे और कवि की कीर्ति के प्रसार में अन्तरायस्वरूप हो जाएँगे।

कविता का वर्गीकरण

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में कविता के वर्गीकरण का आधार कवि का व्यक्तित्व स्वीकार किया गया है। कवि के व्यक्तित्व को आधार मानकर कविता को सामान्यतः दो वर्गों में विभक्त किया जाता है—

१. विषय-प्रधान (Objective) और २. विषयी-प्रधान (Subjective)। इन दोनों रूपो को क्रमशः वर्णन-प्रधान और भाव-प्रधान भी कह दिया जाता है।

विषय-प्रधान कविता

जहाँ कवि अपने अन्तःकरण में से बाहर की ओर आता है और बाह्य जगत् की क्रियाओं या भावनाओं के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है वहाँ कविता विषय-प्रधान, आत्म-निरपेक्ष और जन-सापेक्ष हो जाती है।

वह जन-भावनाओ से ओत-प्रोत होने के कारण जन-सुखाय मानी जा सकती है। अभिप्राय यह है कि वाह्य जगत् में आत्म-निरपेक्ष रूप से कवि को जो दृष्टिगोचर होता है उसे ही वह अपनी रचनाओं में स्थान देने लगता है।

विषय-प्रधान कविता में कवि अपने वर्ण्य विषय को अपने व्यक्तित्व के सस्पर्श से यथासम्भव दूर रखने का प्रयत्न करता है। व्यक्तित्व-निरपेक्ष होकर ही वह विषय का प्रतिपादन करता है। कवि अधिकाशतः अपने आपको परोक्ष रूप से ही अभिव्यक्त करता है। उसका व्यक्तित्व उसकी रचना द्वारा प्रकाशित होता है, वही उसका प्रतिनिधित्व करती है। कवि अपने आपको अपनी कल्पना-प्रसूत सृष्टि में छिपा लेता है। जिस प्रकार प्रजापति अपनी इस रूपात्मक सृष्टि में अन्तर्व्याप्त है उसी प्रकार कवि अपनी कल्पित सृष्टि में अन्तर्निलीन रहता है।

विषय-प्रधान कविता में कवि अपने सुख-दुःख, आशा-निराशा का वर्णन नही करता। इसमें तो कवि के युग, समाज तथा जाति की परिस्थितियो, प्रवृत्तियों, मान्यताओं तथा व्यवस्थाओं का उल्लेख रहता है। इसमें वस्तु-वर्णन की प्रधानता रहती है और कथा को आधार रूप से स्वीकार किया जाता है। कथा, पात्र, कथोपकथन, देशकाल के माध्यम से कवि अपने विचारों, अनुभूतियों, सकल्प-विकल्पो को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कवि की अनुभूतियाँ, आकांक्षाएँ या आदर्श इन पात्रों के सवादो में या घटनाओं की परिस्थितियों के चित्रण में प्रतिफलित रहते हैं।

विषयी-प्रधान कविता

जहाँ कवि अपने अन्तःकरण मे अवतरित हो जाता है और वही वाह्य जगत् की क्रियाओं तथा भावनाओं को एकत्र करके उनका साक्षात्कार करता है और फिर उन पर अपनी भावनाओं का पुट देकर अभिव्यक्त करने का यत्न करता है वहाँ कविता विषयीगत, आत्म-सापेक्ष और जन-निरपेक्ष हो जाती है। ऐसी कविता आत्म-सवेदनाओ से ओत-प्रोत होने के कारण स्वान्त.सुखाय मानी जा सकती है। अभिप्राय यह है कि अन्त-

जगत् में जो उसे अपनी अनुभूतियो या विचारो के रूप मे दृष्टिगोचर होता है उसे ही वह अपनी कविता का विषय बनाने लगता है। यही कारण है कि इस प्रकार की कविता को भाव-प्रधान भी कहा जाता है।

इसमें वर्ण्य विषय वाह्य जगत् से ग्रहण नही किये जाते अपितु अपने अन्तर्जगत् को ही कवि प्रतिपाद्य विषय बना लेता है। अतएव इस प्रकार की कविता में सर्वाशतः कवि का व्यक्तित्व ही प्रतिध्वनित होने लगता है। इसमें कवि का अन्तर्नाद गूंजने लगता है और वाह्य जगत् की उपेक्षा झलकने लगती है।

विषयी-प्रधान कविता में कवि अपने व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष रूप से ही अभिव्यक्त करता है। वह अपनी सृष्टि में छिपा नही रहता। उसकी सृष्टि का एक-एक अंश उसकी झाँकी देने में समर्थ रहता है। वह और उसकी सृष्टि परस्पर अभिन्न परिलक्षित होते हैं। यह सृष्टि उसका मूर्त्त रूप बन जाती है। इसमें युग प्रतिफलित नही होता। युग की सामान्य धारणाएँ, प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ वा व्यवस्थाएँ इसमें उल्लिखित नही होती। इसमें तो कवि की अपनी संवेदनाएँ, मान्यताएँ, प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ ही साकार रूप धारण करने लगती है। कवि के अपने सुख-दुःख, आशा-निराशा, संकल्प-विकल्प स्थूल शब्दों का रूप धारण करके प्रत्यक्ष होने लगते हैं।

इस प्रकार की कविता में वस्तु-वर्णन के स्थान पर आत्म-प्रकाशन की प्रधानता रहती है। इसमें कथा, पात्र, कथोपकथन, देशकाल को आधार नही बनाया जाता। कवि अपने मनोवेगों वा धारणाओं के वर्णन के लिए वाह्य साधनों का आश्रय नही लेता।

पाश्चात्य वर्गीकरण के आधार की समीक्षा

कवि के व्यक्तित्व के आधार पर कविता का यह वर्गीकरण उचित प्रतीत नही होता। यदि गम्भीरता से विवेचन किया जाए तो कोई भी कविता ऐसी नहीं मिलेगी जिसमें कवि का वैयक्तिक दृष्टिकोण अभिव्यक्त न होता हो। कवि-कल्पना से नितान्त असंपृक्त रचना तो संभव ही नही

है। अतः विषयगत कविता में भी व्यक्तित्व समुचित मात्रा में विद्यमान रह सकता है। दूसरी ओर विषयीगत कविता का यद्यपि मूल आधार व्यक्तित्व होता है तथापि उसमें एकान्ततः वैयक्तिक अनुभूतियाँ इस रूप में वर्णित की जाती है कि वे सामान्य मानव के साथ सम्बन्ध रखने वाली प्रतीत होती हैं। वे सर्व-मानव-प्रकृति से सम्बद्ध होने के कारण ऐसी बन जाती है कि प्रत्येक पाठक उनके साथ अपना तादात्म्य कर सकता है। पाठक कविता में अभिव्यक्त अनुभूतियों को अपनाने में समर्थ हो सकता है। जब कवि अपने हृदय का मानव-हृदय के साथ सामंजस्य स्थापित करके अपनी अनुभूतियाँ प्रकाशित करता है तब उसकी ये अनुभूतियाँ उसकी न होकर जन-समुदाय की कहलाती है। चाहे कवि अपने व्यक्तित्व को जन-समुदाय में प्रतिफलित करके प्रकट करे चाहे जन-समुदाय के व्यक्तित्व को अपने व्यक्तित्व में समाहित करके प्रकट करे दोनो ही स्थितियों में रहता तो व्यक्तित्व का प्रकाशन ही है, अतः व्यक्तित्व-प्रकाशन को आधार बनाकर कविता का विभाजन पूर्ण संगत नही कहला सकता।

इसी प्रकार वर्णन-प्रधान तथा भाव-प्रधान ये नाम भी विशेष सार्थक नही कहे जा सकते। भावों की प्रधानता तो सब प्रकार की कविताओं में रहती है। भावशून्य रचना तो कविता के अन्तर्गत परिगणित नही हो सकती। कविता के इन दोनों रूपो में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही डाली जा सकती। अधिकतर कविताओं में स्व-पर का, आत्म और अनात्म का, स्वान्तःसुखाय और जनसुखाय का निरन्तर सम्मिश्रण कर दिया जाता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में इसीलिए कवि के व्यक्तित्व को भेद-विवेचन में महत्त्व नही दिया गया है। यहाँ तो आत्म-प्रकाशन के प्रकार को महत्त्व दिया गया है। इसी को आधार बनाकर भारतीय आचार्यो ने प्रबन्ध और मुक्तक ये दो भेद किये है। विषय-प्रधान कविताएँ प्रबन्ध कोटि की है और विषयी-प्रधान कविताएँ प्रायः मुक्तक श्रेणी के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं।

विषय-प्रधान कविता और उसके भेद

संसार के साहित्य का विश्लेषण करने से विदित होता है कि कविता

का मूल जन-समूह की ही आन्तरिक भावनाओं को प्रकट रूप मे लाने की इच्छा में है न कि व्यक्तिविशेष की। भारतीय साहित्य का अनुशीलन भी इसी तथ्य का परिचायक है। वैदिक साहित्य किसी एक व्यक्ति का अन्तर्नाद नहीं कहा जा सकता। उसमें जन-समूह की भावनाएँ ही झंकृत हो उठी हैं। वाह्य जगत् का व्यापक विश्लेषण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। रामायण और महाभारत में भी कवि का अत्यन्त वैयक्तिक दृष्टि-कोण या भाव प्रतिफलित नहीं हुआ है। इनमें तो जाति का, युग का प्रति-फलन हुआ है। यही कारण है कि आज इनके साथ वाल्मीकि और व्यास का नाम उस रूप में नहीं जोड़ा जा सकता है जिस रूप में आजकल की रचनाओं के साथ स्रष्टा कवि का नाम जुड़ा प्रतीत होता है। रामायण और महाभारत तो ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानों ये हिमालय और गंगा की भाँति भारत ही हैं। व्यास और वाल्मीकि तो निमित्तमात्र हैं।

आधुनिक जगत् की अत्यन्त समृद्ध वैयक्तिकता का स्वाभाविक परि-णाम यह हुआ है कि कविता में व्यक्तित्व-भावना की वृद्धि होने लगी है और जातीय या सामुदायिक भावना का लोप होता जा रहा है। फिर भी जन-चेतना अब भी सर्वथा नष्ट नहीं हुई है। वह अब भी कविताओं में प्रकट हो रही है। देशभक्ति के गीत इसी प्रकार के हैं। जब जन-समुदाय की भावनाएँ प्रत्येक व्यक्ति की मनोभूमि में प्रसरित होने लगती हैं, प्रत्येक जब अपने स्वार्थों के घेरे से बाहर निकलने लगता है तब कविता में विशेषतया जातीय तत्त्व समाविष्ट होने लगते हैं। यही कारण है कि छाया-वादी कवि अन्ततः प्रगतिवादी धारा को अपनाने को विवश हो गए हैं। जन-समुदाय की भावनाओं के समृद्ध होने पर विषय-प्रधान कविता स्वतः ही पनपने लगती है।

विषय-प्रधान कविता मुख्यतः दो प्रकार की होती है—(१) प्रकथना-त्मक और (२) नाटकीय। इनको क्रमशः प्रबन्ध काव्य तथा नाटकीय बन्ध काव्य भी कह सकते हैं।

प्रबन्ध काव्य और उसके भेद

जहाँ किसी घटना का या किसी व्यक्ति का अथवा अनेक व्यक्तियों का क्रमबद्ध वर्णन हो, पूर्वापर सम्बन्ध जिसमें विद्यमान हो, ऐसे काव्य को 'प्रबन्ध काव्य' कहते हैं।

प्रबन्ध काव्य के सामान्यतः पाँच भेद हो सकते हैं—(१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य, (३) एकार्थकाव्य, (४) मुक्तकप्रबन्ध और (५) गीतिकथा।

महाकाव्य

जिसमें किसी महान् व्यक्ति के जीवन का अनुबन्ध सहित, पर्याप्त विस्तार के साथ वर्णन हो उसे महाकाव्य कहा जाता है।

महाकाव्य में सामान्यतः वर्णन की प्रधानता रहती है। इसी विशेषता के द्वारा वह पाठको को उत्तेजित कर सकता है, उन्हें करुणार्द्र कर सकता है, उन्हें विस्मय-विमुग्ध, गौरवान्वित कर सकता है। विश्व का इतना व्यापक चित्रण उसमें होता है कि उसके द्वारा पाठक अप्रत्यक्ष वस्तु का भी प्रत्यक्ष दर्शन करने योग्य हो जाता है। वह एक महान् व्यक्ति के चरित्र को लेता है और उस व्यक्ति के महत्कार्यों का उल्लेख करके पाठकों के हृदय में श्रद्धा और गर्व की अनुभूति का संचार कर देता है।

महाकाव्य का विवेचन भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-दर्शन में प्रायः एक ही रूप में हुआ है। भारतीय तथा पाश्चात्य आदर्शों में विशेष अन्तर नही है। इन दोनों दृष्टिकोणों के आधार पर यदि महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन किया जाए तो महाकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हमारे सम्मुख आने लगती हैं :—

वर्ण्य विषय सम्बन्धी.—सर्वप्रथम वर्ण्य विषय की दृष्टि से यदि महाकाव्य के स्वरूप पर विचार किया जाए तो पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार महाकाव्य का विषय, परम्परा से प्रतिष्ठित और लोकप्रिय होता है। यही बात प्रकारान्तर से भारतीय आचार्यों ने भी स्वीकार की है। साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य के विषय के सम्बन्ध में कहा है:— 'इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्' अर्थात् महाकाव्य का इतिवृत्त

प्रसिद्ध इतिहास से ग्रहण किया जाना चाहिए अथवा किसी लोकप्रसिद्ध सज्जन एव शिष्ट महापुरुष का वृत्तान्त महाकाव्य में वर्णित होना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि वर्ण्य विषय की दृष्टि से दोनों आलोचकों में कोई मतभेद नही है।

पात्र सम्बन्धीः—इसी प्रकार यदि पात्र-नियोजन की दृष्टि से महाकाव्य के लक्षणों पर विचार किया जाए तो पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार महाकाव्य के पात्रो में शौर्य गुण की प्रधानता होनी चाहिए। विशेषतया नायक को तो युद्धप्रिय होना ही चाहिए। पात्र प्रायः लौकिक ही होने चाहिएँ परन्तु अलौकिक पात्रो का भी समावेश निषिद्ध नही है। प्रायः आलोचक यह बात स्वीकार करते हैं कि महाकाव्य में मानव जाति के अतिरिक्त देवता, भूत, प्रेत आदि अलौकिक प्राणियों को भी पात्र बनाया जा सकता है। कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जो यह कहते है कि महाकाव्य के पात्रों के कार्यकलाप में देवताओं वा दिव्य शक्तियों का हस्ताक्षेप नही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त महाकाव्य में उल्लिखित चरित्रो में विविधता, नवीनता तथा व्यक्तिवैचित्र्य भी दृष्टिगोचर होना चाहिए। ठीक यही बात अपने ढंग से भारतीय आचार्यों ने भी अपने विवेचन में स्वीकार की है। साहित्यदर्पणकार का कथन है :—'तत्रैको नायकः सुरः। सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः। एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा', अर्थात् महाकाव्य में एक नायक होना चाहिए। वह नायक देवता या अलौकिक व्यक्ति भी हो सकता है और धीरोदात्त, कुलीन क्षत्रिय भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य में एक वंश में उत्पन्न होने वाले बहुत से राजाओ को भी नायक बनाया जा सकता है अर्थात् महाकाव्य में एक से अधिक नायक हो सकते है परन्तु उसके लिए यह आवश्यक है कि वे एक वंश से ही सम्बन्ध रखने वाले हों। वंश की एकता उस सारे कथानक में एकता की सृष्टि कर सकती है।

शैली सम्बन्धीः—शैली अथवा रूप-विधान की दृष्टि से यदि महाकाव्य के स्वरूप का चिन्तन किया जाए तो पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के

अनुसार इसमें प्रकथन की मुख्यता रहती है। इसमें इतिहासकार की भाँति कहानी का कथन किया जाता है। यह कहानी आकार और विस्तार में वृहद् होनी चाहिए। कथा में एकसूत्रता रहनी चाहिए अर्थात् कथा के तन्तु परस्पर अविच्छिन्न रूप से जुड़े रहने चाहिएँ। यह एकसूत्रता नायक द्वारा सम्पादित की जा सकती है। सारे सूत्र इसी नायक को केन्द्र बनाकर परस्पर आबद्ध रहने चाहिएँ।

महाकाव्य की कथावस्तु दो प्रकार की हो सकती है:—(१) सरल (२) जटिल। यदि नायक के भाग्य में पर्याप्त स्थिरता प्रतीत होगी और उसमें विशेष गति न दिखाई देगी तो कथा सरल कहलाएगी। यदि नायक के भाग्य में गति रहेगी और उसमें किसी प्रकार का उत्थान या पतन उल्लिखित रहेगा तो कथा जटिल कहलाएगी। वह जटिल कथा भी दो प्रकार की हो सकती है:—(१) एक-रूप गति वाली (२) भिन्न-रूप गति वाली। जिस कथा में नायक लौकिक अभ्युदय की ओर निरन्तर बढ़ता हमें दिखाई दे या विपन्नता की ही दिशा में अग्रसर होता परिलक्षित हो तो उस कथा की गतिविधि में एकरूपता रहेगी और इसके विपरीत यदि नायक का भाग्य सदा संशय की स्थिति में रहता है, वह कभी अभ्युदय की ओर और कभी विपन्नता की ओर बढता दिखाई पड़ता है तो वहाँ कथागति विभिन्न सरणियो में प्रवाहित होगी, उसकी गतिविधि में भिन्नता उत्पन्न हो जाएगी। श्रेष्ठ महाकाव्य में इसी प्रकार की कथा को स्थान दिया जाता है। इस प्रकार का महाकाव्य पाठक के हृदय पर अधिक गम्भीर प्रभाव डालने वाला होता है।

प्रभावोत्पादकता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि महाकाव्य की वर्णनशैली में विशदता तथा उत्कृष्टता विद्यमान हो। वर्णन के लिए प्राय: अन्य-पुरुष शैली ही ग्रहण की जाती है। कथा का विभाजन सर्गों में होता है और एक सर्ग मे एक ही छन्द का प्रयोग उत्तम समझा जाता है। महाकाव्य की कथा के प्रारम्भ तथा उपसहार के उपलक्ष्य में कोई स्थिर एवं निश्चित नियम नही है। विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार से काव्य-कथा

का प्रारम्भ कर दिया जाता रहा है। प्रारम्भिक यूनानी वीरकाव्यों में वाग्देवता के आवाहन से कथा प्रारम्भ की जाती थी। कभी-कभी समवेत गान से भी काव्य प्रारम्भ किया जाता था। इसके अतिरिक्त कहानी के बीच में से ही प्रारम्भ कर देने की प्रणाली भी उपलब्ध होती है। उप-संहार के लिए भी कोई विशेष नियम पाश्चात्य परम्परा में प्राप्त नही होता। कथा किसी ऐसे गीत के साथ भी समाप्त की जा सकती है जिसमें प्राय: उस व्यक्ति का नाम रहता है जिसे सम्बोधित करके वह कविता की जाती है। इस प्रकार समर्पण-विधि से कथा की समाप्ति की जा सकती है। प्राय: नाटकीय ढंग से कहानी की समाप्ति अधिक उपादेय स्वीकार की जाती है।

शैली तथा रूप-विधान की दृष्टि से यदि भारतीय काव्य-शास्त्र को आधार बनाकर महाकाव्य का विवेचन किया जाए तो हम देखेंगे कि सबसे पहली बात जो इस सम्बन्ध में कही जाती है वह है 'सर्गबद्धता'। इस विशेषता को ही महाकाव्य का सक्षिप्त लक्षण कहा जा सकता है। 'सर्ग-बन्धो महाकाव्यम्' का सकेत इसी बात की ओर है। इसके अनुसार महा-काव्य की कथा सर्गों में विभक्त की जानी चाहिए और ये सर्ग न बहुत छोटे और न बहुत बड़े होने चाहिएँ। संख्या में ये आठ से कम न हों। सर्ग में छन्द एक ही प्रकार का रहना चाहिए। हाँ, सर्ग के अन्त में छन्द की भिन्नता भी हो सकती है। यह शैली की विशदता के लिए आवश्यक है अन्यथा कथावस्तु में अस्पष्टता या प्रवाहशून्यता के आने की आशंका रहती है। भारतीय काव्य-शास्त्र में एक ही सर्ग में अनेक-वृत्त-विधान का सर्वथा निषेध नही है परन्तु अधिकतया एक-वृत्तमयता का ही समर्थन परिलक्षित होता है। सर्ग के अन्त में भावी सर्ग की कथा की सूचना भी रहनी चाहिए। पाश्चात्य काव्य-विवेचन के अनुरूप ही भारतीय विवेचन में भी कथा के प्रारम्भ और उपसंहार के कोई विशेष निश्चित नियम स्वीकार नही किये जाते। साधारणतया प्रचलित परम्परा का ही उल्लेख कर दिया गया है। कथा-प्रारम्भ में किसी देवता के प्रति नमस्कार का

विधान हो सकता है। आशीर्वादात्मक पद्य से भी काव्य-कथा प्रारम्भ हो सकती है। वर्णनीय वृत्त के नायक का नाम आदि भी निर्दिष्ट किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त खल-निन्दा, सज्जन-स्तुति से भी कथा प्रारम्भ हो सकती है।

भारतीय परम्परा में प्राय: कथा का प्रारम्भ मंगलाचरण से किया जाता है। इस मंगलाचरण में विशेषतया गणेश जी और सरस्वती जी की स्तुति की जाती है। उपसंहार मगलकामना तथा माहात्म्यवर्णन के साथ किया जा सकता है।

उद्देश्य सम्बन्धी:—उद्देश्य की दृष्टि से यदि महाकाव्य के स्वरूप पर विचार किया जाए तो भारतीय तथा पाश्चात्य परम्पराओं में कुछ अन्तर परिलक्षित होता है। पाश्चात्य विवेचकों ने महाकाव्य में जातीय भावनाओं के समावेश पर विशेष बल दिया है। उनकी दृष्टि में जातीय संघर्ष विशेष रूप में महाकाव्य में उल्लिखित रहना चाहिए। महाकाव्य में केवल व्यक्ति का चरित्र-चित्रण ही नहीं रहता, उसमें सम्पूर्ण जाति के क्रियाकलाप का वर्णन होता है। व्यक्ति की अपेक्षा उसमें जातीय भावना प्रधान रहती है। भारतीय लक्षण में यह तथ्य इस रूप में नहीं आ सका है। यहाँ जातीय तत्त्व परोक्षत: उल्लिखित हुए हैं। साहित्यदर्पण में महाकाव्य का स्वरूप वर्णित करते हुए जहाँ प्राकृतिक वातावरण प्रस्तुत करने का विधान हुआ है वहाँ साथ ही सामाजिक वातावरण का भी विधान स्पष्टतया हो गया है। महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रात:काल, मध्याह्न, ऋतु तथा सागर आदि प्राकृतिक पदार्थों का वर्णन हो सकता है। इसके अतिरिक्त महायज्ञों, संग्रामों, विवाह आदि सामाजिक प्रथाओं वा विधियों का वर्णन हो सकता है। इन सामाजिक वर्णनों में या युद्ध, यज्ञादि कार्यों के वर्णनों में जातीय भावना स्वत: ही महाकाव्य का अंग बन जाती है। भारतीय विवेचन में यद्यपि स्पष्टतया जातीय भावना के समावेश का उल्लेख नही हुआ है तथापि प्रकारान्तर से यही बात महाकाव्य के लक्षण में स्थान पा ही गई है। संक्षेप में, भारतीय महाकाव्यों में

जातीय भावनाओं का युद्ध, यात्रा तथा ऋतु के वर्णनों द्वारा समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से भारतीय तथा पाश्चात्य महाकाव्य सम्बन्धी आदर्शों में कोई भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता।

रसोत्पत्ति का उल्लेख भारतीय काव्य-दर्शन की अपनी विशेषता है। रसभावना पाश्चात्य काव्य-दर्शन में नहीं आ सकी है। भारतीय दृष्टि से महाकाव्य में शृंगार, वीर, शान्त इन तीनों रसों में से एक रस प्रधान होना चाहिए और अन्य रस अङ्गभूत होकर आने चाहिएँ। रसानुभूति का प्रश्न भारतीय काव्य-दर्शन का अपना प्रश्न है। महाकाव्य सम्बन्धी विवेचन में यदि कोई मुख्य भेद दोनों दृष्टिकोणों में उपस्थित किया जा सकता है तो रस-विवेचन ही है।

भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के नामकरण के उपलक्ष्य में भी विचार किया है। महाकाव्य का नाम इतिवृत्त के आधार पर, कवि के नाम पर रखा जा सकता है। सर्गों के नाम भी तदन्तर्गत कथांशों को दृष्टि में रखते हुए रखे जा सकते हैं।

महाकाव्यों के दो रूप

पाश्चात्य काव्य-विवेचन में महाकाव्य के ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से दो भेद मान लिए जाते हैं:—(१) प्राचीन महाकाव्य (२) अर्वाचीन महाकाव्य। पहले रूप को विकासोत्पत्ति या प्राकृतिक महाकाव्य (Epic of Growth) कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे रूप को कला का महाकाव्य या आनुकारिक महाकाव्य (Epic of Art) कहते हैं। यदि इन दोनों रूपों की परस्पर तुलना की जाए तो इनका भेद स्पष्ट किया जा सकता है। प्राकृतिक महाकाव्य आनुकारिक महाकाव्य की भाँति किसी एक लेखक की रचना नहीं होती। वह किसी सीमा तक विकास-प्रक्रिया और संग्रहकरण का परिणाम होता है अर्थात् कथाओं के रूप में, लोक-गीतों के रूप में या जनश्रुतियों के रूप में जो सामग्री पूर्व विद्यमान रहती है उसे एकत्र करके रचना के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। इस प्रकार

के महाकाव्य को इसी कारण लोकप्रचलित सामग्री के सहविकास तथा संश्लेषण की बड़ी शृंखला का अन्तिम रूप समझा जाता है। पाश्चात्य महाकाव्यों में इलियड (Iliad), ओडेसी (Odyssey) को यही नाम दिया जा सकता है। भारतीय महाकाव्यों में रामायण और महाभारत को इसी प्रकार का महाकाव्य कहा जा सकता है।

आनुकारिक महाकाव्य प्रचलित पद्धति के अनुसार विकसित कला-कौशल के काल में एक व्यक्ति की प्रतिभा का परिणाम होता है। साहित्य के इतिहास में इस प्रकार के महाकाव्य का भी अपना विशेष महत्त्व है। अपनी मौलिक विशेषताओं में यह प्राकृतिक महाकाव्य के अनुरूप होता है क्योकि यह अन्ततः उसी पर आधारित होता है। इसका वर्ण्य विषय भी वही पुराना महच्चरित्र होता है। यह भी उसी रचना-विधि का अनुसरण करता है। इसके रचनाकाल मे वीरगाथाएँ या अन्य प्रचलित जनश्रुतियाँ सामग्री के रूप में नही होती, इन्हे तो अब कवि द्वारा आविष्कृत करना पड़ता है या अनुसन्धान द्वारा ढूँढ निकालना पड़ता है और स्वीकृत साहित्यिक परम्परा के सूक्ष्म नियमों या सिद्धान्तो के अनुसार उनसे उपयोग लेना पड़ता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक महाकाव्य नूतन, स्वतः प्रवाहित तथा वेगपूर्ण होता है; आनुकारिक महाकाव्य प्राचीन, उपार्जित तथा शास्त्रीय या अनुकरण रूप होता है।

हिन्दी के महाकव्य

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य है। डा० श्यामसुन्दर दास इसे महाकाव्य न मानकर एक विशालकाय वीरकाव्य मानते हैं। 'पद्मावत' महाकाव्य की रचना फारसी की मसनवी शैली पर हुई है, संस्कृतप्रबंध काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर नहीं। फिर भी शृंगार, वीर आदि रसों का वर्णन परम्परागत भारतीय पद्धति के अनुसार किया गया है। रामचरितमानस और रामचन्द्रिका भी हिन्दी के प्रसिद्ध महाकाव्य है।

आधुनिक युग के महाकाव्यों में सामान्यतः प्रियप्रवास, साकेत, कामा-

यनी, साकेत सन्त, कृष्णायन, वैदेही बनवास, कुरुक्षेत्र, आर्यावर्त, दैत्यवंश तथा नूरजहाँ आदि प्रसिद्ध हैं।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' दोनो को एकार्थ काव्य[1] माना है। सर्गों और छन्दो की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' में महाकाव्य के लक्षण का पूर्ण निर्वाह हुआ है तथापि गोपियों के विरह-वर्णन के बहाने से ही कृष्ण-चरित्र का उद्घाटन किया गया है; अतः इसका मूल ध्येय विरह-वर्णन ही प्रतीत होता है। यही कारण है कि इसे महाकाव्य कहने में संकोच किया जा सकता है।

'साकेत' में भी 'प्रियप्रवास' की भाँति बहुत सा घटना-क्रम स्मृति के रूप में आया है और उर्मिला के अत्यधिक विरह-वर्णन के कारण घटना-प्रवाह कुछ कुण्ठित सा हो गया है। फिर भी 'प्रियप्रवास' की अपेक्षा घटनाओं का प्रत्यक्ष वर्णन अधिक है और यह प्रबन्ध काव्य के आदर्शों के अधिक समीप है। इस पर मुक्तक काव्य का प्रभाव भी स्पष्ट है। गीतो का प्रयोग इसका प्रमाण है।

कामायनी नायिका-प्रधान महाकाव्य है। मुक्तक काव्य का इस पर भी प्रभाव पड़ा है। इसे भी एकार्थकाव्य कहना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। श्री गुलाबराय जी की सम्मति में कामायनी और साकेत में महाकाव्य के चारों तत्त्व सानुबन्ध कथा, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। साकेत, कामायनी आदि आधुनिक प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य का पद न देना इस युग के साथ अन्याय है।

आजकल के महाकाव्यों में प्रकथन के साथ प्रगीत तत्त्व भी आ रहा है। यह युग का प्रभाव है।

खण्डकाव्य

जब किसी बड़ी कथा का कोई एक अंश या खण्ड लेकर उस पर काव्य रचा जाता है तब वह खण्डकाव्य कहलाता है। इसकी शैली महा-

---

१. इसका वर्णन आगे आ रहा है।

काव्य के ही अनुरूप होती है परन्तु इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित होता है। इसमें जीवन की वह अनेकरूपता नहीं रहती जो महाकाव्य में होती है। इसमें कहानी और एकांकी की भाँति एक ही प्रधान घटना को आधार बनाया जाता है। मानव जीवन के किसी एक ही पक्ष पर प्रकाश डालने के लिए इसकी योजना की जाती है।

खण्डकाव्य का लक्षण यह भी किया जा सकता है—'जिस काव्य में किसी महापुरुष के जीवन के एक ही अग का विश्लेषण हो उसे खण्ड-काव्य कहते हैं।' अंग्रेजी में इस रूप के लिए कोई विशेष नाम नही है। इसे तो प्रकथनात्मक काव्य (Narrative Poetry) के अन्तर्गत माना जा सकता है।

हिन्दी में जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, रामलला नहछू, भ्रमरगीत, रासपचाध्यायी, गोरा बादल की कथा, सुदामाचरित, जयद्रथवध, पथिक, मिलन, स्वप्न आदि प्रसिद्ध काव्य खण्डकाव्य के उदारहण हैं।

एकार्थकाव्य

आजकल हिन्दी मे कुछ ऐसे काव्यों की रचना हुई है जिन पर महा-काव्य के लक्षण पूर्णतया नही घटते। ऐसे काँव्यों को श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने एकार्थकाव्य की संज्ञा दी है, और इसका स्थान महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच माना है। उनका कथन है कि महाकाव्य में कथा-प्रवाह विविध भंगिमाओं के साथ मोड़ लेता आगे बढता है किन्तु एकार्थकाव्य में कथा-प्रवाह के मोड कम होते हैं। इस प्रकार एकार्थकाव्य में महाकाव्य की भाँति कथा के विभिन्न अंगों का उचित अनुपात से विस्तार नहीं होता। इसमें तो किसी एक भाव की अभिव्यंजना पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया जाता है। परिणामतः कथा-प्रवाह निरुद्ध होकर ही प्रवाहित होता है। लेखक का ध्यान कथा की ओर न रहकर वस्तुवर्णन या भावव्यंजना की ओर रहता है। कथा की गति सरल और विस्तार संक्षिप्त रहता है। उदाहरण के लिए रत्नाकर जी का 'गंगावतरण' लिया जा सकता है।

मुक्तक प्रबन्ध

यदि मुक्तक छन्दों का इस प्रकार क्रमबद्ध विन्यास किया जाए कि उनसे कथा का निर्माण होता प्रतीत हो तो उसे मुक्तक प्रबन्ध कह दिया जाता है। इस प्रकार की रचना का प्रत्येक छन्द अपने आपमें पूरा होता है, अतः वह रूप में मुक्तक कहला सकता है। क्रम-बद्ध विन्यस्त होकर वह कथा के शरीर का अंग भी परिलक्षित होता है इसीलिए वह प्रबन्ध काव्य की कोटि का निर्माण भी कर देता है। उदाहरण के लिए रत्नाकर जी का 'उद्धवशतक' लिया जा सकता है।

गीतिकथा

यदि मुक्तक गीतों का इस प्रकार क्रमबद्ध विन्यास किया जाए कि उनसे कथा का गठन होता परिलक्षित हो तो उसे गीतिकथा का नाम दिया जाता है। अपने आपमें पूर्ण होने के कारण ये होते तो मुक्तक गीत हैं परन्तु क्रम-बद्ध विन्यास से कथा की शृंखला भी बना देते हैं अर्थात् ये गीत रूप मे कथाएँ हैं। सूरदास की 'सूरसागर' की रचना बहुत कुछ इसी शैली की है। अंग्रेज़ी में इस प्रकार का एक रूप बैलेड (Ballad) कहलाता है। सामान्यतः भावों को उद्दीप्त करने वाले, कथा-संयुक्त गीतों को गीतिकथा का नाम दिया जाता है।

नाटकीय बन्ध काव्य

विषय-प्रधान कविता का दूसरा रूप नाटकीय है। नाटकीय कविता (Dramatic Poetry) एक प्रकार से छन्दोमय आत्मचरित होती है। इसमें किसी कथा के पात्र अलग-अलग आत्मानुभव या आत्म-भावना को अभिव्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'द्वापर' लिया जा सकता है। यह नाटकीय काव्य का उत्तम स्वरूप प्रस्तुत करता है। इसमें प्रत्येक पात्र अपने मुख से ही अपने मनोभावों का प्रकाशन करता है। नाटकीय शैली पर लिखे होने के कारण यह रूप नाटक के अधिक समीप है और परस्पर सम्बद्ध रहने के कारण प्रबन्ध काव्य का ही भेद

माना जा सकता है। नाटक की भाँति इसका उद्देश्य रंगभूमि पर प्रदर्शन नही होता अपितु इसे पढने के लिए ही लिखा जाता है। कविता के इस रूप मे कवि अपने आपको अन्तर्लीन कर देता है। वह अपने व्यक्तित्व का बाहर से प्रदर्शन नहीं करता। यह नाम केवल उन्ही कविताओं को दिया जाता है जिनमें कवि एक पात्र का रूप धारण कर लेता है। कवि स्वयं इस पात्र की मनोदशाओं और अनुभूतियों में अन्तःप्रविष्ट हो जाता है और फिर उसके विचारों और अनुभूतियों को प्रतिनिधित्व रूप से अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इसका एक भेद 'नाट्यकथा' कहाता है। इसमें सारी कथा कथोपकथन द्वारा कही जा सकती है। इसी प्रकार एक अन्य भेद नाटकीय स्वगत या आत्म-भाषण (Dramatic Monologue) भी किया जा सकता है। इस रूप में पात्र की मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है। अतः कविता का यह रूप मुख्यतया मनोवैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक, चिन्तन-प्रधान और तर्क-प्रधान होता है। इसमे कवि एक प्रकार से अपने दार्शनिक मन्तव्यो का प्रकाशन ही करता है। पात्र लेखक का प्रतिनिधि बनकर पाठक के सम्मुख उपस्थित होता है।

विषयी-प्रधान कविता और उसके भेद

विषयी-प्रधान कविता प्रायः गीतिकाव्य के नाम से अभिहित की जाती है। यह प्रबन्ध काव्य तथा नाटक से भिन्न प्रकार की होती है। इसमें कवि अपने आपमें ही लीन रहता है। इस विषयीगत कविता का विषय-क्षेत्र असीम है क्योंकि इसमें सभी प्रकार के अनुभवो को अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। इसमें वे अनूभूतियाँ वर्णित हो सकती है जो सर्वथा कवि की अपनी या उसके ही व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती है। इसमें ऐसी अनुभूतियाँ भी सगृहीत की जा सकती है जिनके साथ व्यापक रूप से सारी मानव जाति की रुचि का सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रकार आनन्दोल्लास सम्बन्धी, मद्यपान सम्बन्धी, जीवन के स्थूल या सामान्य विषय सम्बन्धी, प्रेम सम्बन्धी गीत लिखे जा सकते हैं। इन विषयी-प्रधान गीतों में प्रेम के

साथ संचरण करने वाली भावनाओं, आशाओं, उमंगों को, हर्ष-शोक को वर्णित किया जा सकता है। देशभक्ति सम्बन्धी, धर्मभावना सम्बन्धी गीत भी इस रूप में परिगणित हो सकते हैं।

प्रगीत या गीति कविता के उपलक्ष्य में कुछ प्राथमिक बाते ऐसी हैं जिन पर ध्यान देना अपेक्षित होता है। जिस भाव से या सवेग से उद्वेलित होकर यह गीति लिखी जा रही है उस भाव की विशेषता पर तथा उसके वर्णन करने की रीति पर सबसे पहले ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उत्तम गीति कविता से यह अपेक्षित है कि वह पाठक को यह अनुभव कराए कि उसमें वर्णित भावना उपयुक्त है, विशेष प्रयोजन की है। उसकी सत्यता हमें प्रभावित करे। उसकी भाषा और कल्पला जहाँ सौन्दर्य और स्पष्टता के गुणों वाली हो वहाँ विषय और उसके माध्यम की उपयुक्तता भी होनी आवश्यक है। शुद्ध गीति में केवल एक ही भावना की अभिव्यक्ति से प्रयोजन रहता है, इसलिए संक्षिप्तता और घनता से प्रभावोत्पादकता की उत्पत्ति हो जाती है। अनुपयुक्त विस्तार इसकी प्रभावोत्पादकता में न्यूनता ला देगा।

यद्यपि गीतिकाव्य का प्रधान मूलतत्त्व व्यक्तित्व होता है तथापि संसार के सारे उच्च कोटि के गीतिकाव्य को साहित्य में इसी कारण से विशेष स्थान मिला है कि उसमें केवल वैयवितक बातों को वर्णित करने के स्थान पर ऐसी बातें रखी गई है जो मानवीय हैं, मानव के सामान्य स्वार्थों से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। उसे पढ़ते हुए पाठक उसमें ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पाता है जिसमें वह भी स्वयं पूर्णतया भाग लेने मे समर्थ होता है। कहने का अभिप्रायं यह है कि कवि की वैयक्तिक भावनाएँ इस प्रकार से वर्णित होती हैं कि वे जन-समुदाय के हृदय का आकर्षण करने में समर्थ हो जाती हैं।

विषयी-प्रधान कविता कभी-कभी गीतिकाव्य के सरल भावप्रधान रूप से दर्शनप्रधान या चिन्तनप्रधान कविता के क्षेत्र में प्रविष्ट होने लगती है। उस दशा में विचारों को प्रधानता मिलने लगती है। इस स्थिति में

भाव-सौन्दर्य, भाषा की विशदता, कल्पना की उपयुक्तता आदि गुणों के साथ यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि इसमें जो विचार आयें वे स्थिर मूल्य वाले ही हो और वे बड़ी कुशलता से भाव के रूप मे परिवर्तित कर दिये जाये। इस दिशा में विचारों का सवेगीकरण एक समस्या का रूप धारण कर लेता है।

विषयी-प्रधान कविता को भारतीय काव्य-शास्त्र में मुक्तक काव्य के अन्तर्गत माना जा सकता है। मुक्तक काव्य में प्रबन्ध काव्य के समान कथा द्वारा रसाभिव्यक्ति नही होती। यदि पूर्वापर प्रसग के बिना ही किसी कविता को पढ़ने से रसानुभूति हो जाए तो वह मुक्तक काव्य का एक भेद बन जाती है। मुक्तक काव्य के प्राय: दो भेद किये जाते हैं—'(१) पाठ्य मुक्तक (२) गेय मुक्तक।

जो मुक्तक गेय नही होते उन्हें पाठ्य कह दिया जाता है। इन दोनों क. विभाजक तत्त्व सगीतात्मकता ही है। हिन्दी साहित्य में नीति, शृगार, वीर रस विषयक सूक्तियाँ तथा दोहे पाठ्य मुक्तक के रूप में स्वीकार किये जाते है। बिहारी सतसई, दुलारे दोहावली तथा वीर सतसई इस रूप के उदाहरण माने जा सकते है।

विषयी-प्रधान कविता का वास्तविक रूप गेय मुक्तको में ही स्पष्ट होता है। गेय मुक्तकों को ही आजकल गीतकाव्य, गीतिकाव्य या प्रगीत काव्य कहा जाता है। अग्रेजी में इसे लिरिक पोयट्री (Lyric Poetry) कहते है। अग्रेजी में इस प्रकार की कविता के दो लक्षण मिलते है। एक लक्षण के अनुसार गीतिकाव्य निश्चय रूप से किसी विचार, भाव या स्थिति को प्रकट करता है और दूसरे लक्षण के अनुसार गीतिकाव्य के लिए गेय होना कोई आवश्यक नही परन्तु इसमें कवि की स्वानुभूति को वाह्य घटनाओं से अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस सम्बन्ध में महादेवी वर्मा का गीतिकाव्य का लक्षण भी उल्लेखनीय है। वे कहती है—'सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना, ही गीत है।'

इस लक्षण को ध्यान में रखते हुए यदि गीतिकाव्य के तत्त्वों पर विचार किया जाए तो निम्नलिखित तत्त्व इस प्रकार के काव्य-रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं—१. भावात्मकता, २ सगीतात्मकता और ३. सक्षिप्तता ।

गीतिकाव्य का वर्गीकरण

गीतिकाव्य का सम्बन्ध साहित्यिक गीतो से है । ये साहित्यिक गीत लोकगीतो से प्रेरणा प्राप्त करते हैं । लोकगीतों के साथ निर्माता का नाम-धाम जुडा नही रहता । इनके निर्माता अपना अस्तित्व लोक-भावना में ही लीन करके आप अदृश्य हो जाते हैं । यही कारण है कि ये जन-समुदाय की वाणी पर तो अपना अधिकार जमाए रहते हैं परन्तु लिपिबद्ध नहीं हो पाते। वशपरम्परा से इनका प्रचलन होता रहता है। साहित्यिक गीतो के लिए ये मूल-सामग्री का काम देते हैं। साहित्यिक गीतों के साथ निर्माता का व्यक्तित्व संलग्न रहता है। वे लिपिबद्ध होकर अपना अस्तित्व स्थापित कर लेते हैं ।

साहित्यिक गीत मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) शुद्ध भावात्मक, (२) प्रकथनात्मक । प्रकथनात्मक गीतों में कवि अपने व्यक्तित्व को कथा, पात्र, सवाद आदि प्रकरणो द्वारा अभिव्यक्त करता है, अतः वह प्रबन्ध काव्य का एक भेद मान लिया जाता है । इसे ही 'गीतिकथा' के नाम से कह दिया जाता है। शुद्ध भावात्मक गीतों में कवि की निजी भावना प्रत्यक्ष वृत्ति से हमारे सम्मुख आती है। कवि स्वयं उपस्थित होकर अपना 'आत्मनिवेदन' प्रस्तुत करता है । वर्गीकरण के लिए इस प्रकार के गीतो को ही यहाँ लिया जाता है ।

आकार और मनोवृत्ति के अनुसार शुद्ध भावात्मक साहित्यिक गीतों के अनेक प्रकार हैं । मनोवृत्ति के आधार पर 'गीति' के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं:—

१. लौकिक प्रेमगीत　२. आध्यात्मिक प्रेमगीत　३. प्रकृति-प्रेमगीत
४. जीवन-मीमांसा सम्बन्धी गीत　५. राष्ट्रीय गीत,　६. सम्बोधन गीत

७. उपालम्भ गीत ८. व्यंग्य गीत ९. शोक गीत।

लौकिक प्रेमगीत—जब लौकिक प्रेम भाव को लेकर ऐसी शब्द-योजना की जाती है कि वह रचना गेय हो जाती है तब वह रचना 'प्रेम-गीत' नाम से अभिहित होती है। इस प्रकार के गीतों में प्रेम के दोनो—संयोग-वियोग—पक्षों का चित्रण रहता है। आधुनिक युग में प्रसाद, पन्त, निराला आदि कवियों ने उत्कृष्ट प्रेमगीत लिखे है। प्रसाद जी का एक 'प्रेमगीत' नीचे लिखा जाता है—

आओ हिये में अहो प्राणप्यारे !
नैन भये निर्मोही, नहीं अब देखे बिना रहते है तुम्हारे।
सबको छोड़ तुम्हें पाया है, देखूँ कि तुम होते हो हमारे।
तपन बुझे तन की और मन की, हों हम-तुम पल एक न न्यारे॥
आओ हिये मे अहो प्राणप्यारे॥

आध्यात्मिक प्रेमगीत—आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध का विषय लेकर भी गीत लिखे जाते हैं। ये आध्यात्मिक प्रेमगीत कहलाते है। इन गीतों में धार्मिक भावनाएँ माधुर्य भाव के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती है। लौकिक प्रेम में जिस प्रकार विरह-मिलन के भाव अभिव्यक्त होते हैं ठीक इसी प्रकार इनमें अलौकिक तत्त्व के प्रति प्रेम की अभिव्यजना करते समय कवि विरह-मिलन की ही भावनाएँ अंकित करता है। उदाहरण के लिए 'निराला' का एक गीत निम्नांकित है—

शब्द सुना हो तो, अब
लौट कहाँ जाऊँ।
उन चरणों को छोड़ और
शरण कहाँ पाऊँ।
बजे सजे उर के, उस सुर से सब तार
प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार॥

आध्यात्मिक गीतो का पूर्ण सौन्दर्य हमें महादेवी वर्मा के विरह-गीतों

में उपलब्ध हो सकता है। उनका एक गीत लीजिए—

जो तुम आ जाते एक बार!
कितनी करुणा कितने सन्देश
पथ में बिछ जाते बन पराग।
गाती प्राणों का तार-तार
अनुराग भाग उन्माद राग॥
आँसू लेते वे पग पखार!

प्रकृति-प्रेमगीत—आज प्रकृति भी हमारे प्रेम भाव का आलम्बन हो गई है। उसे अपने भाव का विषय बनाने के लिए हमने उसे मानवीय रूप प्रदान किया है। यही प्रकृति-प्रेम जिन गीतों में गूँज उठता है उन्हे प्रकृति-प्रेमगीत कहा जाता है। कभी-कभी इस प्रत्यक्ष प्रकृति को चेतन आधार परमात्मा मान लिया जाता है और उस स्थिति में प्रकृति का परमात्मा के रूप से तादात्म्य कर दिया जाता है। यह प्रकृति उस समय दिव्य शक्ति का आभास देने लगती है और प्रिय प्रतीत होती है तथा हमारे भावों का विषय बन जाती है। महादेवी का प्रकृति-प्रेम इस गीत में झंकृत हो उठा है.—

शृंगार कर ले री सजनि!
नव क्षीरनिधि की उर्मियों से रजत-झीने मेघ सित;
मृदु फेनमय मुक्तावली से तैरते तारक अमित;
सखि! सिहर उठती रश्मियों का पहिन अवगुण्ठन अवनि!

जीवन-मीमांसा सम्बन्धी गीत:—गीतों में जब जीवन सम्बन्धी विचारों का आधिक्य हो जाता है तब वे 'जीवन-मीमांसा सम्बन्धी गीत' कहलाते हैं। इनमें कवि अपना दार्शनिक चिन्तन भावात्मक शैली में अभिव्यक्त करता है। महादेवी जी का अधोलिखित गीत मानव जीवन में दुःख के माहात्म्य पर पूर्ण प्रकाश डालता है:—

मधु वेला है आज, अरे तू जीवन-पाटल फूल!
आई दुःख की रात मोतियों की देनेजय माल

सुख की मन्द बतास खोलती पलकें दे दे ताल,
डर मत रे सुकुमार ! तुझे दुलराने आए शूल !
अरे तू जीवन-पाटल फूल ।

राष्ट्रीय गीत—जब राष्ट्रीय भावनाएँ पद्यबद्ध हो जाती हैं और गीतिकाव्य की विशेषताएँ उसमें दृष्टिगोचर होती हैं तब राष्ट्रीय गीत की सृष्टि हो जाती है। इन गीतों में जातीय ओज, गर्व तथा शालीनता की अभिव्यक्ति होती है। देश के प्रति उत्कट प्रेम ही इन गीतो का प्रधान विषय बन जाता है। मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला आदि आधुनिक कवियों के राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण अनेक सुन्दर गीत उदाहरणस्वरूप लिये जा सकते हैं। प्रसाद जी का यह अभियान-गीत बड़ा प्रसिद्ध है—

हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला, स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो ॥

इसी प्रकार निराला का यह गीत भी राष्ट्रीय गीत है—

भारति, जय, विजय करे, कनक शस्य-कमल धरे !
तरु-तृण-वन-लता वसन अँचल में खचित सुमन
गगा ज्योतिर्जलकरण धवल-धार-हार गले !

सम्बोधन गीत—जब कवि किसी वस्तु, व्यक्ति या भाव को सम्बोधित करके अपनी अनुभूतियो, मान्यताओं तथा धारणाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करता है तब उसे 'सम्बोधन गीत' कह दिया जाता है। आजकल अंग्रेजी के ओड (Ode) के अनुकरण पर 'सम्बोधन गीत' हिन्दी में भी लिखे जा रहे हैं। आधुनिक कवियों की रचनाओं में से अनेक उदाहरण इस प्रकार के गीतों के मिल सकते है। निराला की 'यमुना के प्रति', पंत की 'भावी पत्नी के प्रति' तथा 'छाया', प्रसाद की 'लहर' आदि

कविताएँ 'सम्बोधन गीत' कहला सकती है। हरिवंशराय 'बच्चन' का एक 'सम्बोधन गीत' देखिए—

पूर्व चलने के, बटोही,
बाट की पहचान कर ले।
पुस्तकों मे है नहीं छापी गई इसकी कहानी
हाल इसका ज्ञात होता है न औरों की ज़बानी।
अनगिनत राही गए इस राह से, उनका पता क्या
पर गए कुछ लोग इस पर छोड़ पैरों की निशानी।
यह निशानी मूक होकर भी बहुत कुछ बोलती है
खोल इसका अर्थ, पथी, पंथ का अनुमान कर ले।
पूर्व चलने के, बटोही, बाट की पहचान कर ले॥

उपालम्भ गीतः—जब हम किसी को सम्बोधित करते हैं और उसे उलाहना देने लगते है तब जिन गीतो की सृष्टि होती है उन्हे 'उपालम्भ गीत' कहते है। प्राय. अपने प्रियजनों के प्रति, उनकी उपेक्षा के कारण उत्पन्न हुई खिन्नता के प्रकाशनार्थ इन गीतो का सृजन होता है। इनमें उपेक्षित व्यक्ति की मनोव्यथा, पीड़ा तथा विषाद व्यंग्यपूर्ण शैली में अभि-व्यक्त होता है। हिन्दी साहित्य में सूरदास का 'भ्रमरगीत' 'उपालम्भ गीत' का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। सूरदास की गोपियाँ कृष्ण को उपालम्भ देती हुई कहती हैं—

अब हरि गोकुल काहे को आवहिं चाहत नवयौवनियाँ
वे दिन माधव भूलि बिसरि गए गोद खिलाए कनियाँ
गुहि-गुहि देते नन्द जसोदा तनक काँच के मनियाँ
दिना चारि ते पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ॥

गुप्त जी की 'यशोधरा' में से एक 'उपालम्भ गीत' नीचे प्रस्तुत किया जाता है:—

सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?

मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उन्हीं को जाना,
जो वे मन में लाते
सखि, वे मुझसे कहकर जाते ।

व्यंग्य गीतः—जिन गीतो द्वारा समाज के किसी पक्ष पर चोट की जाती है और प्रकारान्तर से किसी व्यक्ति पर या समाज पर आक्षेप किया जाता है वे व्यंग्य गीत कहलाते है। इस प्रकार के गीत साहित्य और जाति की सजीवता के परिचायक है। आधुनिक युग में निराला जी ने कुछ व्यंग्य गीत लिखे है। साधु-पण्डितो पर उनका यह गीत पर्याप्त चोट करने वाला है—

आ रे गगा के किनारे !
पंडों के सुघर सुघर घाट है
तिनके की टट्टी के ठाट है
यात्री जाते है श्राद्ध करते है
कहते है, कितने तारे !

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का काशी का वर्णन भी व्यंग्य गीत का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है—

देखी तुमरी कासी, देखी तुमरी कासी ।
आधी कासी, भाँड भँडरिया, वामन औ सन्यासी ।
आधी कासी रंडी मुंडी, रॉड खानगी खासी ।
लोग निकम्मे भगी भंगड़, लुच्चे बेविस्वासी ।
महा आलसी झूठे सोहदे, बेफिकरे बदमासी ।
नीचे नल से बदबू उबले, मानों नरक चौरासी ।।

शोक गीतः—अपने किसी प्रिय सम्बन्धी की मृत्यु पर जो मन में करुणा की धारा प्रवाहित होने लगती है वही शब्द का परिधान धारण

करके शोक गीत के रूप में प्रकट हो जाती है। कालिदास ने रघुवश में इन्दुमती के लिए अज का विलाप और काम के लिए रति का विलाप कराकर 'शोक गीत' का श्रीगणेश किया था परन्तु भारतवर्ष में इसकी परम्परा न चल सकी। योरप मे इसका प्रचलन बहुत हुआ। अरबी-फारसी में भी इस प्रकार के गीतो का प्रचलन है। अंग्रेजी मे इसे ऐलिजी (Elegy) और अरबी-फारसी में 'मरसिया' कहा जाता है। शोक गीत में वैयक्तिक प्रेम, विरह, निराशा, मानसिक क्षोभ और देश और जाति के पतन को विषय बनाया जा सकता है। करुण रस की इसमें प्रधानता रहती है। आधुनिक युग में इस प्रकार के गीतों का समुचित विकास हुआ है। निराला जी की 'सरोज स्मृति' नामक कविता, जो उन्होंने अपनी प्रिय पुत्री की मृत्यु पर लिखी थी—शोक गीत का उत्तम उदाहरण कही जा सकती है। देश के प्रिय नेताओ के निधन पर इसी प्रकार के गीत प्राय: लिखे जाते है। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की 'ब्रह्म-हत्या' नामक कविता महात्मा गाँधी की मृत्यु पर लिखी गई थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे लिखी जाती है—

जिसने खुद अधनंगे रहकर, सबके तन ढकने की ठानी;
औरों को तो सत्ता बाँटी, पर तृण जैसी दुनिया जानी।
सब कुछ खोकर सब कुछ सहकर, जनहित का ही जयगान किया
सौ बार हारकर भी जिसने जीवन से हार नहीं मानी,
हमने न सुना, हमने न गुना, केवल अपना ही स्वार्थ चुना;
पहले उसकी हत्या की, फिर हम रोये, अपना सीस धुना॥

अचल जी की 'हुतात्माओं की स्मृति' नामक कविता भी 'शोक गीत' रूप में स्वीकार की जा सकती है। वैयक्तिक प्रेम, विरह, निराशा आदि भावनाओं से भरे करुण रस पूर्ण गीतों की हिन्दी साहित्य में कमी नहीं है। प्रसाद जी का 'आह! वेदना मिली विदाई। मैंने भ्रमवश जीवन-संचित मधुकरियों की भीख लुटाई!' यह गीत भी इसी श्रेणी का है।

आकार के आधार पर गीतिकाव्य का एक भेद 'चतुर्दशपदी गीत'

होता है। इसे अंग्रेजी में सॉनेट (Sonnet) कहते हैं। श्री प्रभाकर माचवे ने इसी प्रकार का एक गीत लिखा है। उसमें चौदह पंक्तियाँ है, जैसे—

मैंने जितना नारी, तुमको याद किया है, प्यार किया है,
तुमने भी क्या कभी भूल से सोचा था कैसा है यह मनु ?
मैंने क्या अपराध किया जो तुमने यों इसरार किया है,
जाने कैसे विद्युत्कर्षण से परसित है तन-मन अणु-अणु ?
तुम मेरे मानस की संगिनी, चपल विहंगिनि, नीड़ की शाखा !
तुम मेरे मन की राका के एकमात्र नक्षत्र—विशाखा,
तुम हो मृगा कि आर्द्रा हो ? नहीं, रोहिणी, तुम अनुराधा,
तुम छाया-पथ, ज्योतिशिखा तुम, तुम उल्का आलोक शलाका।
संशय के सघनान्धकार में विद्युत्माला अयि अचुम्बिते !
तुम हरिणी, मालिनी, शिखरिणी, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बिते !
तुम छन्दों की आदि प्रेरणा, प्रथम श्लोक की पृथुल वेदना,
तुम स्रग्धरा या कि मन्दाक्रान्ता, ओ आर्या, गीत सम्मिते !
मैं गतिहारा 'पति-सा ग्रह से शून्य' प्रभाकर मैं वैनायक,
तुम रागिनी और मैं गायक, तुम हो प्रत्यञ्चा, मैं सायक !

उपन्यास

'उपन्यास' शब्द की विवेचना

आजकल 'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी के नॉविल (Novel) शब्द के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया जाता है। अंग्रेजी शब्द नॉवेल से 'नवीनता' अर्थ का बोध होता है। साहित्य के क्षेत्र में यह एक नया रूप होने के कारण Novel है अथवा साहित्य के इस रूप में जीवन की नई बातों को नए रूप में प्रस्तुत किया जाता है, अतः यह Novel है। उपन्यास शब्द की रचना संस्कृति की अस् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'फेंकना' (असु क्षेपणे)। 'उप' और 'नि' उपसर्ग हैं और 'घञ्' प्रत्यय है। उप + नि + √अस् + घञ् प्रत्यय से जो उपन्यास शब्द बना, उसका अर्थ हुआ 'उपस्थापन'। सस्कृत साहित्य-शास्त्र में उपन्यास शब्द नाटकीय कथा के एक भाग प्रतिमुख सन्धि के एक अंगविशेष का वाचक था। इस रूप में इसका अर्थ 'प्रसन्नता का जनक' लिया जाता था—'उपन्यासः प्रसादनम्'। उपन्यास के इस लक्षण से यही बोध होता है कि जिस व्यापार से किसी पात्र की प्रसन्नता सम्भव हो सकती है, उस व्यापार की प्रतिष्ठा नाटकीय इतिवृत्त के जिस अंश में होती है वह उपन्यास कहलाएगा। साहित्यदर्पण में इस शब्द के अन्य अर्थ भी किए गए हैं। एक अर्थ है—'उपपत्तिकृतोह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः' अर्थात् जिस इतिवृत्तात्मक अर्थ का युक्तिपूर्वक उपपादन किया जाता है वह उपन्यास कहलाता है। इन दोनों अर्थों पर विचार करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि साहित्य के आधुनिक रूप के लिए 'उपन्यास' शब्द का आज जो प्रयोग हो रहा है वह ठीक उसी अर्थ में नहीं हो रहा, जिस अर्थ में वह प्राचीन साहित्य-मीमासा में होता था। हाँ, उस अर्थ की कुछ गन्ध इस नये रूप में अवश्य है। इसी सामान्य समता पर दृष्टिपात करके आधुनिक काल में पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण पर जो नया साहित्य का

रूप विकसित हुआ उसे 'उपन्यास' शब्द कह दिया गया है। आज उपन्यास में मानव जीवन का अर्थ इस प्रकार युक्ति-युक्त रूप से पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है कि वह प्रसन्न हो जाता है। प्रसन्नता के साथ-साथ उसमें जीवन अपने युक्तिसंगत रूप के साथ उपन्यस्त कर दिया जाता है। अतएव 'उपन्यास' शब्द अपने इस रूप में सार्थक एवं साभिप्राय समझा जा सकता है। 'उप' उपसर्ग का अर्थ समीप है और 'न्यास' शब्द का अर्थ स्थापन होता है। साहित्य के इस रूप में जीवन सम्बन्धी अर्थ इस प्रकार विन्यस्त कर दिया जाता है कि पाठक आनन्दमग्न हो उसके सामीप्य-लाभ से कृतार्थ हो जाता है। लेखक के कौशल से अब जीवन पाठक की कल्पना में प्रविष्ट हो जाता है। लेखक के व्यक्तिगत अनुभव उपन्यासगत इतिवृत्त के माध्यम से पाठक के समीप पहुँच जाते हैं। इस प्रकार उपन्यास के प्राचीन अर्थ के साथ अर्वाचीन अर्थ की संगति दिखाई जा सकती है।

यहाँ इतनी बात और ध्यान में रखने योग्य है कि हिन्दी में जो नॉवेल के लिए उपन्यास शब्द का प्रयोग होने लगा है, वह बँगला की देन है। सर्वप्रथम 'उपन्यास' शब्द बँगला में ही व्यवहृत हुआ था।

उपन्यास की परिभाषा

समालोचकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से 'उपन्यास' की परिभाषा दी है। सामान्यतः गद्यात्मक जटिल कथा को उपन्यास कहा जाता है। यह कथा सत्य या कल्पित हो सकती है। इसका उद्देश्य मनोविनोद के साथ मानव-जीवन के किसी विषय या नीति का परिचय या प्रचार स्वीकार किया जा सकता है। डा० श्यामसुन्दर दास की सम्मति में 'मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा ही उपन्यास है।' इस परिभाषा में उपन्यास के प्रकथनात्मक रूप पर तथा उसके उद्देश्य पर ही सक्षेप से संकेत कर दिया गया है, अन्य विधायक तत्त्वों पर दृष्टिपात नहीं किया गया। प्रेमचन्द जी ने भी इसके विषय-तत्त्व पर ध्यान देते हुए यह कहा है कि 'मै उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना

और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है'।

अंग्रेजी के एक शब्दकोष में उपन्यास (Novel) की परिभाषा इस प्रकार दी है :—"A fictitious prose narrative, involving some plot of greater or less intricacy, and professing to give a picture of real life." अर्थात् उपन्यास एक कल्पनामूलक गद्यात्मक प्रकथन है जिसमें न्यूनाधिक जटिल कथावस्तु समाहित रहती है और जो वास्तविक जीवन का चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है।

इन उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपन्यास और जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है। जीवन की उपेक्षा करने वाला उपन्यास-साहित्य किसी भी अवस्था में उपादेय नही माना जा सकता। उपन्यास का जीवन-क्षेत्र में विचरने वाले पुरुषों और स्त्रियों, उनके पारस्परिक विचारों, अनुभूतियों, भावनाओं, प्रवृत्तियो से सीधा प्रयोजन है। वह मानव-वर्ग की उन भावनाओं की अवहेलना नही कर सकता जिनके द्वारा उनका जीवन अनुशासित एवं परिचालित किया जा रहा है। उपन्यासकार उनके हर्षोल्लास पर दृष्टि डालता है, उनकी सवेदनाओ का संस्पर्श करता है, उनके संघर्ष, साफल्य तथा वैफल्य पर गम्भीरता से विचार करता है।

उपन्यास के तत्त्व

उपन्यास के निम्नलिखित विधायक तत्त्व निर्धारित किये जा सकते हैं :—

१. कथावस्तु २. पात्र ३. कथोपकथन ४. देश-काल ५. विचार वा उद्देश्य ६ शैली (भाषा इत्यादि)।

कथावस्तु

कथा ही उपन्यास का अनिवार्य तत्त्व है। विविध घटनाओं के संगठन से कथा-सृष्टि की जाती है। घटनाएँ सजीव एवं रोचक होकर उपन्यास की कथावस्तु को रोचक बना देती हैं। उपन्यास की कथावस्तु के निम्नलिखित

गुण स्वीकार किए जा सकते हैं—

मौलिकता:— उपन्यास की कथा मौलिक अथवा लोक-विश्रुत एवं ऐतिहासिक हो सकती है। सभी स्थितियों में मौलिकता का गुण कथा में अवश्य रहना चाहिए। यदि कथा अपने मूल रूप में लेखक-कल्पना-प्रसूत होगी तो उसमें मौलिकता का गुण स्वत: ही समाविष्ट हो जाएगा। हाँ, जन-परम्परागत एवं इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं को अपनी कथा का आधार बनाते समय उपन्यास की कथा मे इस गुण की सृष्टि करना उपन्यासकार के लिए एक कठिन समस्या है। इस समस्या का समाधान करने के लिए वह कल्पना का सम्मिश्रण कर सकता है। वह ऐतिहासिक पात्रों को ग्रहण करके उनके साथ घटने वाली घटनाओं का अपनी कल्पना से निर्माण कर सकता है। वह ऐसे नये प्रसगो की उद्भावना भी कर सकता है जिनसे ऐतिहासिक सत्यता की क्षति न हो। वह ऐतिहासिक वातावरण में कल्पित पात्रो की प्राणप्रतिष्ठा कर सकता है। ऐतिहासिक परिस्थितियों का प्रदर्शन करने वाली काल्पनिक घटनाओ की सृष्टि करके अपनी कथा को मौलिक बना सकता है। ऐतिहासिक घटनाओं को यथावत् ग्रहण करके स्थान वा समय का हेर-फेर करने की उपन्यासकार को स्वतन्त्रता है। इतिहास-विश्रुत कथानक में जनश्रुतियो का सम्मिश्रण करके उसे नवीन रूप प्रदान किया जा सकता है। इतिहास के अस्पष्ट एवं धुंधले चित्रों को अपनी कल्पना की कूची से रंग भरके स्पष्ट एवं उजले बना सकता है। प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों में आधुनिक काल की छाया पाकर उनको इस रूप में उल्लिखित कर सकता है कि आधुनिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने लगें। इस प्रकार कल्पना-योग से प्राचीन वातावरण में आधुनिक काल के पात्र विचरते दिखाये जा सकते हैं। जहाँ इतिहासकार वाह्य घटनाओं पर विशेष ध्यान देता है और राष्ट्र को प्रधानता देता चलता है वहाँ उपन्यासकार उपन्यास में पात्र के आन्तरिक जगत् का स्पर्श कर सकता है। वह राष्ट्र की अपेक्षा व्यक्ति को मुख्यता प्रदान कर सकता है। जहाँ इतिहासकार द्रष्टा तथा अन्वेषक का रूप धारण करता है वहाँ

उपन्यासकार स्रष्टा का रूप ग्रहण कर सकता है। वह सापेक्ष दृष्टि से इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं पर दृष्टिपात कर सकता है। जहाँ इतिहासकार को नाम वा तिथि का विशेष आग्रह रहता है वहाँ उपन्यासकार नाम वा तिथियो की उपेक्षा करके हृदय-सत्य का आकाँक्षी हो सकता है। सारांश यह है कि उपन्यास की कथा सर्वथा मौलिक होनी चाहिए। यदि इतिहास-विश्रुत हो तो उसमें कल्पना के योग से इस मौलिकता की उद्भावना कर लेनी चाहिए अन्यथा उपन्यास-रचना व्यर्थ हो सकती है।

सम्भाव्यता:—मौलिकता के गुण के साथ-ही-साथ यह भी आवश्यक होता है कि कथा सभव प्रतीत हो। सम्भावना के बिना मौलिकता अर्थहीन है। घटनाएँ काल्पनिक होकर भी संभव प्रतीत होनी चाहिएँ अन्यथा उनसे पाठक के हृदय में अविश्वसनीयता की सृष्टि होगी। यह अविश्वसनीयता पाठक की तन्मयता का भंग करने वाली होती है। इन घटनाओं को प्रत्यक्ष जगत् की अनुभूतियों का सबल आधार प्राप्त होना चाहिए। जब पाठक पूरे विश्वास के साथ इनको पढ़ता चलता है तब वह उनमें इतना तल्लीन हो जाता है कि वह भूल जाता है कि वह औपन्यासिक गगन के अन्तराल में विचरण कर रहा है। काल्पनिक और व्यावहारिक जगत् में उसे कोई अन्तर प्रतीत नही होता। कल्पना और वास्तविकता दोनों परस्पर, इस स्थिति में, घुल-मिल जाती हैं। नवीन और प्राचीन का, अनुभूत और अननुभूत का, प्रत्याशित और अप्रत्याशित का, संभावित और असंभावित का कोई अन्तर इस सृष्टि में नही रहता। कथावस्तु में सम्भाव्यता के गुण की नितान्त अपेक्षा है।

रोचकता:—उक्त दोनों गुणों के अतिरिक्त कथावस्तु में रोचकता लाना भी लेखक का परम ध्येय होना चाहिए। यदि यह गुण किसी उपन्यास की कथा में विकसित न होगा तो वह उपन्यास पाठकों के हाथों के स्पर्श से वंचित ही रह जायगा। कथावस्तु में इस गुण को उत्पन्न करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता है कि कथा की धारा अपने सहज स्वभाव

से प्रवाहित हो। पाठक की कल्पना कथा की धारा में निमग्न होकर इस प्रकार बहती चली जाए जैसे नदी की धारा में मिली हुई मिट्टी जल के साथ ही बहती चली जाती है। पाठक को कही रुकना न पड़े। उपन्यास-कार अपनी कथा का स्वाभाविक विकास करने के लिए विभिन्न परि-स्थितियों में पात्रों को अपनी-अपनी चारित्रिक विशेषताओं के अनुरूप ही व्यवहार करता दिखाता है। यदि कही वह विपर्य्यय वर्णित करता है तो वहाँ उसका कारण भी साथ ही उल्लिखित कर देता है। वह विपर्य्यय यदि किसी विशेष कारण का कार्य होगा या क्रमिक विकास का परिणाम होगा तो पाठक कथा-धारा के साथ प्रवाहित होता चलेगा, कहीं रुकेगा नही।

कथा-धारा को अविच्छिन्न रूप से चलाने के लिए दूसरी आवश्यकता यह रहती है कि परिस्थितियों का निर्माण भी पाठक की रुचि वा प्रकृति को समझकर किया जाए। जहाँ यह आवश्यक है कि पात्र परिस्थितियो में अपनी प्रकृति के विपरीत कार्य न करे वहाँ यह भी उतना ही आवश्यक है कि पात्रों के अनुकूल ही परिस्थितियाँ जुटाई जाएँ। इस प्रकार परिस्थितियों और पात्रों मे एक प्रकार का अद्भुत सामंजस्य निर्मित हो जाता है और उनमे परस्पर एकरूपता दृष्टिगोचर होने लगती है। वही एकरूपता घटना-विन्यास को स्वाभाविक बना देती है। उपन्यासकार के लिए यह आव-श्यक है कि वह सामान्य जनों के लिए सामान्य परिस्थितियों का और विशिष्ट जनों के लिए विशिष्ट परिस्थितियों का सृजन करे।

घटनाओं का शृंखलाबद्ध विन्यास भी रोचकता के लिए अपेक्षित रहता है। घटनाएँ परस्पर कार्य-कारण भाव से इस प्रकार जुड़ती चली जाएँ जैसे एक शृंखला की कड़ियाँ परस्पर जुड़ी रहती हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों की घटनाएँ प्रायः असम्बद्ध-सी रहती है। पात्र के कारण से उनमें सम्बद्धता मानी जाती है अर्थात् एक ही पात्र के साथ घटित होने के कारण वे परस्पर जुड़ी कहला सकती है अन्यथा वे असम्बद्ध प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में घटनाओं और चरित्र में परस्पर आदान-प्रदान

का व्यवहार सिद्ध नही होता। सामान्यत: उपन्यास के घटनाचक्र में सम्बद्धता रहनी आवश्यक समझी जाती है, अतएव उसमे घटनाओ में और चरित्र मे परस्पर आदान-प्रदान होता चलता है। घटनाएँ चरित्र से उत्पन्न होती हैं और उत्पन्न होकर चरित्र पर प्रभाव डालती है। इस प्रकार एक प्रकार की शृंखलाबद्धता हो जाती है।

सघर्ष:—सघर्ष भी कथानक में रोचकता की वृद्धि कर देता है। यह सघर्ष व्यक्ति के अपने अन्तर्जगत् मे घटित होता दिखाया जा सकता है। किस प्रकार दो विरोधी भाव मानव के अन्तस्तल मे परस्पर जूझते हैं, टकराते है यह चित्रित किया जा सकता है। इस सघर्ष की स्थिति मे कुछ काल मानव अपने पथ का निर्धारण नही कर पाता। कभी एक भावना के प्रवाह मे बहता है तो कभी दूसरी भावना-तरंग उसे अपने अधीन कर लेती है। इसी अस्थिरता से वह विकल हो उठता है। अन्त मे उसे एक पक्ष को ग्रहण करता और इस प्रकार अन्तर्जगत् के विप्लव को शान्त होता चित्रित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक संघर्ष व्यक्ति को बाहर से पीड़ित करता है। यह भावना-जन्य न होकर परि-स्थिति-जन्य होता है। यह आध्यात्मिक न होकर आधिभौतिक होता है। सामाजिक व्यवस्थाएँ, परम्पराएँ मानव को ऐसी परिस्थिति मे डाल देती है कि वह उनका शिकार हो जाता है। वह अनिच्छा से उनके आगे सिर झुकाता है, कष्ट झेलता है। औपन्यासिक कथा मे यदि दोनो प्रकार का सघर्ष विन्यस्त कर दिया जाए तो वह कथा रोचक बन जाती है।

तारतम्य:—कथानक-विधान में तारतम्य का भी पर्याप्त महत्त्व रहता है। प्रत्येक प्रसग तथा वर्णन अपने उचित अनुपात में रहना आवश्यक होता है। इसका उल्लंघन हो जाने से रोचकता की क्षति हो जाती है। कथानक में कई स्थल मार्मिक होते हैं। उन स्थलों तक पहुँचाने वाले प्रसंगों का भी उचित मात्रा में वर्णन करना आवश्यक होता है। इन स्थलों का वर्णन करते समय उपन्यासकार को यह ध्यान रखना चाहिए

क ये वर्णन कथा-प्रवाह में बाधक न हों, उसे गति प्रदान करने वाले हों। इन प्रसंगों के अधिक विस्तृत हो जाने से कथा-तन्तु के विच्छिन्न होने की आशका रहती है।

एक घटना से कई कार्य सिद्ध कर लेना तारतम्य का विशेष लक्षण है। इसे साहित्यिक संक्षेप भी कहा जा सकता है। साहित्यिक अपने थोड़े-से वर्णन से अनेक कार्य सिद्ध कर लेता है। इससे भी रोचकता अक्षुण्ण रहती है। एक ही घटना कथा-प्रसार में सहायक हो सकती है। साथ ही वह पात्रों के चारित्रिक गुणों के विश्लेषण में भी काम दे सकती है। इसके अतिरिक्त देश-काल के चित्रण में भी उसका महत्त्व हो सकता है। कथानक के अन्यान्य प्रसंगों से भी अनेक कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। इससे भी कथानक मे तारतम्य की प्रतिष्ठा हो जाती है।

सुगठितता:—औपन्यासिक कथानक का अन्तिम गुण सुगठितता है। यह कहा जा चुका है कि घटनाओं का विन्यास शृंखला के रूप में होना चाहिए अर्थात् वे आपस में घनिष्ठता से सम्बद्ध होनी चाहिएँ। सुगठितता का अभिप्राय शृंखला-बद्ध विन्यास से नही है, अपितु अन्यान्य प्रसगों, अवान्तर प्रसंगों के पारस्परिक गठन से है। जिस प्रकार एक प्रसंग की घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध होनी चाहिएँ; ठीक इसी प्रकार उपन्यास के अन्तर्गत अन्यान्य प्रसंग भी परस्पर सुगठित होने आवश्यक है। जैसे शरीर-संस्थान में अंग-प्रत्यंगों के यथास्थान विन्यास से, उचित-विभाजन, उचित-गति-व्यापार और आवश्यक दृढता के अनुपात से सुडौलपन, सुघड़ता की सृष्टि होती है, उसी प्रकार एक औपान्यासिक कथा की सुगठितता के लिए भी मूल कथा में अवान्तर कथाओ—प्रसगों को यथास्थान विन्यस्त करने उनका उचित विभाजन, उनके विभिन्न व्यापारो को उचित गति प्रदान करने तथा सन्धि-स्थलो की घनिष्ठता या दृढ़ता की आवश्यकता रहती है।

गठन की दृष्टि से औपन्यासिक कथा के तीन भाग किये जा सकते हैं। प्रधान पात्रो अर्थात् नायक-नायिका से सम्बद्ध प्रसंगों को मुख्य कथा या आधिकारिक प्रसंग कहा जा सकता है। मानव जीवन का विस्तृत क्षेत्र उपन्यास में विन्यस्त करने के लिए सहायक कथा का भी आयोजन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पात्रों के चारित्रिक विकास के लिए अन्यान्य गौण प्रसंगों की भी उद्भावना की जा सकती है। इसी का नाम दुहरी-तिहरी कथा-शैली है। एक उपन्यास के पटल पर चित्रित विभिन्न कथाओं मे किसी प्रकार की एकता स्थापित की जानी चाहिए। सहायक कथा या अन्यान्य गौण प्रसंगों की उद्भावना मुख्य कथा के प्रभाव को अधिक तीव्र करने के उद्देश्य से ही होनी चाहिए। सहायक कथा की विषम परिस्थितियाँ मुख्य कथा के प्रभाव को विरोध के चमत्कार से द्विगुणित कर सकती है और सामान्य परिस्थितियाँ उस प्रभाव को सादृश्य के चमत्कार से समर्थित कर देती हैं। ध्यान देने योग्य बात केवल इतनी होती है कि ये सब प्रासगिक घटनाएँ मुख्य ढाँचे के आवश्यक अग बनती प्रतीत हों। गौण प्रसग इसी रूप में आने चाहिएँ कि वे प्रधानता प्राप्त करते न दीख पड़ें। तारतम्य की दृष्टि से यदि इनका विन्यास होगा तो ये मुख्य कथानक से कुछ दूर जुडे रहने पर भी कला में निवृत्ति उत्पन्न नही कर सकेंगे। प्रेमचन्द के उपन्यासों में दुहरी-तिहरी कथा-शैली को अपनाया गया है। श्री वृन्दावनलाल जी के उपन्यासों में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उनके 'मृगनयनी' नामक उपन्यास में मृगनयनी और मानसिंह की कथा मुख्य है और लाखी और अटल की कथा सहायक है। इसके अतिरिक्त पोटापिल्ली, गयासुद्दीन, ख्वाजा मटरू, महमूद बघर्रा आदि के गौण प्रसंग मुख्य कथा के पात्रों के विकास के लिए या सहायक कथा के पात्रों के विकास के लिए अथवा तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण के लिए लाये गए है। यह स्पष्ट है कि उपन्यास में मुख्य और गौण प्रसंग रह सकते हैं परन्तु उनमें पारस्परिक घनिष्ठता अत्यन्त आवश्यक है। इस अपेक्षित घनिष्ठता के बिना उपन्यास में सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकती।

पात्र

आधुनिक उपन्यास मानव जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, अतएव उपन्यासकार को मानव जीवन का कल्पनाप्रसूत चित्र प्रस्तुत करने के लिए ऐसे पात्रों की योजना करनी पड़ती है जो वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत हों। प्रजापति की सृष्टि में मानव अपना विशेष आकार-प्रकार लेकर तथा सबल-दुर्बल मनोवृत्तियों को धारण करके जीवन-यापन करता है। औपन्यासिक सृष्टि में भी मानव जीवन के प्रतीक ये पात्र भी स्थूल शरीर धारण करते हैं और इनमें प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। इनकी वृत्तियाँ भी सक्रिय होती हैं। सुख-दुःख की मूल अनुभूतियों से इनमें भी राग-द्वेष-मूलक मनोविकार उत्पन्न होते परिलक्षित होते हैं। किसी के प्रति विरक्ति, किसी के प्रति दया, क्षमा, और अन्य के प्रति क्रोध, घृणा और भय प्रकट करते ये पाठक के सम्मुख उपस्थित होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उपन्यासकार अपनी सृष्टि में विचरने वाले पात्रों के बाहरी आपे और भीतरी आपे का पूरा विवरण देने का प्रयत्न करता है। इस प्राण-प्रतिष्ठा में पात्र के अन्तर्जगत् के विश्लेषण में उपन्यासकार जितनी कुशलता का परिचय देता है उतनी ही उसकी सफलता आँकी जाती है।

पात्रों के प्रकार

सामान्यतः पात्र दो प्रकार के होते है—(१) वर्गगत, सामान्य (२) व्यक्तित्वप्रधान, विशिष्ट। जिस पात्र के चरित्र मे अपने वर्गविशेष की सर्वसामान्य विशेषताए अधिक मात्रा मे दृष्टिगोचर होती है और उसका अपना व्यक्तित्व इन्ही विशेषताओं के नीचे दबा-सा रहता है वह पात्र वर्गगत या सामान्य कहलाता है। मानव-समाज मे प्राय. व्यक्ति इसी प्रकार के होते है। व्यक्ति जिस प्रकार के समाज में, वातावरण में अपना जीवन व्यतीत करता है उसमे उसी प्रकार के सामाजिक वातावरण का प्रभाव अंकित दीख पड़ता है। सामान्य या वर्गगत पात्र मे ऐसी विशेषताएँ

भी मिल सकती है जो कि केवल उसकी अपनी हों, जिनके कारण वह अपने वर्ग मे, समाज में पृथक् अस्तित्व प्रदर्शित कर सके। मात्रा की दृष्टि से ये विशेषताएँ इतनी स्वल्प होती है कि वह इस भिन्नता मे भी अपने समाज से अभिन्न ही प्रतीत होता है। उपन्यासकार अपने पात्रो को वर्ग का प्रतिनिधित्व प्रदान कर सकता है। इस स्थिति मे भी उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि इन प्रतिनिधि पात्रों मे अपनी स्वतन्त्र विशेषताएँ भी उचित मात्रा मे दिखाई जाएँ अन्यथा वे पात्र सप्राण नही हो सकेंगे। प्रेमचन्द जी के पात्र प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। 'गोदान' का होरी कृषक-वर्ग का प्रतीक कहा जा सकता है। उसमें अपने वर्ग की प्राय. सभी सबलताएँ तथा दुर्बलताएँ विद्यमान हैं, फिर भी उसमें अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी है। वह अपने दोनो भाइयो से ही विलक्षण प्रकृति का है। कृषकों की सामान्य प्रवृत्तियाँ धारण करके भी वह सर्वथा व्यक्तित्वहीन नहीं कहा जा सकता है।

इसके विपरीत कुछ पात्र ऐसे होते हे जिनमें अपनापन विशेष रूप से उभरता दृष्टिगोचर होता है। ये अपने समाज से, पार्श्ववर्ती वातावरण से बहुत न्यून अश ग्रहण करते है। ये अपने व्यक्तित्व का निर्माण अपने ही गुणों के आधार पर करते है। समाज से जो कुछ ग्रहण करते है वह इनके अपनेपन के नीचे दबा पडा रहता है। ये समाज से भिन्न, पृथक् अस्तित्व धारण किये परिलक्षित होते है। उपन्यासकार अपने पात्रों को व्यक्तित्व-प्रधान एवं विशिष्ट चित्रित कर सकता है, फिर भी उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें समाज का सामान्य अश भी उचित मात्रा में प्रदर्शित किया जाए, अन्यथा वह पात्र विक्षिप्त, अस्वाभाविक प्रतीत होगा। मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों के पात्र प्रायः इसी प्रकार के चित्रित किये जाते हैं। जोशी जी के 'नन्दकिशोर' में अपना व्यक्तित्व इतना उभर आया है कि वह अस्वाभाविक सा लगता है। जैनेन्द्र जी के 'हरिप्रसन्न' तथा 'सुनीता' आदि पात्र भी समाज से सर्वथा विलक्षण प्रतीत होते है। कहीं-कही यह विलक्षणता इतनी अधिक बढ़

जाती है कि ये पात्र विक्षिप्त से दृष्टिगोचर होते हैं और नकली कहे जा सकते हैं।

पुनः ये पात्र दो रूपों मे उपन्यास में चित्रित रहते है। एक रूप में ये स्थिर पात्र कहलाते हैं और दूसरे रूप में गतिशील।

स्थिर पात्र—ससार मे कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो विपरीत परिस्थितियों में पड़कर भी अपनी मूल प्रकृति में कोई अन्तर नही पड़ने देते। वे सदा एक रूप में रहते हैं। उपन्यास-सृष्टि में ऐसे पात्र स्थिर पात्र कहलाते है। परिस्थितियाँ इन्हे हिलाती है तो ये हिलते अवश्य है परन्तु अपने आपको बदल नही पाते। चारित्रिक दृढता इन्हे स्थिरता प्रदान करती है। उपन्यास मे ये सदा एक रूप में ही पाठकों के सम्मुख आते है। कथा के प्रारम्भ में जैसा चरित्र इनका दृष्टि में आता है अन्त में भी ये वैसा ही रूप प्रदर्शित करते हैं। परिवर्तन या विकास का इनमें अभाव रहता है। यही पात्र आदर्श पात्र होते है। ये बुरे और अच्छे दोनों प्रकार के हो सकते है। इन्हे सजीव प्रदर्शित करने के लिए इनके अन्तस्तल में विपरीत परिस्थिति की प्रतिक्रिया अवश्य झलकानी पडती है। प्रतिक्रिया के अनन्तर ये पात्र फिर अपने मूल केन्द्र पर आ जाते है, अतएव ये स्थिर एव विकास-रहित कहलाते है। मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों के पात्र प्रायः इसी प्रकार के होते है। सामान्य उपन्यासों में भी विशेष उद्देश्य से ऐसे स्थिर पात्रों की सृष्टि हो जाती है। ये अस्वाभाविक नहीं कहे जा सकते क्योकि ऐसे व्यक्ति हमे वास्तविक जगत् में भी उपलब्ध होते है जो भीषण संकट-मयी परिस्थितियो में भी डगमगाते नही, अपने चरित्र पर दृढ़ रहते है।

गतिशील पात्र—ससार में ऐसे व्यक्तियों की कमी नही है जो परिस्थितियों के अनुरूप अपने जीवन को ढालते रहते है। हवा का रुख जिस ओर होता है उसी ओर वे झुक जाते है। वे दिनप्रति होने वाली विभिन्न घटनाओं से कुछ ग्रहण करते चलते हैं। उपन्यास में इस प्रकार के पात्रो को गतिशील कह दिया जाता है। वाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से इनके चरित्र में परिवर्तन प्रदर्शित किया जाता है। कथा के प्रारम्भ में

वे जिस रूप में अंकित किये जाते है वह रूप धीरे-धीरे बदलता चलता है और अन्त मे हम उनमे आमूल-चूल परिवर्तन देख लेते हैं। यही उनका विकास कहलाता है। इसी विकास के कारण वे गतिशील कहलाते हैं। जिन पात्रों मे आमूल-चूल परिवर्तन या विकास दिखाया जाता है उनके इस विकास के लिए समुचित एवं प्रभावोत्पादक परिस्थितियो का निर्माण किया जाता है। मानव अपने स्वभाव मे यदि परिवर्तन लाता है तो वह विवश होकर ही। जब तक वह विवश नही हो जाता तब तक वह अपनी मूल प्रकृति को यथावत् रखने के लिए सर्वदा सचेष्ट रहता है। यदि उपन्यासकार अपने पात्र में विकास दिखाना चाहता है तो उसे इसके लिए प्रभावोत्पादक परिस्थिति का निर्माण करना अत्यन्त आवश्यक होता है।

पात्र-चित्रण

पात्र-चित्रण उपन्यास-रचना का एक आवश्यक अंग है। यह पात्र-चित्रण दोनों प्रकार से हो सकता है—वाह्य और आन्तरिक। वाह्य चित्रण मे वेषभूषा और शारीरिक गठन आदि का वर्णन रहता है। आन्तरिक चित्रण मे भावो आदि का चित्रण रहता है। वास्तविक चित्रण आन्तरिक चित्रण ही है। यह चित्रण पात्रो की आत्मा की झलक देता है।

उपन्यासकार की सफलता पात्रों के सफल चित्रण पर ही निर्भर है। चित्रण की सफलता के लिए विशेषतया तीन गुणो की आवश्यकता रहती है—(१) सजीवता, (२) स्वाभाविकता और (३) सगति। यदि उपन्यासकार अपने पात्रो में ये तीन गुण स्थापित करने मे सफल हो जाता है तो वह कुशल उपन्यासकार कहलाता है।

सजीवता—उपन्यासकार को घटनाओं की भी सृष्टि करनी पड़ती है। घटनाओं और पात्रों का निर्माण करके ही वह जीवन-चित्र अंकित करने का प्रयास करता है। इस प्रयास मे यदि वह घटनाओं को अधिक महत्त्व दे देता है तो पात्र मे प्राण-प्रतिष्ठा नही हो पाती, वह निर्जीव सा ही रहता है। यदि घटनाएँ इतनी आकर्षक है कि वे पात्र के व्यक्तित्व पर छा जाती

है तो पात्र उनके द्वारा परिचालित होता परिलक्षित होता है। उसकी विवशता उभरने लगती है। लेखक का अपना काम भी बढ जाता है। उसे ही स्वयं आगे बढकर सब घटनाओं का वर्णन करना पड़ता है। वह पात्र मे प्राण-प्रतिष्ठा कर उसे स्वयं अपनी विशेषताओं के अनुरूप कार्य करने के लिए खुला नहीं छोड़ता। वह पग-पग पर उसे सँभालता चलता है। वह अशक्त, अस्वस्थ मानव की भाँति एक आश्रय से मानो घुमाया जाता है। उसमे प्राण-शक्ति का संचार नही किया जा सकता, अतएव वह निर्जीव कठपुतली की भाँति नृत्य करके रंगस्थली से ओझल हो जाता है। उसकी सफलता और असफलता उसकी विभिन्न घटनाओं पर निर्भर होती है। इसके विपरीत यदि लेखक पात्र का निर्माण करके उसमे विशिष्ट गुणो, संस्कारों की प्रतिष्ठा करके तदनुरूप व्यापार करने मे प्रवृत्त कर देता है, तब सभी घटनाएँ उसकी अपनी बुद्धि और कार्यकुशलता का परिणाम दृष्टिगोचर होती है। अपनी चारित्रिक दुर्बलताओ वा सबलताओ के द्वारा वह अपने आस-पास एक परिस्थितियों का घेरा बना लेता है। फिर इन परिस्थितियों की जटिलता को सरल बनाने के लिए अनवरत जूझता, सघर्ष करता चित्रित किया जाता है। मन की दुर्बलताएँ उसे परास्त करा देती हैं; आत्मा की धीरता, उदारता और साहस आदि गुण उसे विजय-माला पहना देते है। विजय-पराजय के लिए वह स्वयं उत्तरदायी होता है। वह सजीव, सशक्त, स्वस्थ कहलाता है। उसका अन्तर्जगत् क्रियाशील रहता है। बाहर की परिस्थितियों के प्रति उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट होती रहती है। यही सजीवता उपन्यासकार की सफलता की परिचायिका मानी जाती है।

स्वाभाविकता—पात्रो के दो प्रकार कहे जा चुके है—वर्गगत और व्यक्तित्व-प्रधान। इन दोनो प्रकार के पात्रो में स्वाभाविकता लाने के लिए उपन्यासकार को विशेष सतर्क रहना पड़ता है। अपने वर्गगत पात्र मे उसे कुछ विशेषता की झलक देनी पड़ती है। यदि वह अपने वर्गगत पात्र में

कुछ विशेषता स्पष्ट करने में असफल रहता है तो उसका पात्र-निर्माण दूषित कहा जा सकता है परन्तु यदि वह अपने पात्र मे विशिष्ट वर्ग की सामान्यताएँ प्रचुर मात्रा मे विन्यस्त करके भी उसके व्यक्तित्व की झलक भी दिखा देता है तो उसकी वह पात्र-प्रतिष्ठा निर्दोष मानी जाएगी। इसी प्रकार यदि उपन्यासकार अपने पात्र को इतना अद्वितीय प्रकृति वाला बना देता है कि वह सर्वथा लोकातिरिक्त दृष्टिगोचर होता है तो वह भी अस्वाभाविक एवं कृत्रिम माना जाता है। अतएव पात्र में सामान्यातिरिक्त विशेषताओं की प्रचुर मात्रा प्रकट करके भी उसमें कुछ सामान्यता भी प्रतिष्ठापित करनी आवश्यक होती है। प्रेमचन्द के पात्रों में सामान्यता की प्रचुरता रहती है, वे अपने वर्ग के प्रतीक से आभासित होते है, फिर भी वे अपना विशिष्ट व्यक्तित्व भी रखते है, अतएव वे स्वाभाविक कहे जा सकते हैं। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासो के पात्र अद्वितीय प्रकृति के चित्रित किये जाते है। उनमें स्वाभाविकता की कमी रहती है। स्वाभाविकता की अपेक्षा उनमें सम्भाव्यता का गुण अधिक मात्रा में रहता है। 'सन्यासी' उपन्यास के पात्र प्राय. इसी कोटि के है। स्वाभाविकता का गुण पात्र के चित्रण का एक महत्त्वपूर्ण गुण है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

सगति—पात्र-चित्रण की दृष्टि से सगति का गुण भी अत्यन्त उपादेय है। इसके बिना उपन्यास में विश्वसनीयता की उत्पत्ति नहीं होती। जब एक बार उपन्यासकार किसी पात्र की प्राण-प्रतिष्ठा कर देता है तब उसे अपने चारित्रिक गुणों के अनुरूप ही व्यवहार करना चाहिए। विरोधी गुणों का प्रदर्शन 'असगति' दोष उत्पन्न कर देता है। यदि कही यह अपने गुणों के प्रतिकूल आचरण करता है तो वहाँ उसका कारण भी निर्दिष्ट रहना चाहिए। अकारण पात्र का अपने गुणों का परित्याग करना पाठक की रुचि पर आघात करता है। पाठक की आँखो के आगे जो मायाजाल तना रहता है वह टूटने लगता है और उसे वह औपन्यासिक सृष्टि अवास्तविक प्रतीत होने लगती है। अब वह उसके लिए नीरस एवं असुन्दर हो जाती है। अपनी सृष्टि को विश्वसनीय बनाने, अपने माया-जाल को

अक्षुण्ण रखने तथा उसे सरस एवं मनोहर प्रदर्शित करने के लिए उपन्यास-कार को अपने पात्र-चित्रण में संगति बनाए रखनी चाहिए।

चरित्र-चित्रण

पात्रो के चरित्र का चित्रण करने के लिए उपन्यासकार प्रायः दो शैलियों का विनियोग करते हैं—(१) विश्लेषणात्मक प्रत्यक्ष शैली (२) नाटकीय परोक्ष शैली। उपन्यासकार अपने चरित्र का विश्लेषण स्वयं भी कर सकता है तथा अपने पात्रों द्वारा भी करवा सकता है। जब वह स्वयं अपने पात्र के गुण-दोषों पर प्रकाश डालने के लिए पाठक के सम्मुख आ जाता है तब वह विश्लेषणात्मक प्रणाली का अनुसरण करता है। जब वह अन्य पात्रों द्वारा, उनके पारस्परिक कथोपकथन द्वारा, विभिन्न व्यापारों द्वारा, स्वय पात्र के द्वारा अथवा पात्र के विचारों या सिद्धान्तों के उल्लेख द्वारा किसी पात्र का चरित्र अभिव्यक्त करता है तब वह नाटकीय प्रणाली का अनुसरण करने लगता है। कथावस्तु के प्रवाह को स्थिर रखने तथा पाठकों को स्वयं रसास्वादन करने का अवसर देने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक पात्र और पाठक के बीच में बहुत कम उपस्थित हो।

पात्र-सृष्टि का आधार वा क्षेत्र

उपन्यास जीवन का चित्र होता है, अतः उसकी पात्र-सृष्टि का आधार यथार्थ जीवन ही माना जाता है। क्षेत्र की दृष्टि से व्यापक नर-क्षेत्र को स्वीकार किया जा सकता है। उपन्यासकार अपने पात्रों को यथार्थ जीवन के व्यापक नर-क्षेत्र से चुनता है। जीवन में अच्छे व्यक्ति भी हैं, बुरे भी, शिक्षित भी, अशिक्षित भी, ग्रामीण भी, नगर-निवासी भी। नर-क्षेत्र की परिधि में नर और नारी दोनों का समावेश है। इसमें उच्च वंशज भी आ जाते हैं, नीच वंशज भी। दरिद्र किसान और मजदूर का, सम्पत्ति और सांसारिक विभूतियों के स्वामी महाजन, ज़मीदार पूँजीपति का भी इसमें अस्तित्व है। इसी व्यापक क्षेत्र में शासक, सरकारी कर्मचारी भी अपना

कार्य करते दीख पड़ते हैं। उपन्यासकार इन सब क्षेत्रों से अपने पात्रों का चुनाव कर लेता है। इस प्रकार उपन्यास वास्तविक नर-जगत् का एक प्रतिबिम्ब-सा प्रतीत होता है। इस वास्तविक जगत् में ऐसा मानव कोई नही है जिसके मन मे कभी दुर्बलता न आती हो। इस ससार मे ऐसा भी प्राणी नही है जो सदा दुष्कर्म ही करता हो, कभी उसमें सत्प्रेरणा उत्पन्न होती ही न हो। सत्-असत् प्रवृत्तियों का समन्वय ही तो जगत् है। इसका प्रतिबिम्ब उपन्यास इस समन्वय से शून्य नही होना चाहिए। इसमें भी जो पात्र आएँ वे भले भी हों बुरे भी, सच्चरित्र भी दुश्चरित्र भी। सत् पात्रों का चित्रण करते समय उपन्यासकार को यह ध्यान रखना होगा कि वे सर्वथा निर्दोष नही हो सकते। निर्दोष चरित्र तो इस लोक में उपलब्ध नही हो सकता है, वह काल्पनिक लोक का ही प्राणी माना जा सकता है। उसे मानव नहीं देवता का नाम दिया जाएगा। महान्-से-महान् मनुष्य में भी कुछ-न-कुछ कमज़ोरियाँ होती हैं। उसे सजीव बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसकी इन कमज़ोरियों का दिग्दर्शन करा दिया जाए। इसके अतिरिक्त इस प्रकार सत्पात्रों की सर्वदा विजय भी चित्रित नहीं करनी चाहिए। वास्तविकता की यह माँग है कि सत्पात्र भी यातनाएँ सहते, मुसीबतें झेलते, अपमानित होते, पराजय की लज्जा का अनुभव करते चित्रित किये जाएँ। उनकी पराजय भी सत्प्रेरणा उत्पन्न करती प्रदर्शित की जा सकती है। पाठको मे सत्प्रवृत्ति उत्पन्न करने तथा उन्हें दुष्प्रवृत्ति से रोकने के लिए यह आवश्यक नही कि सत्पात्रों की विजय अंकित की जाए और असत् पात्रो की दुर्दशा। आवश्यकता तो ऐसे वातावरण के निर्माण की है जिसका प्रभाव पाठक के चित्त पर सदा अच्छा पड़े। वातावरण की भव्यता एवं मनोहरता इतनी हृदयग्राहिणी हो कि पाठक स्वतः अभिलषित मार्ग की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा ग्रहण करे। उपन्यासकार असत् पात्रो को भी प्रमुखता प्रदान कर सकता है। वह उनकी दुर्बलताओं पर पूर्ण प्रकाश डाल सकता है। वह उनका पतन भी चित्रित कर सकता है। मानव की पशुवृत्तियों का उल्लेख भी उपन्यासकार

के लिए वर्जित नहीं है। असत्पात्रों को फलते-फूलते, सांसारिक ऐश्वर्यो का उपभोग करते, विजयोन्माद से इतराते चित्रित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यह सब इस रूप में ही होना चाहिए कि पाठक की कोमल वृत्तियों पर इस दूसरे चित्रण का दूषित प्रभाव न पड़े। कलुषित वातावरण इतना नग्न एव प्रभावोत्पादक नहीं होना चाहिए कि वह पाठक की सद्वृत्तियों को ही साथ बहा ले जाए। इस वातावरण से ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न करना उपन्यासकार का कर्त्तव्य हो जाता है कि पाठक ऐसे असत्पात्रों के प्रति विरक्ति आदि भावनाओ की अनुभूति करने लगे। मानव की कमज़ोरियाँ उसे अपने वश मे न कर सकें, वह उन्हें अपने वश मे करने की क्षमता धारण करे। निस्सन्देह मानव में दुर्बलताएँ है। इनके कारण से ही वह पतन की ओर उन्मुख होने लगता है। समाज मे ऐसे व्यक्तियों की कमी नही जो अपने दुश्चरित्र के कारण पतित कहलाते है। उपन्यास मे ऐसे पात्रो का सन्निवेश निषिद्ध नही। ध्यान देने योग्य बात इतनी ही है कि इन व्यभिचारी दुश्चरित्र व्यक्तियो की कलुषित, पाप-पकिल गाथाओ के अश्लील चित्र प्रस्तुत करने से उपन्यासकार को सदा बचना चाहिए। हम भले ही बुरों के प्रति घृणा न करें परन्तु बुराई के प्रति घृणा उत्पन्न करना तो मानव के लिए हितकारी है, अतएव उपन्यासकार को पात्रो के निर्वाचन के सम्बन्ध मे जो स्वतन्त्रता प्राप्त है, उसका सदुपयोग ही करना चाहिए, दुरुपयोग नही। पतित व्यक्तियों की अनैतिकता को इतना चित्ताकर्षक नही बना देना चाहिए कि पाठक को ग्राह्य प्रतीत होने लगे। नैतिकता को सर्वथा भुला देना हितकर नही हो सकता, अतः असत्पात्रों के चित्रण मे सदा सयत भाषा का ही प्रयोग अपेक्षित है।

कथोपकथन

नाटक के प्रभाव से उपन्यास में भी कथोपकथन को विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया है। अब उपन्यास के तत्त्वों मे इसका भी परिगणन किया

जाता है। यह एक ऐसा तत्त्व है जिससे उपन्यासकार अपनी रचना को वास्तविकता का रूप देने मे सफल हो जाता है। इससे ऐसा आभास होने लगता है कि हम वास्तविक जगत् के जनसमुदाय में विचरण कर रहे हैं। इसके द्वारा उपन्यास का सारा व्यापार हमें वास्तविक जगत् के व्यवहार के अनुरूप ही झलकने लगता है। फलतः पाठक इस काल्पनिक सृष्टि का स्वय रसास्वादन करने का अवसर प्राप्त कर लेता है। अब उसे दूसरे के माध्यम से घटनाओं के समझने की आवश्यकता नही रहती है। कथाक्रम के स्वाभाविक विकास में कथोपकथन अपना समुचित योग प्रदान कर सकता है। कथोपकथन के मूल मे व्यापार चलता अनुभव किया जा सकता है। फिर भी इसका विशेष उपयोग पात्रों के व्यक्तित्व के उद्घाटन में लिया जा सकता है। इससे पात्रों की उमगो, प्रवृत्तियों और अनुभूतियो पर विशेषतया प्रकाश डाला जा सकता है। घटनाओ से अन्तःकरण में उठने वाली प्रतिक्रिया भी इसके माध्यम से स्पष्ट की जा सकती है। यह घटना और पात्र के पारस्परिक आदान-प्रदान का प्रकाशक सिद्ध हो जाता है। इसके प्रयोग से चरित्र की व्याख्या के लिए उपन्यासकार को स्वय पाठक के सम्मुख उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं रहती है।

कथोपकथन के सम्बन्ध में सबसे आवश्यक बात यही है कि यह कथा का अभिन्न अंग बन जाना चाहिए। इसकी स्वतन्त्र सत्ता रोचकता तथा कथा-प्रवाह के लिए घातक हो सकती है। दूसरी बात यह है कि यह चरित्र के विकास में अथवा घटना-प्रसार में सहायक होना चाहिए अन्यथा अप्रासांगिक कथोपकथन स्वतन्त्र रूप में चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण, प्रभावशाली क्यों न हो, उपन्यास में उसकी स्थिति उपयुक्त नही समझी जायगी। कथोपकथनो में विन्यस्त विषय कथा से घनिष्ठता से जुड़ा होना चाहिए अथवा चरित्र के विकास में सहायक होना चाहिए। स्वाभाविकता अर्थात् पात्रानुरूपता, प्रासागिकता, सरलता, सजीवता, स्पष्टता, सक्षिप्तता और सरसता ये कथोपकथन के गुण कहे जा सकते हैं। सक्षेप में कथोपकथन वक्ता के व्यक्तित्व के, उसकी योग्यता के अनुरूप होने चाहिएँ, जैसा अवसर

हो वैसी ही बातचीत पात्रो के द्वारा करवाई जानी चाहिए। यह बातचीत बड़ी सरल अर्थात् छोटे-छोटे वाक्यो, सरल शब्दों वाली होनी चाहिए। भाव के अनुकूल शब्द-विन्यास से कथोपकथन में सजीवता आ जाती है। कथोपकथन की भाषा स्पष्ट होनी चाहिए और वह उचित विस्तार वाला होना आवश्यक है। इन सब गुणो से उसमें सरसता की सृष्टि हो जाती है और वह पाठक के हृदय का स्पर्श करने लगता है।

उपन्यास के कथोपकथन देशकाल तथा सामाजिक परिस्थितियों के स्पष्टीकरण में भी उपयोगी कहे जा सकते है। इनका प्रयोग लेखक अपने विचारों के प्रचारार्थ भी कर सकता है। ऐसे कथोपकथनों का विस्तार उचित मात्रा से कई बार अधिक हो जाता है। कथा के प्रसार की दृष्टि से भले ही इनका विशेष महत्त्व प्रतिपादित न किया जा सके परन्तु विचार वा उद्देश्य तत्त्व की दृष्टि से इनका महत्त्व निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ लेखक इन कथोपकथनों के माध्यम से अपने विचारो का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करता है वहाँ इनका महत्त्व विचारो की गम्भीरता, सत्यता, तर्कमयता आदि गुणो के आधार पर ही स्थापित किया जा सकता है। ऐसे कथोपकथन सक्षिप्त भाषण का सा रूप धारण करते परिलक्षित होते है, अतएव इनको विधायक तत्त्व की दृष्टि से कथोपकथन कहना समुचित नही है। इनको तो उपन्यास की अपनी व्याख्या या उसका प्रकथन ही कहा जा सकता है। वस्तुत: तत्त्व की दृष्टि से उन्ही कथोपकथनों का महत्त्व है जिनके साथ बोलने वाले का नाम तक नही रहता। केवल धारा-प्रवाह से ही उत्तर-प्रत्युत्तर करने वाले का बोध होता जाता है।

वार्त्तालाप के अवसर पर पात्रों के मुख पर जो भाव-भंगिमा होती है उसका भी चित्रण किया जा सकता है। बीच-बीच में वक्ता के मुख पर झलकने वाली भावोद्वेगजन्य विकृति को तथा अन्यान्य शारीरिक चेष्टाओं को अंकित कर देने से लम्बे कथोपकथन भी रुचिकर बनाये जा सकते है। कथोपकथनो के उपरान्त लेखक अपनी आलोचना एव

व्याख्या भी प्रस्तुत कर सकता है और उसके महत्त्व का स्पष्टीकरण कर सकता है।

देश-काल वा वातावरण

औपन्यासिक कथा के विधान के साथ देश और काल का सम्बन्ध होता है। सारा औपन्यासिक व्यापार किसी विशेष देश या काल से सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार देश-काल कथानक के विषय-क्षेत्र या पृष्ठिभूमि का स्थान ग्रहण कर लेता है। इसी के अन्तर्गत घटनाओ के स्थान और समय का चित्रण होता है। इसी में किसी देश वा समाज के शिष्टाचार, प्रथाएँ, जीवन की गतिविधि, प्राकृतिक पृष्ठिभूमि तथा अन्यान्य वाह्य परिस्थितियों का चित्रण भी समाविष्ट रहता है।

देश-काल तत्त्व के लिए वातावरण शब्द भी प्रयुक्त किया जा सकता है। कथानक की घटनाओं में स्पष्टता, वास्तविकता तथा मार्मिकता लाने में इसकी उपयोगिता है। स्थान और समय की पृष्ठभूमि में पात्रो का चित्रण करने से वे पात्र मानव के अनुकूल प्रतीत होने लगते है। वे कल्पना-लोक के होते हुए भी इहलोक के दृष्टिगोचर होते हैं। इससे पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट उभार में आने लगता है। वे सजीव प्रतीत होते हैं। उपन्यास के प्रतिपाद्य विषय के क्षेत्र का इसके द्वारा स्पष्ट सकेत मिल जाने से लेखक के विचारों वा कथा के उद्देश्य को समझने में विशेष सुविधा हो जाती है। अमूर्त्त एवं सूक्ष्म विचार स्थूल परिस्थितियो के रूप में मूर्त्त होकर ग्राह्य बन जाते हैं। पाठक के हृदय को भावमग्न करने में भी वाह्य परिस्थितियो का सम्यक् चित्रण पर्याप्त क्षमता रखता है।

यह वातावरण दो प्रकार का हो सकता है। एक प्राकृतिक, दूसरा सामाजिक। प्राकृतिक वातावरण में जड़ प्रकृति के चित्रण के साथ-ही-साथ चेतन पात्र की मानसिक स्थिति के चित्रण को समाविष्ट किया जा सकता है। सामान्यतया प्राकृतिक वातावरण में उन सब स्थानों का चित्रण सम्मिलित रहता है जिनमें पात्र विचरण करते हैं और अपने व्यापारों का

विस्तार करते हैं। वन्य-प्रदेश, नगर-प्रान्त, शस्य-श्यामल रमणीय भूखण्ड, नदी-तट-प्रान्त, उच्च पर्वत शिखर, नानाविध वृक्षो के झुरमुट, लता-कुज, विशाल अट्टालिकाएँ, झोंपडियाँ, कुसुमित पुष्पों से सुसज्जित उपवन, वन-पथ, तथा राजपथ सबका चित्रण इसी के अन्तर्गत माना जाता है।

इन सब स्थानों का चित्रण करते समय उपन्यासकार को यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वातावरण या देशकाल का चित्रण उपन्यास में साधन रूप होता है, साध्य नही। कथा की धारा जिस भू-भाग में से होकर बहती है उसका वर्णन कथा के सौन्दर्य को बढा देता है, इसमें कोई सन्देह नही है परन्तु वे भाग धारा के समीपवर्त्ती होने चाहिएँ। उनका वर्णन भी सीमित विस्तार में होना अपेक्षित है। अत्यधिक विस्तार से ये कथानक के सौन्दर्य को बढ़ाने के स्थान पर घटाने वाले बन जाते हैं। सामाजिक वातावरण के चित्रण में भी इसी सीमित विस्तार का ध्यान रखना आवश्यक होता है। घटनाएँ जिस समय में होती है उसके साथ इस वातावरण का सम्बन्ध रहता है। इसमें वे सब सामयिक परिस्थितियाँ समाविष्ट हो जाती हैं जिनकी विस्तृत छाया में पात्रों को व्यापार करते चित्रित किया जा सकता है। सामयिक परिस्थितियों में राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियाँ समाविष्ट रहती हैं। इन परिस्थितियो के चित्रण के लिए उपन्यास नहीं लिखा जाता। हाँ, कथा के प्रसार के लिए इनकी आवश्यकता होती है। यह तथ्य उपन्यासकार को प्रतिक्षण अपने सम्मुख रखना अपेक्षित है। केवल देश-काल को साध्य बना लेने से कथा-तन्तु के विशृंखलित होने की आशंका रहती है।

आधुनिक उपन्यासकारों की प्रवृत्ति मानव जीवन का व्यापक चित्र प्रस्तुत करने की है। मानव जीवन बहुत विस्तृत है। मानव का आन्तरिक जीवन जटिल वृत्तियों के ताने-बाने से बुना हुआ है। इसके विधायक सूत्रों का अन्वेषण करना, उनकी उलझनों को सुलझाने का उपाय ढूँढना एक बडे विस्तृत कथानक की अपेक्षा रखता है। इसके अतिरिक्त मानव का वाह्य जगत् भी अनेक क्षेत्रों में विभक्त है। उन सब क्षेत्रों का

यथावत् एवं सर्वाङ्गीण चित्रण अत्यन्त विस्तृत कथानक-पटल ही सम्भव हो सकता है। आधुनिक उपन्यासकारों की सामान्यतः दो प्रवृत्तियाँ समानान्तर चलती दृष्टिगोचर होती हैं। अपने उपन्यास को इतना विस्तृत कर देने की प्रवृत्ति भी आजकल है, जिससे कि वह व्यापक जगत् के अनुरूप ही विस्तृत आभासित होने लगता है। साथ ही ऐसी प्रवृत्ति भी परिलक्षित हो रही है कि उपन्यासकार जीवन के केवल एकपक्षीय चित्रण में ही अपनी इतिकर्त्तव्यता समझता है। जीवन को समष्टि रूप में देखने के स्थान पर व्यष्टि रूप में देखने की प्रवृत्ति भी बढ़ती जा रही है।

प्राकृतिक वातावरण और सामाजिक वातावरण के समुचित समावेश से उपन्यास प्राचीन महाकाव्य के समीप पहुँच जाता है। इसी कारण आजकल उपन्यास को 'गद्यमय महाकाव्य' भी कह दिया जाता है।

विचार वा उद्देश्य

साहित्यकार का व्यक्तित्व उसकी रचना में प्रतिफलित होता है। वह व्यक्तित्व वाह्य जगत् के प्रभाव से निर्मित होता है। उसके अपने अन्तर्जगत् का भी यथेष्ट भाग उसमें अन्तर्निहित रहता है। वह अपने युग से प्रभावित भी होता है और युग को अपने अन्तर्जगत् से प्रभावित भी करता है। दूसरे शब्दों में साहित्यकार निर्मित भी होता है और निर्माता भी। उपन्यास भी साहित्य का एक रूप है। उसमें भी उपन्यासकार का अपना जीवन किसी न किसी रूप में प्रतिबिम्बित रहता है। उपन्यास को जीवन की व्याख्या या आलोचना कहा जाता है। इसीलिए जीवन-व्याख्या को उपन्यास का एक विधायक तत्त्व स्वीकार किया जाता है।

उपन्यासकार के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह वाह्य जीवन के प्रभाव को अपनी रचना में प्रतिफलित न करे। उसे विवश होकर, स्पष्ट रूप से या व्यंग्य रूप से जीवन के सम्बन्ध में अपने सुझाव प्रस्तुत करने पड़ते हैं। जीवन-क्षेत्र में विचरने वाले पुरुषों और स्त्रियों, उनके पारस्परिक सम्बन्धों, विचारों, अनुभूतियों, भावनाओं और प्रवृत्तियों से उसका

सीधा सम्बन्ध रहता है। वह उन भावनाओं की अवहेलना नही कर सकता जिनके द्वारा इनका जीवन परिचालित हो रहा है। यही कारण है कि सामान्य से सामान्य स्तर वाले उपन्यास में जीवन सम्बन्धी विशेष विचार मूल भावना के रूप में अन्तर्निहित रहते हैं। उपन्यासों में यही विचार जीवन-व्याख्या के रूप में उपन्यस्त रहते हैं। विचार वा उद्देश्य नामक तत्त्व से इनका ही सम्बन्ध होता है।

उपन्यासकार अपने जीवन-दर्शन को नीतिशास्त्र की भाँति उपदेशक रूप में विन्यस्त नही करता। वह तो अपने पात्रों को नाटकीय विधि से व्यापार करते हुए हमारे सामने लाता है। किसी बात पर बल दे देता है और हमें परोक्ष वृत्ति से झलका देता है कि वह जीवन को किस रूप में अनुभव करता है। उसके पात्र साधारण रूप से ही व्यापार करते हुए उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट निरूपित करने में सफल हो जाते हैं। वे वास्त-विक जीवन के अनुरूप व्यवहार करते परिलक्षित होते हैं। वे किसी वाद या सिद्धान्त के अनुसार व्यापार करते दृष्टिगोचर नही होते। पात्रों को किसी वाद का प्रतीक बनाने के स्थान पर उपन्यासकार उनमें ऐसे गुणों का विकास चित्रित कर सकता है जिनकी समाज को, समष्टि रूप से मानव को अपने हित के लिए आवश्यकता है।

उपन्यासकार अपने युग की सामयिक समस्याओं पर भी दृष्टिपात कर सकता है और उन समस्याओं के समाधान भी इसी रूप में प्रस्तुत किये जा सकते है कि ऊपर से ठूसे हुए प्रतीत न हों। उनका आधार तर्क होना चाहिए और वे पात्रों के व्यापारों के स्वाभाविक परिणाम के सदृश प्रतीत होने चाहिएँ। यदि वे समाधान यथार्थ से दूर केवल आदर्श-भावना पर अवलम्बित होगे तो वे पाठक को खटकेंगे और लेखक के उद्देश्य को अव्याव-हारिक बना देंगे। सामयिक जीवन पर लेखक की अपनी अनुभूतियाँ जब परोक्ष रूप से प्रकट होती है तब वह अपने उद्देश्य को बडी सफलता से पाठक के सम्मुख रख देता है। इसी प्रकार वह मानव के शाश्वत जीवन की मीमासा भी उपन्यास मे कर सकता है। सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि

शाश्वत समस्याओं के उपलक्ष्य में भी उसके सुझाव कथा के माध्यम से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

शैली

साहित्यकार अपने भावों को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है। भाव-प्रेषणीयता उसका सहज व्यापार है। अपनी अनुभूतियों को मूर्त्त रूप प्रदान करते समय वह साहित्य के किसी एक रूप में अपनापन समाविष्ट कर देता है। यही उसकी शैली कहलाती है। सामान्यतया शैली अभिव्यक्ति के प्रकार को कहते हैं। उपन्यासकार अपनी रचना के लिए सर्वसामान्य विधायक तत्त्वों को लेकर उनमें अपनापन भी साथ ही गुम्फित कर देता है। शैली-तत्त्व का सम्बन्ध उपन्यास-शरीर में झलकने वाले इसी अपनेपन के साथ है। इसी के कारण तत्त्वों की दृष्टि से अन्य उपन्यासों के सदृश होकर भी वह भिन्न प्रतीत होने लगता है।

प्रायः उपन्यासकार अपनी अभिव्यक्ति चार प्रकार से करता है। वह इतिहासकार की भाँति, अन्य पुरुष शैली से अपनी कथा कह देता है या वह उत्तम पुरुष शैली में अपनी कहानी कहने लगता है। इनके अतिरिक्त पत्र शैली और डायरी शैली भी उपन्यासकार अपना सकता है। अन्य पुरुष-शैली को प्रत्यक्ष प्रणाली या महाकाव्य प्रणाली भी कहा जा सकता है। इसमें उपन्यासकार निरपेक्ष होकर कहानी कहता है। इस शैली में विषय-विस्तार का पर्याप्त अवसर मिल जाता है और उसके प्रसार में पर्याप्त स्वच्छन्दता भी रहती है। पात्र की निजी अनुभूतियाँ किसी अन्य व्यक्ति द्वारा विश्लेषित होने के कारण यह अन्य पुरुष शैली कहलाती है। उत्तम पुरुष शैली को आत्मकथा प्रणाली भी कहा जाता है। इसमें लेखक उत्तम पुरुष वाचक 'मैं' का प्रयोग करता है और अपनी कहानी के मुख्य पात्र (नायक या नायिका) के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है, उसे कल्पित आत्मकथा का रूप दे देता है। इसमें पात्र अपनी अनुभूतियों का प्रकाशन स्वयं समुचित रीति से कर सकता है। इसमें अतीत काल की

बातों के आधार पर या वर्णित घटनाओं के उपरान्त एक ही पात्र की पश्चाद्वर्त्ती व्याख्या रहती है। एक प्रकार से अतीतकालीन घटनाओ का इसमें सिंहावलोकन रहता है। जब उपन्यासकार पात्रो के द्वारा अपनी कथा का प्रसार करता है तब वहाँ पत्र-शैली होती है। इस प्रणाली की सबसे मुख्य उपयोगिता यह है कि इससे सारे महत्त्वशाली पात्रो की उन निजी भावनाओं का प्रकाशन समुचित रीति से किया जा सकता है जो कि उनमें, वर्णित घटनाओं के समकाल में, अथवा उनके प्रारम्भ होने के ज्ञान से पूर्व होती है। कई लोग इसी एक ही बात के कारण पत्र-प्रणाली द्वारा लिखे उपन्यास को अन्य विधि से लिखे उपन्यासों से उत्कृष्टतर कहते हैं। इसी प्रणाली से मिलती-जुलती डायरी शैली है। इसमें कथा पात्र की अपनी डायरी में उपन्यस्त लेखों द्वारा कही जाती है। इन लेखो से ही विभिन्न घटनाओं पर प्रकाश डाल दिया जाता है। साहित्य के तत्त्वों के आधार पर शैली के गुणों पर विचार किया जाता है। भाव-तत्त्व के आधार पर शैली के प्रभावोत्पादकता, मर्मस्पर्शिता, सजीवता आदि गुण माने जा सकते है। कल्पना-तत्त्व से चित्रोपमता, भाषा की दृष्टि से शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, स्वच्छता, प्रवाह, माधुर्य आदि गुणो की कल्पना की जा सकती है।

उपन्यासकार का भाषा पर पूरा अधिकार होना चाहिए। भाषा उसके भावों का अनुसरण करने वाली होनी अपेक्षित है। कोमल भावों की अभिव्यंजना में, उसमें कोमलता परिलक्षित हो और क्रोध आदि उग्र भावों के प्रकाशन में भाषा भी उग्र रूप धारण करके आवश्यक प्रभाव को तीव्र बना दे। लेखक का भाव भाषा में उछलता, कूदता, नाचता दृष्टिगोचर होना चाहिए। भाषा तभी यथार्थ रूप में भाषा कही जा सकती है यदि वक्ता के किसी भाव को अपने में छिपाकर नही रखती प्रत्युत उसे और अधिक उज्ज्वल रूप प्रदान कर पाठक के मर्मस्थल तक पहुँचाकर उचित प्रभाव वा प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है।

उपन्यासकार अपनी भाषा में विशेष रूप-व्यापारसूचक शब्दो के

प्रयोग तथा शब्द-शक्तियों के प्रयोग से चित्रमयता, मर्मस्पर्शिता आदि काव्य-गुण समाविष्ट कर सकता है। लक्षणा और व्यंजना लेखक के सूक्ष्म भाव को स्थूल साकार रूप प्रदान कर देती हैं। इनके समुचित विनियोग से भाषा की अभिव्यंजकता को समृद्ध किया जा सकता है। उपन्यास की भाषा में महाकाव्य की प्रतीकात्मकता को भी सन्निविष्ट किया जा सकता है। उपन्यासकार अपने कथनीय वस्तु और व्यापार के सदृश अन्य अप्रस्तुत वस्तु और व्यापार को लाकर कही-कही रूपकयोजना भी कर सकता है। इसके अतिरिक्त भाषा की पात्रानुरूपता भी आवश्यक है। इस गुण को यथासम्भव ही उपन्यास में स्थान दिया जा सकता है। निस्सन्देह, उपन्यास में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से पात्र लिये जाते है। उच्च से उच्च, शिक्षित से शिक्षित, किसान, ज़मीदार देहाती और विज्ञान, साहित्य, राजनीति में कुशल नागरिक पात्र भी उपन्यास-ससार में इकट्ठे विचरते दिखाये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में भाषा की एकरूपता अस्वाभाविक समझी जाएगी और भिन्नरूपता का अत्यधिक प्रवेश समष्टि-प्रभाव को विकृत कर देगा। अतः भाषा मे सामान्य अन्तर दिखाकर ही पात्र की योग्यता आदि पर प्रकाश डालना उचित है। इस दृष्टि से भाषा के दो ही रूप सामान्यतः ग्रहण किये जाते हैं। एक साहित्यिक और दूसरा देहाती। नगर के शिक्षित पात्रो के मुख से साहित्यिक भाषा का प्रयोग और ग्रामीण वा अशिक्षित पात्रो के मुख से देहाती अथवा प्रचलित शब्दो वाली भाषा का प्रयोग उचित माना जा सकता है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी भाषा की अभिव्यंजकता को बढा देता है। संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि उपन्यास की भाषा व्यवहारोपयोगी होनी चाहिए। उसमे सरलता, स्वच्छता और सरसता रहनी चाहिए।

उपन्यास के प्रकार

वर्ण्य विषय की दृष्टि से यदि हिन्दी के उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाए तो इनके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक भद

किये जा सकते हैं। उपदेश-प्रधान पौराणिक गाथाओं को आधार बनाकर यदि उपन्यास लिखे जाएँ तो वे धार्मिक कहला सकते हैं। समाज की सामयिक परिस्थितियों, समस्याओ, विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों, पारिवारिक समस्याओ को लेकर जो उपन्यास लिखे जाते है वे सामाजिक कहलाते हैं। जिनमें विशेषतया राजनीतिक समस्याओं, राजनीतिक परिस्थितियों वा आदर्शों को विषय बना लिया जाता है वे राजनीतिक उपन्यास कहलाते हैं। अतीत काल की घटनाओ के आधार पर जिन उपन्यासों की कथावस्तु निर्मित की जाती है वे ऐतिहासिक कहलाते हैं। आर्थिक विषमताओं, दुर्व्यवस्थाओं पर दृष्टिपात करते हुए जिन उपन्यासो का कथानक वर्णित किया जाता है वे आर्थिक उपन्यास होते हैं। इस प्रकार अन्यान्य विषयो को लेकर जब उपन्यास-रचना होगी तब उसी वर्ण्य विषय के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जा सकता है। वर्गीकरण के लिए यह आधार उचित नही समझा जाता क्योकि एक ही कथानक में विभिन्न विषयों का सम्मिश्रण इस प्रकार सम्भव हो सकता है कि वर्गीकरण में बाधा उपस्थित हो जाए। प्रायः तत्त्वों के आधार पर ही वर्गीकरण किया जाता है।

तत्त्वों के आधार पर वर्गीकरण

तत्त्वों की दृष्टि से यदि उपन्यास के भेद किये जाएँ तो मुख्यतः तीन होंगे—१. घटना-प्रधान, २. चरित्र-प्रधान, ३. घटना-चरित्र-सापेक्ष।

घटना-प्रधान

घटना-प्रधान उपन्यासों में पाठक का ध्यान घटना-चक्र पर जाता है, उस व्यक्ति पर नहीं जाता जो कि उन घटनाओं का जनक है। उपन्यास की घटनाएँ इतनी प्रबलता प्राप्त कर लेती हैं कि व्यक्ति भी घटनाओं का दास प्रतीत होने लगता है, उसकी विवशता प्रगट होने लगती है। इस प्रकार के उपन्यास में लेखक स्वय घटनाओं का वर्णन करता चलता है। पात्रों की स्थिति उसकी दृष्टि में नगण्य हो जाती है, अतएव वह उनके चरित्र

का विश्लेषण नहीं करता, उनके मानसिक पक्ष पर प्रकाश नही डालता। उनका अन्तर्जगत् निष्क्रिय रहता है, फलतः वे निर्जीव कठपुतली की भाँति अशक्त-अस्वस्थ प्रतीत होने लगते है। वे विकास-शून्य रहते है और लेखक की अँगुली पर नाचते पाठक के सम्मुख आते है। उनकी सफलता या असफलता घटनाओं पर निर्भर रहती है। घटनाएँ ही पाठकों के चित्र को आकर्षित करती हैं। पाठक का ध्यान सदा इसी बात की ओर लगा रहता है कि देखें आगे क्या होता है। घटनाएँ ही उसके हृदय में कौतूहल उत्पन्न करती हैं और फिर उसे शान्त कर देती हैं। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी आदि के उपन्यास घटनाओ को विशेष महत्त्व प्रदान करते परिलक्षित होते हैं। 'चन्द्रकान्ता', 'भूतनाथ', 'कुसुमकुमारी' आदि उपन्यास इसी श्रेणी के हैं।

चरित्र-प्रधान

चरित्र-प्रधान उपन्यासो में सभी घटनाएँ पात्रो की बुद्धि और कार्य-कुशलता का परिणाम होती है। पात्र वातावरण से प्रभावित होते हुए भी अपनी परिस्थिति का निर्माण अपनी मानसिक और आत्मिक शक्ति के आधार पर करते है। यदि उपन्यासकार चरित्र को सजीवता प्रदान करता हुआ घटना की उपेक्षा कर देता है और केवल चरित्र को ही मुख्यता दे देता है तो वह उपन्यास चरित्र-प्रधान कहलाता है। ऐसे उपन्यास के पात्र सामान्य मानव से भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें कुछ विशेपता आ जाने से ये विलक्षण प्रतीत होने लगते हैं। लेखक उन्हे सक्रिय चित्रित करता है। उनका अन्तर्जगत् स्पन्दित रहता है। उनके ये स्पन्दन-प्रति-स्पन्दन उन्हें सजीव बना देते हैं। अब वे कठपुतली की तरह किसी के इशारे पर नाचते प्रतीत नही होते। सजीव पदार्थ वही होता है जिसमें इच्छा और प्रयत्न दोनों रहते है। निर्जीव पदार्थ भी गतिशील रहते हैं, उनमें भी प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। उनकी यह गति स्वेच्छा से नही

अन्य किसी व्यक्ति की या प्राकृतिक नियम की प्रेरणा से परिचालित होती है । इस प्रकार केवल गति के होने पर वे सजीव नही कहला सकते। ठीक यही बात उपन्यास के पात्रो के सम्बन्ध में कही जा सकती है । यदि पात्र स्वयं अपनी इच्छा से अपने प्रयत्न की गति निर्धारित करता है और उसी के आधार पर वह सफल या असफल रहता है तो वह सजीव कहला सकता है। चरित्र-प्रधान उपन्यासो के पात्र इसी प्रकार स्वेच्छा से अपनी-अपनी प्रवृत्ति वा रुचि के अनुसार प्रयत्न करते दृष्टिगोचर होते हैं । पात्रो को इतनी प्रमुखता दे दी जाती है कि घटनाओं का, परिस्थितियों का उन पर किसी भी प्रकार का कोई प्रभाव प्रदर्शित नही किया जाता । उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता, वे स्थिर एव अविकासशील ही रहते हैं । वे अपने एक निश्चित स्वरूप को ही लिए प्रारम्भ से अन्त तक विचरते दिखाई पडते हैं । वाह्य जगत् उनके लिए अस्तित्वशून्य हो जाता है । वे अन्तर्जगत् के सकेत से ही क्रियाशील वर्णित किये जाते हैं । आज-कल मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली के उपन्यास इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं । श्री जैनेन्द्रकुमार जी का 'सुनीता' उपन्यास, इलाचन्द्र जोशी का 'सन्यासी' और अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास इस कोटि के उत्तम उदाहरण कहे जा सकते हैं ।

घटना-चरित्र-सापेक्ष

यदि उपन्यासकार अपने पात्रों को सजीव बनाते समय घटनाओं और पात्रों मे आदान-प्रदान की व्यवस्था स्थापित कर देता है तो वह उपन्यास घटना-चरित्र-सापेक्ष कहलाता है । इसमें घटनाएँ पात्र के चरित्र में परि-वर्तन उपस्थित करती हैं और पात्र घटनाओ को जन्म देता प्रतीत होता है । इसमें पात्र को इतनी प्रधानता नही दी जाती कि उस पर प्रतिदिन वाह्य जीवन मे घटित होने वाली घटनाओ या परिस्थितियो का प्रभाव ही न पडे । वह तो परिस्थितियो के दबाव मे पडता है और कभी उनको अपने वश में करने का यत्न करता है । कभी परिस्थितियाँ प्रबल हो जाती

हैं, कभी वह उनको अपने अनुकूल बना लेता है। इस प्रकार घटना और चरित्र में आदान-प्रदान चलता रहता है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों की भाँति इसमें भी पात्र अपने कार्यों के स्वयं उत्तरदायी होते है। विशेषता यह रहती है कि वे विकासशील हो जाते हैं। उनमें परिवर्तन की सम्भावना अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार के उपन्यास नाटकीय भी कहलाते हैं। हिन्दी के सामाजिक वा ऐतिहासिक उपन्यास प्रायः इसी कोटि के हैं। गबन, गोदान, मृगनयनी आदि उपन्यास इसी वर्ग के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं।

वर्गीकरण का अन्य आधार

उक्त आधार के अतिरिक्त उपन्यासों के वर्गीकरण का एक अन्य आधार भी माना जाता है। इसका सम्बन्ध उपन्यास के प्रकथन-प्रकार या परिणाम के साथ होता है। तात्पर्य यह है कि कथा का वर्णन करते समय या उसके परिणाम का निर्धारण करते समय लेखक की मूल-भावना या दृष्टिकोण के कारण उसमे एक प्रकार की विशेषता की सृष्टि हो जाती है। इसी विशेषता को दृष्टि में रखते हुए उपन्यास के दो भेद किये जा सकते हैं :—१. आदर्शवादी और २. यथार्थवादी।

आदर्शवादी

जिस उपन्यास की प्रकथन-शैली आदर्शवाद का आधार लेकर चलती है उसे आदर्शवादी उपन्यास कहा जा सकता है। आदर्शवाद की सबसे प्रमुख विशेषता अतीत के प्रति श्रद्धा है। आदर्शवादी लेखक प्राचीन व्यवस्थाओं पर अटूट विश्वास रखकर आगे बढता है। उसे उनका उल्लंघन सर्वथा असह्य होता है। वह उनके पुनःसंस्थापन के लिए आग्रह प्रदर्शित करता है। वह उन व्यवस्थाओं का समर्थन करने के लिए सर्वदा तत्पर रहता है। वेदना से निवृत्ति इसकी दूसरी विशेषता स्वीकार की जा सकती है। वास्तविक संसार की कटुता, पीडा, बाधा का वह साम्मुख्य नहीं कर पाता। यदि कभी इनका चित्रण भी वह करता है तो उसमें

यथार्थता की अपेक्षा भावुकता की मात्रा प्रचुरता से रहती है। प्राय: वह इन कठोर परिस्थितियों से अपनी विमुखता तथा पलायनवादिता का ही परिचय देता है। वह तो सदा काल्पनिक, आध्यात्मिक सुख के स्वप्नो में लीन रहता है। तीसरी विशेषता दैवी शक्ति पर भरोसा हो सकती है। आदर्शवादी मानवता की अपेक्षा किसी अदृश्य शक्ति पर विश्वास प्रकट करता है। इसीलिए उसके प्रकथन मे आकस्मिक चमत्कारपूर्ण घटनाओ का समावेश सम्भव है। वह असम्भाव्य तत्त्वों का भी आश्रय ले सकता है। आदर्शवादी की चौथी विशेषता लघुता के प्रति विरक्ति है। वह सदा अपने नायकों के लिए अभिजात वर्ग की ओर दृष्टिपात करता है। वह अपने प्रधान पात्र महापुरुषों, इतिहासप्रसद्धि व्यक्तियों में से चुनने का यत्न करता है। उसके हृदय मे उच्च, कुलीन पात्रों के प्रति श्रद्धा रहती है। यह श्रद्धा उसे निम्न वर्ग के पात्रों की अवहेलना की गुप्त प्रेरणा देती रहती है। इसी श्रद्धा के परिणामस्वरूप उसमे पाँचवी विशेषता यह आ जाती है कि वह चारित्रिक दुर्बलताओ को नही सह सकता। वह अपने पात्रो को इस रूप मे चित्रित करता है कि मानों उनमें ये दुर्बलताएँ क्षणिक रूप से भी स्थान नँही बना सकती। ऐसे उदात्तचरित पात्रों के विरोधी पक्ष के पात्रों में वह दुर्बलताएँ प्रदर्शित करता है और उनके प्रति गहरी घृणा का प्रकाशन करता है। वह इस पतन के लिए उन पात्रों को ही दोषी ठहराता है। वह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि सामाजिक तथा प्राकृतिक विवशताएँ मानव के पतन का कारण होती हैं, अतएव पापी घृणा का पात्र नही दया का पात्र होता है। वह तो पतित व्यक्ति के प्रति घृणा को प्रकट करना कर्त्तव्य समझता है। उसकी दृष्टि व्यक्ति पर न रहकर समाज पर रहती है। वह समाज के लिए व्यक्ति की उपेक्षा सहन कर सकता है। छठी विशेषता उसमे यह रहती है कि वह न्यायपक्ष की विजय मे विश्वास रखता है। वह अपने कथानक मे सत्य और असत्य में, न्याय और अन्याय मे, पुण्य और पाप मे, मंगल और अमंगल में संघर्ष का चित्रण करता है। उसे यह विश्वास है कि सदा सत्य की विजय होती

है। इसी विश्वास के अनुरूप वह सदा अपने कथानक का अन्त सत्य-विजय के रूप में उल्लिखित करता है। वह इस यथार्थ तथ्य की उपेक्षा करता है कि ससार मे सदा पुण्यात्मा, धर्मात्मा ही विजयी नही होते। सातवीं विशेषता कल्पित आदर्श रूप की स्थापना है। वह समाज में मगल की विजय चाहता है। वह सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य प्रतिष्ठित देखने को उत्सुक रहता है। यथार्थत. इसकी स्थापना सरल नही होती। वह कुछ कल्पित परिस्थितियों के निर्माण मे प्रवृत्त हो जाता है। वह एक ऐसे आदर्श समाज की सृष्टि करता है जिसकी सत्ता केवल उसकी कल्पना मे ही विद्यमान है, जिसका अस्तित्व वाह्य जगत् मे सम्भव नही है। वह सामाजिक कुरीतियो या दुर्दशाओ के उपशमन का, समाधान का मन.-कल्पित समाधान भी प्रस्तुत करने को आतुर रहता है। सबसे अन्तिम बात उसमें यह रहती है कि वह कला के साथ नीति का सम्बन्ध स्वीकार करता है। वह साहित्य को अमगल की क्षति के लिए साधन बना देना चाहता है, वह उसे उपयोगिता की दृष्टि से आँकने लगता है। वह सौन्दर्य की तो उपेक्षा कर सकता है परन्तु उपयोगिता को अपनी दृष्टि से ओझल नही कर सकता। उसकी पृष्ठभूमि में साँस्कृतिक मान्यताएँ रहती हैं। वह इन्ही मान्यताओ का प्रवल समर्थक तथा नैतिक आदर्शो का प्रचारक अथवा उपदेशक तक बनने लगता है। वह अनुभूति के साथ प्रभाव पर भी दृष्टि-पात करता है।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यास आदर्शवादी कहे जा सकते हैं। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकार विशेष उद्देश्य को लेकर अपने उपन्यास लिखते थे। वे अपने कथानकों द्वारा भारतीय जनता को अपने प्राचीन साँस्कृतिक गौरव से अवगत कराना चाहते थे और उसे वर्तमानकालीन अध.पतन की अनुभूति से सजग कर देना चाहने थे। वे अपने उद्देश्य में प्रचारात्मक थे। उनका उद्देश्य समाजसुधार, धर्मसुधार, व्यक्तिगत चारित्रिक सुधार भी था। हिन्दी के सर्वप्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' का नायक मदनमोहन भारतीय समाज के पतन का प्रतीक है। इसी काल के बालकृष्ण भट्ट के

'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान' भी नैतिक संस्कारों के शिक्षण के उद्देश्य से ही लिखे गए हैं। महन्त लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिकलाल', 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श हिन्दू' आदि उपन्यासो के नाम ही उनके उद्देश्यों पर प्रकाश डाल देते हैं। इनमे लेखक का आग्रह किसी न किसी नैतिक तथ्य को हृदयंगम कराना ही है। आदर्शवाद के सारे लक्षण तो इन प्रारम्भिक उपन्यासो में चरितार्थ नही होते, फिर भी अधिकांशत. ये आदर्शवाद के लक्षणो से युक्त है।

यथार्थवादी

जिस उपन्यास की प्रकथन-शैली और परिणाम-निर्धारण-शैली यथार्थवाद का आधार लेकर चलती है उसे यथार्थवादी उपन्यास कहा जा सकता है। यथार्थवादी का दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत होता है। वह अतीत लोक में परिभ्रमण करने के स्थान पर समसामयिक परिस्थितियों को अपनी विवेचना का विषय बनाता है। वह जीवन की वास्तविकता से अनुराग करता है। यदि वह वास्तविकता किसी प्राचीन व्यवस्था के उल्लंघन की प्रेरणा देती है तो वह उसके उल्लंघन के लिए सहर्ष उद्यत रहता है। नई आस्थाएँ उसको अपनी ओर खींचती हैं और वह उनका यथातथ्य चित्रण करके आत्मतुष्टि अनुभव करता है। उसके कथानक में जीवन का वास्तविक चित्र प्रतिबिम्बित होने लगता है। वह आदर्शवादी की तरह वैयक्तिक जीवन की वेदनाओं, पीड़ाओं, अभावो की ओर से मुँह नही मोडता। वह तो उनका वास्तविक उल्लेख करता है। वह उनका यथातथ्य स्वरूप पाठको के सम्मुख रख देना चाहता है। वह वेदना से निवृत्ति नही, उसकी ओर प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। उसे देवत्व पर विश्वास नही है। वह तो मानवता पर अटूट विश्वास धारण करता है। वह मानव को देवता बनाकर किसी अदृश्य लोक में परिभ्रमण नहीं करवाना चाहता। मानव मानव बना रहे यही उसकी कामना होती है। वह लघुता का विरोधी नही, वह तो उसके प्रति पूर्ण सहानुभूति रखता है। आदर्शवादी जिसे तुच्छ कहते

है, जिसे साधारण कहते है उसे ही वह असाधारण एवं महान् समझता है। वह अपने पात्र ढूंढने के लिए उच्च घरो के द्वार नहीं खटखटाता। वह तो टूटे-फूटे घरो के खुले दरवाजो में निस्सकोच प्रविष्ट हो जाता है और वही से अपने लिए पात्र निकाल लाता है। वह अपने पात्रो को चारित्रिक दुर्बलताओ से शून्य नही चित्रित करता। वह तो मानता है कि जब तक आत्मा इस भौतिक शरीर मे बन्द है तब तक वह वृत्तियो की दास है। चित्तवृत्तियो की चचलता दबाई जा सकती है, रोकी जा सकती है, इनका नियमन हो सकता है, परन्तु इनका मूलतः उच्छेदन सभव नही है। हाड-मांस को धारण करने वाला कोई भी व्यक्ति चारित्रिक दुर्बलताओ का शिकार अवश्य होगा। वह इस दुर्बलता को अनिवार्य तथ्य रूप में स्वीकार कर लेता है। इसीलिए वह चारित्रिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों के प्रति घृणा-प्रकाशन नही कर सकता है। वह पतित पात्र के पतन का कारण ढूँढता है। उसकी दृष्टि में वह पतन स्वाभाविक है। कभी वह सामाजिक व्यवस्थाओ, रूढियो, अन्ध परम्पराओ को दोषी ठहराता है। तब उनके प्रति उसके मन में विद्रोह की भावना प्रज्ज्वलित हो उठती है। वह साहित्यिको की प्राचीन रूढि का परित्याग करने को उद्यत हो जाता है। अब वह अपने पूर्ववर्ती साहित्यिकों की भाँति सत्य की विजय की घोषणा नहीं करता। सत् और असत् के संघर्ष में असत् की विजय घोषित करता है। वह सत्य की विजय के लिए, मंगलकारिणी शक्तियों के प्रसार के लिए, सुख-शान्ति के साम्राज्य के लिए किसी कल्पित आदर्श रूप की स्थापना का आग्रह धारण नही करता। वह तो वास्तविक परिस्थितियों के अनुरूप अपने नए संकल्पो, मान्यताओ, धारणाओं को प्रतिष्ठापित करने के लिए सोत्साह क्रियाशील होने लगता है।

आधुनिक काल के प्रायः सभी उपन्यासकारो में यह यथार्थवादी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। प्रेमचन्द तथा उनके उत्तरकालीन उपन्यासकार उल्लिखित विशेषताओ के आधार पर यथार्थवादी कहे जा सकते है। फिर भी एक ही श्रेणी के अन्तर्गत इन सबको परिगणित नहीं किया जा सकता

है। यथार्थवाद की इन विशेषताओ को ग्रहण करके चलने वाले उपन्यास-कार अपनी काव्य सम्बन्धी धारणाओ वा जीवन सम्बन्धी मान्यताओ के कारण भिन्न कोटि की रचनाएँ कर देते है। यथार्थवादी उपन्यासो में श्रेणीभेद को स्पष्ट करने के लिए हमें इन धारणाओं वा मान्यताओं पर ध्यान देना होगा। कुछ ऐसे यथार्थवादी उपन्यासकार है जो कला और नीति का सम्बन्ध मानते हैं और कला को उपयोगिता की दृष्टि से, प्रभाव की दृष्टि से देखते है। दूसरे ऐसे यथार्थवादी भी है—जो कला और नीति के भिन्न-भिन्न क्षेत्र समझते है। कुछ ऐसे हैं जो मार्क्सवादी विचारधारा को साहित्यिक क्षेत्र में अपनाकर उपन्यास-रचना करने में प्रवृत्त होते है। इस प्रकार यथार्थवादी उपन्यासकारो के तीन रूप हो जाते है और उपन्यास भी तीन भिन्न प्रकार के माने जा सकते है :—

(१) भारतीय संस्कृति के पृष्ठपोषक, (२) भौतिकतावादी मार्क्स के अनुयायी और (३) नवीन मनोविज्ञान के समर्थक।

भारतीय संस्कृति के पृष्ठपोषकों में उन उपन्यासकारो को परिगणित किया जा सकता है जो साहित्य में 'शिवम्' की, धर्म की उपेक्षा नही कर सकते। जो मानवहित की भावना को सदा अपनी आँखो के सामने रखते हैं। जो साहित्य में उपयोगिता के अन्वेषण का भाव ग्राह्य समझते है। जिनकी दृष्टि में नीतिशून्य कला को कोई स्थान नही है वे भारतीय सस्कृति को अपनी धारणाओ का आधार बनाते है। इनके उपन्यास आदर्शोन्मुख यथार्थादी कहलाएँगे। प्रेमचन्द जी के उपन्यास इसी कोटि के हैं। उनका 'गोदान' और श्री वृन्दावनलाल के ऐतिहासिक उपन्यास 'मृगनयनी' आदि इसी श्रेणी के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं।

दूसरे यथार्थवादी उपन्यासकार मार्क्स के भौतिकतामूलक समाजनिष्ठ यथार्थवाद को लेकर चलने वाले है। इनके उपन्यासो में समाज की आर्थिक विषमताओ का चित्रण किया जाता है। ये लोग पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को वर्गसंघर्ष का, आर्थिक शोषण का प्रधान कारण मानते है, अतएव अपने उपन्यासो से पूँजीवाद के प्रति घृणा उत्पन्न करने का प्रयत्न करते

है। मार्क्स के अनुयायी ये यथार्थवादी वर्तमान समाज की आर्थिक व्यवस्था का विषम प्रभाव वर्णित करते हैं और उसके कारण शोषित वर्ग की शोचनीय दशा के करुणाजनक चित्रण को अपना प्रमुख ध्येय बताते हैं। ये पूँजीवादी व्यवस्था को हटाने के लिए अपने उपन्यासो में रक्त-क्रान्ति का समर्थन करते हैं। यशपाल इसी प्रकार के यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड' आदि उपन्यास साम्यवादी यथार्थवादी कहे जाते हैं।

तीसरे उपन्यासकार नवीन मनोविज्ञान के समर्थक हैं। दूसरे शब्दों में ये व्यक्तिनिष्ठ यथार्थवादी हैं। साम्यवादियो की भाँति ये व्यक्ति को समाज की परिस्थितियो द्वारा परिचालित नही मानते। इनकी धारणा है कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली शक्ति व्यक्ति की अपनी भावना है। व्यक्ति अपनी भावना से परिचालित होता है, समाज की परिस्थितियो से नही। समाज के अन्दर व्याप्त प्रत्येक प्रकार की धारणा का मूल स्रोत मानव का अन्तर्जगत् है। मानव की अन्त प्रवृत्ति बाह्य जीवन से सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता रखती है। मानव जाति के प्रत्येक प्रकार के चिन्तन एवं व्यापार के मूल में गुप्त रूप से अवचेतन मन में दबे हुए कुछ प्रेरक संस्कार रहते हैं। मनोविज्ञान सम्बन्धी नई मान्यताओ को ग्रहण करके ये लोग अपने कथानको का निर्माण करते हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को अपनी रचनाओं की पृष्ठभूमि बनाने वाले यथार्थवादी अपने पात्रो का चित्रण भिन्न प्रकार से करते हैं। वे अपने पात्रों की सत्प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालना आवश्यक नही समझते। वे तो उनकी असद्वृत्तियो के अनावरण में, नग्न कर देने में ही अपनी इतिकर्त्तव्यता समझते हैं। इलाचन्द्र जोशी का 'सन्यासी', अज्ञेय जी का 'शेखर : एक जीवनी' आदि उपन्यास मनोवैज्ञानिक यथार्थ के आधार पर लिखे गये हैं।

यथार्थवाद का एक अन्य रूप भी श्री जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में उपलब्ध होता है। इस रूप को यथार्थोन्मुख आदर्श कह सकते हैं। जिस प्रकार प्रेमचन्द मानव की सद्वृत्तियो पर विश्वास रखते हैं और इसी कारण वे

यथार्थ को ग्रहरण करके भी आदर्शोन्मुख हो जाते हैं इसी प्रकार जैनेन्द्र जी मनोवैज्ञानिक यथार्थ को ग्रहरण करने में प्रवृत्त होकर भी आदर्श का सर्वथा परित्याग नही करते। आदर्श का स्वर मन्द अवश्य हो गया है, सर्वथा नष्ट नही हुआ है, अतएव उनके उपन्यासो में यथार्थोन्मुख आदर्श के दर्शन होते हैं। 'सुखदा' उपन्यास की नायिका सुखदा हृदय में विद्यमान पुराने संस्कारों के कारण एक ओर यह समझती है कि नारी का सार्वजनिक जीवन से सम्बन्ध भी पति के द्वारा ही हो सकता है, परन्तु अज्ञात रूप से, किसी अनिर्दिष्ट शक्ति की प्रेरणा से वह पति के बन्धन को ढीला करने का उपक्रम भी करती जाती है। इस प्रकार यथार्थोन्मुख आदर्श का 'सुखदा' उदाहरण कहा जा सकता है।

साराश यह है कि प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास और जैनेन्द्र जी के यथार्थोन्मुख आदर्श-प्रधान उपन्यास यथार्थवादी ही कहे जा सकते हैं। साम्यवादी विचारधारा को अपनाने वाले उपन्यासों को प्रगतिवादी उपन्यास कहा जा सकता है। मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली में लिखे गए उपन्यासों को प्रकृतिवादी उपन्यास कह दिया जाता है।
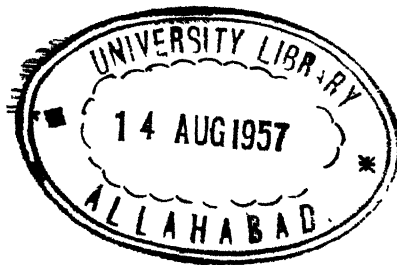
कहानी

नामकरण

गद्यात्मक साहित्य का एक महत्वपूर्ण रूप कहानी है। इस रूप के अन्तर्गत अनेक अन्य नामों का समाहार भी कर दिया जाता है, यथा—कथा, आख्यायिका, छोटी कहानी (लघु कथा), गल्प आदि। कथा और आख्यायिका ये दो नाम प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के हैं। यदि इनके प्राचीन लक्षणों पर दृष्टिपात किया जाए तो इनका स्वरूप आधुनिक कहानी से कुछ भिन्न ठहरता है। कथा का लक्षण साहित्यदर्पण में यह किया गया है—'कथाया सरस वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।' इस लक्षण के अनुसार गद्यात्मक सरस वस्तु कथा है। इसमें कही-कही पद्य-योजना का भी विधान है। आदि में कुछ पद्यो द्वारा देवता के प्रति नमस्कार तथा सज्जन-दुर्जन चरित्र का कीर्त्तन भी विहित है। इसके उदाहरण में बाणकृत 'कादम्बरी' का उल्लेख हुआ है। संस्कृत का कथात्मक गद्य-ग्रन्थ 'कादम्बरी' आधुनिक उपन्यास का पूर्व रूप भले ही कहा जा सके, आधुनिक कहानी रूप के साथ उसकी समीपता सिद्ध नही की जा सकती। इसलिए कहानी रूप के कथा नाम का प्रयोग केवल इसीलिए कर दिया जाता है क्योंकि इसमें भी प्रकथन का अंश विद्यमान है। कहानी शब्द स्वयं संस्कृत के 'कथनी' शब्द का अपभ्रंश माना जा सकता है और इसका अर्थ 'कहना' लिया जाएगा। इस अर्थसाम्य से 'कहानी' को कथा भी कह दिया जाता है। प्राचीन लक्षणों की चरितार्थता आधुनिक रूप में प्रदर्शित नहीं की जा सकती।

कहानी के लिए दूसरा शब्द 'आख्यायिका' है। डा० श्यामसुन्दरदास जी ने कहानी रूप का लक्षण लिखते समय इसी शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द भी प्राचीन काव्य-शास्त्र में मिलता है। साहित्य-दर्पणकार

ने आख्यायिका का लक्षण करते हुए कहा है:—'आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम् । अस्यामन्यकवीना च वृत्त पद्यं क्वचित्क्वचित् । कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति वक्ष्यते ।' अर्थात् आख्यायिका कथा के समान होती है । इसमे भी प्रारम्भ मे कुछ पद्यों में नमस्कार आदि कार्य रहते हैं । इसके अतिरिक्त कवि आख्यायिका में अपने वंश का उल्लेख कर सकता है । वह अन्य कवियों का इतिवृत्त भी इसमें विन्यस्त कर सकता है । कथा को कई भागों में विभक्त किया जाता है और प्रत्येक भाग को 'आश्वास' नाम दिया जाता है । इस लक्षण को लिखकर साहित्य-दर्पणकार ने 'हर्षचरित' को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है । यह लक्षण और उदाहरण दोनो इस बात का स्पष्ट सकेत देते है कि 'आख्यायिका' को भी आधुनिक उपन्यासो का ही पूर्व रूप माना जा सकता है, कहानी के रूप का विकास इसके अनुकरण पर नही हुआ है । कथा और आख्यायिका का अन्तर भी समझ लेना आवश्यक होगा । कथा में विन्यस्त वस्तु कल्पित होती है जब कि 'आख्यायिका' मे कथावस्तु का आधार इतिहास होता है । वह इतिहासानुमोदित होती है । कहने का अभिप्राय यह है कि जब कहानी के लिए 'आख्यायिका' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उक्त लक्षण को ध्यान में नही रखा जाता, केवल इस प्रकार के आख्यानात्मक साहित्य के लिए प्राचीन शब्द का प्रयोग सस्कारवश कर दिया जाता है ।

छोटी कहानी या लघु कथा नाम अंग्रेजी के शार्ट स्टोरी (Short Story) के अनुकरण पर है । वास्तव में आधुनिक कहानी का जन्म अंग्रेज़ी स्टोरी (Story) के ही आधार पर हुआ है ।

प्रेमचन्द जी ने कहानी के लिए 'गल्प' शब्द का प्रयोग किया है । इस शब्द मे अग्रेज़ी के फिक्शन (Fiction) शब्द की छाया है । अग्रेज़ी का फिक्शन शब्द मनगढन्त कथा के लिए सामान्यतः प्रयुक्त किया जाता है । इसी छाया को ग्रहण करके संस्कृत के 'कल्प' या 'जल्प' शब्द के अर्थ वाले 'गल्प' शब्द को ले लिया गया है । 'गल्प' शब्द के मूल में सस्कृत

'गल्भ्' धातु का अर्थ भी देखा जा सकता है। 'गल्भ्' धातु से लोक प्रसिद्ध वृत्त से स्वच्छन्द वृत्त का निश्शक कथन अर्थ लिया जा सकता है। इस प्रकार 'गल्प' शब्द का प्रयोग कहानी की सामान्य प्रवृत्ति का परिचायक हो जाता है। यह शब्द भी अर्थ की व्यापकता के कारण उपन्यास रूप पर भी लागू हो सकता है।

कहानी की लोकप्रियता

आधुनिक साहित्य में 'कहानी' ने अपने लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इसकी लोकप्रियता दिनप्रतिदिन बढती ही जा रही है। कहानी मानव की सहज औत्सुक्य की प्रवृत्ति को शान्त करने में सहायक होती है। इसका प्रभाव शीघ्रता से मानव की वृत्ति पर पड़ता है। यही इसकी लोकप्रियता का मूल कारण है। लोकप्रियता के कारणों पर दृष्टि-पात करते हुए हमारा ध्यान सामयिक परिस्थितयों पर भी जाता है। उप-न्यास भी हमारी कुतूहल-वृत्ति को शान्त करता है और सीधा मनोवृत्ति को आन्दोलित करता है परन्तु अपने विशाल रूप के कारण वह पढने के लिए अधिक समय की अपेक्षा करता है। आधुनिक जीवन मे सबसे अधिक महत्त्व समय का है। आज के मानव ने अपने जीवन को इतना जटिल बना लिया है कि वह निरन्तर समयाभाव का अनुभव करता है। उसे अपने सब कार्यों को निपटाने के लिए आतुरता रहती है। इस आतु-रता में वह बड़े विस्तार वाले कथानको की ओर प्रवृत्त नही हो सकता। वह तो थोड़े-से समय में अधिक आनन्द का सचय करने का इच्छुक है। कहानी इस इच्छा को सुगमता से पूरा करती है, अतः यह सर्वप्रिय होती जा रही है।

पत्र-पत्रिकाओ के अपार विस्तार ने भी 'कहानी' की सर्वप्रियता को बढावा दिया है। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' यह बात कहानी के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पत्र-पत्रिकाओं के ग्राहकों की संख्या को बढाने के लिए यह आवश्यक था कि इनमें कुछ मनोरंजक सामग्री भी

रखी जाती। इस आवश्यकता को उपन्यासों के द्वारा पूरा नही किया जा सकता था। थोड़ा स्थान लेने वाली कहानी ही इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकती थी। इसी आवश्यकता ने कहानी के विकास मे पूर्ण सहायता प्रदान की है। जिन परिस्थितियो में इस रूप का विकास एवं प्रसार हो रहा है उनमें यह सम्भव नही था कि इसमें विस्तार से वर्णन किया जाए या किसी जीवनोपयोगी शिक्षा का प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख किया जाए। यही कारण है कि इसमें मनोरजन का उद्देश्य प्रमुखता प्राप्त कर गया है और शिक्षा का उद्देश्य गौण एवं परोक्ष रूप धारण कर गया है। शिक्षा सुननेवालो की सख्या ससार में कम रहती है। अधिक संख्या मनोरजन की ही माँग करती है। इस प्रकार अधिक संख्यक जनो के अनुकूल होने के कारण कहानी अपनी लोकप्रियता का क्षेत्र विस्तृत करने में सफल हो गई है।

कहानी और उपन्यास की तुलना

तत्त्वों की दृष्टि से कहानी और उपन्यास में कोई अन्तर नही है। एक दृष्टि से दोनो कहानी है, एक बडी और दूसरी छोटी। पात्र, चरित्र-चित्रण, देशकाल आदि तत्त्वों के प्रयोग दोनो में अपेक्षित है। प्रवाह और उद्देश्य तत्त्व की भी दोनों में समान रूप से आवश्यकता होती है। इस समता के होते हुए भी दोनों में पर्याप्त विषमता है। दोनों के तत्त्वों के विनियोग की विधि में अन्तर होने के कारण स्वरूप में विषमता उत्पन्न हो जाती है। इस अन्तर पर प्रकाश डालने से पूर्व हम प्रेमचन्द जी की एक उक्ति प्रस्तुत करना चाहते हैं। उन्होंने बहुत थोडे शब्दों मे इस अन्तर को स्पष्ट करने का यत्न किया है। वे कहते है:—'उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रो का समूह है। आख्यायिका (कहानी) केवल एक घटना है, अन्य बाते सब उसी घटना के अन्तर्गत होती है।'

इस उक्ति को आधार बनाकर यदि कथात्मक साहित्य के इन दोनो रूपों पर दृष्टिपात किया जाए तो निम्नलिखित बातें हमारे सम्मुख

उपस्थित होती है—

१—जहाँ उपन्यास मे मानवजीवन का अथवा समाज का व्यापक चित्रण होता है वहाँ कहानी मे केवल एक व्यक्ति के जीवन के एक अंग-विशेष का उल्लेख रहता है। उपन्यास समूचे जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण और व्यापक चित्र अंकित कर देता है। कहानी में जीवन के किसी एक पहलू को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जाता है।

२—उपन्यास मे वर्णित पात्रो की जीवनधारा को सगति और क्रम-बद्धता के कारण नदी की धारा के समान कहा जा सकता है। कहानी में एक पात्र की घटनाविशेष का अथवा उसके जीवन के मोड का ही उल्लेख रहता है। उपन्यास मे पाठक की रुचि का केन्द्र एक ही नही होता है, अनेक घटनाएँ वा पात्र उसकी रुचि का केन्द्र बन जाते है। इसके विपरीत कहानी में रुचि का केन्द्र भी एक ही रहता है।

३—उपन्यास में घटना, पात्र आदि तत्त्व कुछ बिखरे से रह सकते हैं और चरमसीमा की ओर प्रगति धीरे-धीरे वर्णित की जा सकती है परन्तु कहानी मे ऐसी सामग्री के मिलाने का अधिकार नहीं होता जिसका चरमसीमा के साथ सीधा सम्बन्ध नही होता।

४—मुख्य प्रसंग के अतिरिक्त उपन्यास में छोटे मोटे अवान्तर प्रसंगों की उद्भावना भी कर ली जाती है। इस प्रकार मुख्य कथा के साथ सहायक कथा और अन्यान्य गौण प्रसंगों को भी पूर्ण अवकाश उप-न्यास के विधान में उपलब्ध हो जाता है। कहानी में यह सुविधा प्राप्त नही है। कहानी का रूप-विधान इस बात की स्पष्ट माँग करता है कि उसके अन्तर्गत ऐसे किसी प्रसंग का समावेश न किया जाए जिसका मुख्य घटना या प्रसंग के परिणाम के साथ सीधा सम्बन्ध न हो। कहानी में एक भी वाक्य ऐसा नही रखा जा सकता जो कहानी के परिणाम का सकेत न करता हो।

५—उपन्यास के विधायक तत्वो को उपन्यास की सीमा में अपने-अपने क्षेत्र में पूरा महत्त्व प्राप्त हो जाता है। घटनासमूह के वर्णन के

साथ चरित्र-चित्रण को, चरित्र-चित्रण के साथ कथोपकथन वा वातावरण को समान महत्त्व उपन्यास के ढाँचे में दिया जा सकता है परन्तु कहानी में वस्तु, चरित्र-चित्रण और वातावरण इन तीनों में से किसी एक की ही मुख्यता स्वीकार की जा सकती है।

६—उपन्यास के पात्र अपेक्षाकृत अधिक सजीव तथा विकासपूर्ण होते हैं क्योंकि उनके चरित्र-चित्रण के लिए आवश्यक अवकाश मिल जाता है। कहानी के पात्र इस रूप मे सजीव तथा विकासपूर्ण नही हो सकते क्योंकि उनके चित्रण में विविध परिस्थितियो का समावेश नही किया जा सकता।

७—कहानी अपने आपमें स्वत. पूर्ण होती है और अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। इसे उपन्यास का छोटा रूप या अंश नही कहा जा सकता। इसका अपना स्वतन्त्र रूप-विधान होता है। इसकी अपनी शैली तथा अपनी विधि रहती है। इसी कारण उपन्यास की अपेक्षा कहानी अधिक सक्षिप्त, एकध्येयात्मक, प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शिनी होती है। उपन्यास अपने स्वरूप से महाकाव्य के अधिक समीप है और कथा गीति-काव्य के। मनुष्य का भावजगत् अनन्त भावों का पुज है परन्तु गीति-काव्य में एक ही भाव अभिव्यजित हो पाता है। कहानी मे भी इसी प्रकार जीवन के अनन्त रूपो मे से एक रूप का ही दिग्दर्शन कराया जाता है। कहानी में यद्यपि भावों के साथ घटनाओं तथा वाह्य परिस्थितियो का भी उल्लेख रहता है तथापि उसमे वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रधानता स्वीकार की जाती है। एकध्येयता, सक्षिप्तता दोनों के सामान्य गुण हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि गीतिकाव्य में भाव-प्रकाशन स्वतन्त्र रूप से होता है किन्तु कहानी में आलम्बन द्वारा। गीतिकाव्य की अपेक्षा कहानी में घटना और तथ्यनिरूपण की प्रधानता रहती है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कहानी प्रकथनात्मक गद्य साहित्य का एक भिन्न प्रकार का रूप है और आज इसने साहित्यिक क्षेत्र में उप-न्यास से सर्वथा पृथक् स्थान बना लिया है। आज इसका स्थान साहित्य

मे बड़ा महत्त्वपूर्ण है तथा निश्चित रूप से स्वीकृत है। इसीलिए इस रूप के उद्देश्य और विधियो के अनुसन्धान की विशेष आवश्यकता प्रतीत होती है।

कहानी की परिभाषा

कहानी की सवेदना और इसकी प्रतिपाद्य सीमा अत्यन्त विस्तृत है। व्यापक विषय-सीमा के परिणामस्वरूप इसके रूप-विधान में आश्चर्य-जनक वैविध्य उपस्थित हो रहा है। इसी वैधिध्य के कारण आज तक कहानी-कला की कोई निश्चित परिभाषा स्थापित नहीं हो सकी। वस्तुंत: यह कार्य है भी कठिन। ऐसा होने पर भी कहानी को परिभाषा की सीमा मे बाँधने के लिए हमारे यहाँ और पश्चिम मे विज्ञ समीक्षकों और कहानी-कारो ने अनेक प्रयत्न किए हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् जेम्स डबल्यू लिन (James. W. Liun) ने कहानी (छोटी कहानी) की इस प्रकार परिभाषा लिखी है :—'Short story is a representation in a brief dramatic form, of a turning point in the life of a single chaiacter.' अर्थात् एक पात्र के जीवन की परि-वर्तनकारी घटना के नाटकीय ढग से सक्षिप्त प्रकथन को कहानी (छोटी कहानी)· कहा जाता है। इस परिभापा में कहानी की सक्षिप्तता तथा घटना की एकता तथा नाटकीयता का उल्लेख किया है। इसके अनुसार मानव जीवन की ऐसी घटना को ही कहानी मे स्थान दिया जा सकेगा जिसके कारण उसमें मोड़ आ जाता है। इस लक्षण में किसी रोमाञ्च-कारी घटना की कहानी के विधान के लिए उपादेयता स्पष्ट प्रतिपादित की गई है।

डा० श्यामसुन्दरदास जी का लक्षण भी इससे मिलता-जुलता है। वे कहते हैं—'आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाट-कीय आख्यान है।' इन्होंने भी उक्त परिभापा के अनुरूप कहानी की नाटकीयता पर बल दिया है, साथ ही परिणाम या प्रभाव की एकता को

भी कहानी के लिए आवश्यक प्रतिपादित किया है। कहानी का लक्ष्य या प्रभाव एक ही होना चाहिए, अनेक नही, इसी से संक्षिप्तता की कहानी-रचना में अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है।

कहानी की परिभाषा करते हुए ऐलन पो (Allan Poe) की परिभाषा पर ध्यान देना भी अत्यन्त आवश्यक है। वे कहानी की परिभाषा इस रूप में प्रस्तुत करते हैं—

'A short story is narrative short enough to be read in a single sitting, written to make an impression, on reader, excluding all that does not forward that impression, complete and final in itself.'

'कहानी अपने आप मे पूर्ण, एक प्रकथन है और वह इतना संक्षिप्त है कि उसे पाठक एक ही बैठक मे पढकर समाप्त कर सकता है, इसके द्वारा लेखक केवल एक ही तथ्य का प्रभाव पाठक के हृदय पर अंकित करना चाहता है, इसमें ऐसा कोई वर्णन समाविष्ट नही किया जाता जो इस प्रभाव को अग्रसर करने में सहायक न हो।'

पो की इस परिभाषा में भी सक्षिप्तता तथा एकध्येयता पर ही विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार कहानी एक सुसबद्ध, सक्षिप्त तथा एक प्रभाव को लेकर चलने वाले प्रकथन के रूप में हमारे सम्मुख आती है। गुलाबराय जी ने इसी बात को कुछ व्याख्या के साथ कह दिया है। वे कहते हैं कि 'छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति-केन्द्रित घटना या घटनाओ के आवश्यक परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान-पतन और मोड के साथ पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहलपूर्ण वर्णन हो।'

कहानी की संक्षिप्त परिधि का निर्देश करते हुए ऐच. जी. वैल्स (H. G. Wells) ने यू कहा है—'Short story is any piece of fiction that can be read in half an hour.' अर्थात् कहानी एक वह छोटी प्रकथनात्मक कृति है जो आधे घण्टे में पढ़ी जाय।

कहानी के तत्त्व

कहानी के तत्त्व वही होते है जो उपन्यास के, परन्तु विनियोग-विधि में पर्याप्त अन्तर रहता है। सामान्यतः कहानी केजो तत्त्व स्वीकार किए गए हैं, वे निम्नलिखित है—

१. कथावस्तु, १. पात्र और उनका चरित्र-चित्रण, ३. कथोपकथन, ४. देश-काल, ५. विचार-उद्देश्य, ६ शैली।

कथावस्तु

किसी भी रचना में कथावस्तु का स्थान मुख्य होता है क्योकि यही वह ढाँचा है जिस पर कि रचना का निर्माण होता है। कहानी के विषय में भी यह सत्य है। परन्तु इतनी बात ध्यान देने योग्य है कि कहानी के आविर्भाव-काल में कथावस्तु ही इसका सब कुछ हुआ करता था, लेकिन ज्यो-ज्यो कहानी-कला मे विकास होता गया, त्यो-त्यो इसकी स्थिति गौणता को प्राप्त हो रही है। यह स्थिति तब से विशेप रूप से हो रही है जब से कहानी में मनोवैज्ञानिक अनुभूति और मनो-विश्लेषण का आगमन हुआ है। अब कथावस्तु सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जा रही है।

उपन्यास की कथावस्तु अनेक मुख्य तथा गौण घटनाओं के सम्मि-लन से सघटित होती है। उसकी तुलना में कहानी की कथावस्तु में अनेक घटनाओं के समावेश का अवसर नही होता। प्रभाव की एकता घटनाओं के बाहुल्य को रोक देती है। एक ही परिणाम वाली या प्रभाव वाली घटना से कहानी की कथावस्तु बना ली जाती है। यदि कही एक से अधिक घटनाएँ भी होगी तो वहाँ भी वे एक ही प्रभाव को तीव्रतर करने के लिए लाई जाएँगी। प्रभाव की दृष्टि से उसकी पृथक् सत्ता कहानी के रूप-विधान को ही दूपित कर देगी। उपन्यास की कथावस्तु के मौलि-कता, रोचकता, सुगठितता, सम्भाव्यता आदि गुण भी कहानी की कथा-वस्तु में रहने ही चाहिएँ। रोचकता के लिए स्वाभाविक विकास-क्रम की

कहानी की भी आवश्यकता है। कहानी की कथावस्तु का विकास-क्रम उपन्यास से भिन्न होता है। कहानी में वर्णित घटना प्रारम्भ होकर अपने अन्त या परिणाम की ओर बडी तीव्रता से अग्रसर होने लगती है। उपन्यास के विकास-क्रम में जो वक्रता रहती है वह कहानी की घटना में नही आ सकती। वह तो बिना किसी आवश्यक घुमाव-फिराव के सीधी अपने अन्त की ओर उन्मुख होती चलती है। एक से अधिक घटनाओ के होने की स्थिति में भी उनमे परस्पर दृढ सम्बन्ध की अपेक्षा होती है। एकता और अन्विति कहानी की कथावस्तु के विशेष गुण है। अप्रत्याशित परिणाम भी कहानी को रोचक बना देता है। सघर्ष के उल्लेख से कहानी में कुतूहल की वृद्धि होती है। संघर्ष प्रारम्भ होकर क्रमश: उत्कर्ष को प्राप्त करता हुआ अन्त मे अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाता है। यही कहानी का भी अन्त हो जाता है। संघर्ष की चरमावस्था कहानी के परिणाम या प्रभाव को तीव्र बना देती है। कहानी का आरम्भ चित्ताकर्षक होना चाहिए। उसका पहला ही वाक्य पाठक के हृदय मे जिज्ञासा-वृत्ति को जगानेवाला होना चाहिए। इसी प्रकार कहानी का अन्त भी पाठक के हृदय को पुलकित एव रोमाचित करनेवाला होना चाहिए। यह अन्त इतना गम्भीर प्रभाव पाठक के हृदय पर डाले कि वह पर्याप्त समय तक उसी प्रभाव की धारा में प्रवाहित होता चला जाए। इस प्रसग मे श्री ऐलरी सैजविच (Ellery Sedgewich) का कथन अत्यन्त उपयुक्त है—'A story is like a horse-race. It is the start and finish that counts most.' अर्थात् कहानी एक घुडदौड़ के समान है। इसमें आरम्भ और अन्त का ही अधिक महत्त्व है। कथावस्तु के अन्तर्गत वर्णन और व्यापार में उचित तारतम्य उसकी रोचकता को बढ़ा देता है।

पात्र और उनका चरित्र-चित्रण

पात्र कथानक के वाहक होते है, जो कथावस्तु को आदि से लेकर अन्त तक पहुँचाते है। उपयुक्त पात्रों की सृष्टि से ही कथानक मे भी बल आता है।

उपन्यास की भाँति कहानी भी मानव-जीवन के साथ घनिष्ठता से सम्बद्ध रहती है। कहानी मे जिस घटना का विन्यास होता है उसका सम्बन्ध पात्र या पात्रो के जीवन के साथ रहता है, अतएव इससे सामान्यत. पात्र या पात्रो के चरित्र पर प्रकाश अवश्य पड़ता है। उपन्यास में घटनाओ की अधिक सख्या रहने से पात्रो की सख्या अधिक हो जाती है। कहानी मे घटनाएँ अपेक्षाकृत न्यून होती है, अतएव स्वभावतः उसमें पात्रो की सख्या अत्यन्त अल्प रहेगी। उपन्यास में पात्रो के चरित्र के अधिकाश एव व्यापकाश पर प्रकाश डाला जा सकता है। कहानी में एक पात्र के भी सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रदर्शन नही किया जाता। उसमे तो पात्र के व्यक्तित्व के अपेक्षिताश पर ही विशेषतया ध्यान दिया जाता है। कहानीकार पात्र के जीवन के एक पक्ष को अपना ध्येय बना लेता है और उसी पक्ष को झलकाने के लिए वह अपनी घटना या घटनाओ का निर्माण करता है। घटना-वर्णन मे चरित्र का अभिलषित अश कहानीकार की कुशलता से चमकने लगता है। कहानी के चरित्र-चित्रण की यही एक विशेषता है कि जितना अश कहानीकार द्वारा ग्रहण किया जाता है उतना अश पूर्णतया, समुज्ज्वल रूप में पाठक के सम्मुख उपस्थित हो उठता है। उपन्यास की भाँति कहानी के पात्र सजीव होने चाहिएँ अर्थात् घटना और पात्र में परस्पर आदान-प्रदान का सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाना चाहिए। घटना का प्रभाव पात्र पर पड़े और पात्र की इच्छा और प्रयत्न द्वारा घटना का निर्माण हो तो पात्र सजीव बन जाता है। कहानी के पात्र लेखक के अपने व्यक्तित्व के प्रतीक नही होने चाहिएँ। उन्हे तो स्वतन्त्र व्यक्तित्व धारण करके ही कहानी-जगत् मे परिभ्रमण करना चाहिए। जब लेखक किसी वाद या विशेष विचारधारा का प्रतिपादन करने के लिए ही पात्र-सृष्टि करता है तो पात्र पर परिस्थितियो का प्रभाव चित्रित नहीं किया जाता, फलत' पात्र निर्जीव कठपुतली की भाँति विचरता परिलक्षित होता है। जब कहानीकार अपने पात्र को इतना उच्च या नीच प्रकृति का चित्रित करता है कि उसमें किसी भी स्थिति में परि-

वर्तन या विकास उत्पन्न नहीं होता तब वह आदर्श पात्र का निर्माण कर देता है। ऐसे पात्र इस लोक के न होकर किसी अन्य लोक के ही दृष्टि-गोचर होते हैं और अस्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं। कहानीकार अपने पात्रो को इहलोक से ग्रहण करता है। इस लोक में कोई ऐसा पात्र सम्भव नही है जो सर्वथा निर्दोष या सर्वथा गुणरहित हो। आदर्श एवं उच्च वर्ग के पात्रों की सृष्टि करते हुए कहानीकार उनमें दोष वर्णित कर सकता है। नीच या निम्न वर्ग के पात्रो की कल्पना करते हुए कहानीकार उनमें मानवता के किसी गुण की प्रतिष्ठा कर सकता है। आदर्श एवं महान् व्यक्ति मे दोष वर्णित करके वह उसे सजीव और सप्राण बना देता है। नीच पात्र मे किसी उच्च गुण-कर्म की सम्भावना दिखाकर वह उसे स्वाभा-विक बना लेता है।

कहानी में चरित्र-चित्रण का महत्त्व बहुत अधिक है और इसके लिए परम चातुरी की आवश्यकता अपेक्षित है। कारण स्पष्ट है—कलात्मक दृष्टि से एक ओर कहानी की सक्षिप्त सीमा के कारण चरित्र का विकास दिखाने का अवसर बहुत ही कम रहता है और दूसरी ओर चरित्र-चित्रण की सम्भावनाएँ भी सीमित रहती हैं। कहानी में इतनी गुंजाइश नही होती कि पात्रो का पूरा विवरण देकर उनकी अवस्था, रूप, रग और अन्य स्थितियो को पूर्णतया चित्रित किया जाय। यहाँ एक परिधि के अन्तर्गत ही गागर में सागर भरना होता है।

चरित्र-चित्रण के प्रकार

उपन्यासकार की भाँति कहानीकार को भी यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह पात्र के चरित्र का विश्लेषण स्वय पाठक के सम्मुख उपस्थित होकर करे। इसके अतिरिक्त वह नाटकीय परोक्ष शैली का भी आश्रय ले सकता है। वह पात्रो के वार्त्तालाप के द्वारा, पात्र के आचरण द्वारा, अन्य पात्र की सम्मति के द्वारा, घटना-वर्णन द्वारा, पात्र के विचारों द्वारा चरित्र-चित्रण कर सकता है। पात्र की अपनी उक्ति भी उसके चरित्र

पर प्रकाश डाल सकती है। कहानी में परोक्ष चित्रण ही अधिक रहना चाहिए। प्रवाह की तीव्रता इसी से सुरक्षित रह सकती है। लेखक को वस्तु-व्यापार में बहुत कम आना चाहिए। इसी बात का सकेत डा० श्यामसुन्दरदास की 'कहानी की परिभाषा' में दिया गया है। जब वे कहानी को नाटकीय आख्यान कहते है तब उनका अभिप्राय यही है कि इसमें लेखक अपनी ओर से कुछ न कहे। इसमे जो कुछ कहा जाए वह नाटकीय प्रणाली से ही कहा जाए। यही बात चरित्र-चित्रण पर भी लागू होती है। चरित्र का चित्रण करते समय लेखक को नाटकीय परोक्ष प्रणाली को ही अपनाना चाहिए। सामान्यतः चरित्र-चित्रण के चार प्रकार माने जा सकते है। लेखक वर्णन द्वारा, सकेत द्वारा, वार्तालाप द्वारा और घटनाओ या कार्य-व्यापार द्वारा चरित्र का चित्रण कर सकता है। सकेतात्मक तथा वार्तालाप प्रणाली ही कहानी के लिए अधिक उपयुक्त समझी जाती है।

कथोपकथन

कहानी की रचना में कथोपकथन को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। कहानी में नाटकीयता की विशेषता इसी तत्त्व के द्वारा सम्पादित की जा सकती है। इससे कहानी का कल्पना-जाल स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। पात्र का चरित्र कथोपकथन से पूर्ण प्रकाश मे आ सकता है। इसी से घटनाओं में गतिशीलता उत्पन्न की जा सकती है। कहानी में प्रवाह, सजीवता और औत्सुक्य कथोपकथन के माध्यम से उत्पन्न करना सुगम हो जाता है। कथोपकथन का सर्वप्रधान उद्देश्य कहानी में जिज्ञासा और कौतूहल उत्पन्न करना है।

उपन्यास की अपेक्षा कहानी के कथोपकथनो में अधिक संयत रहने की अपेक्षा है। कहानी की विशेषताओं में सक्षिप्तता का विशेष स्थान है, अतएव इसके वार्तालाप में कोई अनावश्यक वाक्य विन्यस्त नही किया जा सकता। सरल वाक्यों में ही पात्रों की बातचीत होनी चाहिए। लम्बे-

लम्बे वाक्यों का प्रयोग उचित नही समझा जाता। बातचीत का विषय प्रसंगानुकूल और पात्र की अपनी योग्यता के अनुरूप होना चाहिए। भाषा भी भावो के अनुकूल प्रयुक्त होनी चाहिए। भाषा की शिथिलता कथोपकथन के माहात्म्य को नष्ट कर डालती है। आलंकारिक या प्रतीकात्मक भाषा के प्रयोग से काव्यत्व का गुण तो भले ही उत्पन्न हो जाए परन्तु कथा-प्रवाह में उससे बाधा अवश्य उपस्थित हो जाती है। अतः लेखक को यह ध्यान रखना पडता है कि कथोपकथन की भाषा उचित मात्रा से अधिक आलंकारिक या प्रतीकात्मक न बने। बोधगम्य, सुस्पष्ट कथोपकथन ही प्रवाह को गति प्रदान कर सकते हैं, या चरित्र पर प्रकाश डाल सकते हैं। किसी वाद या विचार का प्रचार करने के उद्देश्य से कथोपकथन का विनियोग कहानी के रूप-विधान की दृष्टि से दोषजनक माना जाता है।

देश-काल तथा वातावरण

कहानी-रचना का मूल आधार वास्तविक जीवन है। वास्तविक जीवन देश, काल और जीवन की विभिन्न सत्-असत् परिस्थितियों से निर्मित होता है। अतएव इन तत्त्वों का एक स्थान पर संचयन और चित्रण करना वातावरण उपस्थित करना है।

उपन्यासकार अपनी रचना में देश-काल का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत कर सकता है। अन्यान्य परिस्थितियो का विराट् आयोजन कहानी के लिए उपयुक्त नही माना जा सकता। कहानीकार अत्यन्त सक्षेप से संकेतात्मक प्रणाली द्वारा घटनाओ की परिस्थितियों पर प्रकाश डालता चलता है। प्राकृतिक वातावरण को भी कहानीकार प्रस्तुत कर सकता है। प्रकृति के दृश्यों मे और पात्र की मनःस्थिति मे समय का वैषम्य प्रदर्शित करने से कहानी में रोचकता एवं मर्मस्पर्शिता की सृष्टि की जा सकती है। कहानीकार जीवन के व्यापक पक्ष को अपनी कहानी की पृष्ठभूमि नही बना सकता; अतएव कहानी में सामयिक, सामाजिक, राज-

नीतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अपने सूक्ष्म रूप में तथा सकुचित रूप में ही आ सकती है। उनका सकेतमात्र रह सकता है, विस्तृत विवरण नही। पात्र की मानसिक स्थिति का विश्लेषण भी किया जा सकता है परन्तु यह सब इतने सक्षेप में ही किया जाता है कि प्रवाह निर्बाध रहे और क्षिप्र गति से अन्त या परिणाम की ओर अग्रसर होता रहे।

विचार वा उद्देश्य

जो बात कहानी के अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध में कही गई है वही 'उद्देश्य' तत्त्व पर भी चारितार्थ होती हैं। कहानी में वर्णित घटनाएँ यथार्थ जीवन से ही ली जाती हैं। लेखक का अपना दृष्टिकोण भी कहानी के विधान मे अनायास ही समाविष्ट हो जाता है। साहित्यिक रचना होने के कारण यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि लेखक अपनी अनुभूतियों या विचारो की अभिव्यजना के लिए ही कहानी का माध्यम ग्रहण करता है। जीवन-का जितना अश कहानी के क्षेत्र में ग्रहण किया जाता है उतना ही जीवन रहस्य भी कहानी द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है। जब लेखक जीवन के एक तथ्य पर प्रकाश डालता है तब उस तथ्य के प्रति लेखक का अपना दृष्टिकोण भी झलक उठता है। इसी दृष्टिकोण के साथ 'उद्देश्य' तत्त्व का सम्बन्ध रहता है।

अपने जीवन-सम्बन्धी अनुभवों को कहानी के माध्यम से अभिव्यक्त करते समय लेखक को यह ध्यान रखना पड़ता है कि वह जीवन की दार्श-निक विवेचना नही कर रहा है, वह तो जीवन के किसी अश का प्रकथन मात्र कर रहा है। साथ ही उसे यह भी ध्यान होता है कि कहानी का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन है। इसकी सृष्टि के मूल में मनोरजन की प्रवृत्ति ही प्रेरक है। अतएव वह जीवन-मीमांसा के लिए मनोरंजन को अपनी आँखों से ओझल नही कर सकता। जीवनतथ्य कहानी के व्यापार में व्यंग्य रहता है। कहानीकार इस तथ्य का इस प्रकार उल्लेख नहीं करता जिस

प्रकार पचतन्त्र या हितोपदेश की कहानियों में रहता है। यह तथ्य मनोरंजन के मधुर रस से सिक्त होकर पाठक के हृदय में संचारित होने लगता है। लेखक उपदेशक का चोला नहीं पहनता परन्तु उसका कार्य सम्पन्न कर ही देता है। कभी-कभी उसका एक ही वाक्य जीवन-तथ्य की इतनी मार्मिक अभिव्यंजना कर देता है कि पाठक की अन्तर्वृत्ति उसी के ध्यान में निमग्न हो जाती है। मनोरंजन की सरस धारा में बुलबुले के सदृश उठने वाला जीवन-तथ्य क्षणिक होकर भी चिरस्थायी हो जाता है, संकुचित होकर भी व्यापक हो जाता है। सूक्ष्मता को त्याग कर स्थूलता का रूप धारण कर लेता है। पाठक प्रफुल्लित हो उठता है और इस नीरस तथ्य को भी सहर्ष ग्रहण करने के लिए उद्यत हो जाता है। लेखक किसी वाद या तथ्य का प्रचार नही करता अपितु वह अनायास ही उसका प्रसार कर देता है। प्रचार करने वाले की अपेक्षा प्रसार करने वाला लेखक अधिक सफल कहानीकार बन सकता है। कहानी में उद्देश्य तत्त्व का यही रहस्य है।

शैली

शैली-तत्त्व का सम्बन्ध साहित्य के सभी रूपो के साथ होता है। इसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति पक्ष के साथ माना जाता है। कहानी मे इस तत्त्व का समावेश लेखक के अपने व्यक्तित्व के रूप में हो जाता है। लेखक का व्यक्तित्व भाषा के माध्यम से कहानी में प्रतिफलित हो जाता है। प्रत्येक लेखक की भाव-प्रकाशन शैली भिन्न होती है। यही भिन्नता शैली-तत्त्व का प्रमुख लक्षण है। इसी तत्त्व के सहारे कहानीकारों की तुलनात्मक विवेचना की जा सकती है। शैली-भिन्नता के कारण ही हमें कहानियों की भिन्न-भिन्न शैलियाँ दिखाई देती हैं, यथा पत्रात्मक, आत्मचरित, नाटकीय, डायरी आदि। कहानी में वर्णन और प्रकथन दोनो रहते हैं। वर्णन की अपेक्षा प्रकथन को अधिक महत्त्व दिया जाता है। कहानीकार मे दोनो प्रकार की शक्तियों का होना आवश्यक है। उसमे ऐसी

वर्णन-शक्ति की अपेक्षा रहती है कि वह स्थिर वर्णन को भी इतना प्रभावशाली बना देता है कि उसकी स्थिरता गतिशीलता में परिवर्तित होती दिखाई देती है। कहने का अभिप्राय यह है कि पाठक की कल्पना में प्रकथन की धारा निर्बाध प्रवाहित होती रहती है। वर्णन की स्थिरता गतिरोध उत्पन्न नही कर पाती। इससे लेखक की वर्णन-शक्ति का परिचय मिल जाता है। यह वर्णन-शक्ति शैली का विशेष गुण माना जाता है। प्रकथन के लिए भी लेखक मे शक्ति की अपेक्षा है। जिस शक्ति के द्वारा वह घटनाओ का प्रवाहमय एवं गतिशील विवरण प्रस्तुत करता है वह शक्ति प्रकथन-शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह शक्ति भी शैली का अपना विशेष गुण है। विवरण सम्बन्धी इस गुण के कारण कहानीकार पाठक के कुतूहल को जाग्रत रखता है और घटना-प्रवाह मे शिथिलता नही आने देता।

'उपन्यास' प्रसंग में कथित शैली के सभी गुण कहानीकार के लिए भी आवश्यक माने जा सकते हैं। कहानीकार के प्रकथन मे प्रभावोत्पादकता, मर्मस्पर्शिता, सजीवता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सारे विवरण में संगति, क्रम, सम्बद्धता भी रहनी चाहिए। भाषा में चित्रोपमता, व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, स्वच्छता, प्रवाह, माधुर्य आदि गुणो का रहना भी अत्यन्त आवश्यक है। यदि कहानीकार का भाषा पर पूर्ण अधिकार नही होगा तो वह सफल कहानीकार नही बन सकता। उपन्यास-रचना की अपेक्षा कहानी-रचना में अधिक निपुणता की अपेक्षा है। कहानीकार को थोड़े से शब्दों में बहुत कुछ कहना पडता है। उसे एकता एव अन्विति लाने के लिए विशेष सतर्क रहना पडता है। वह अपने ध्येय से इधर-उधर नही हो सकता। थोड़ा-सा भी दिग्भ्रम उसे कला-क्षेत्र से दूर धकेल सकता है। उसे शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास मे दक्षता प्रदर्शित करनी पड़ती है। इसी दक्षता एव सिद्धहस्तता के कारण वह अपनी भाषा को वशवर्त्तिनी, भावानुसारिणी बनाने में सफल हो सकता है। कहानीकार की भाषा मे यह गुण होना चाहिए कि उसका

एक-एक शब्द या वाक्य इतना सबल हो कि वह पाठक को आन्दोलित कर सके। पात्र के अपेक्षित चरित्रांश पर तीव्र प्रकाश डाल सके, लेखक के विचारो वा अनुभूतियों का सकेत कर सके। वह व्यवहारोपयोगी होकर भी काव्य की सरसता से सम्पन्न हो, सर्व-प्रिय हो तथा सर्वग्राह्य हो।

कहानी के प्रकार

आजकल कहानी-साहित्य अनेक रूपो में विकसित हो रहा है। इसका वर्गीकरण करने के लिए कई आधार बनाये जा सकते हैं।

सर्वप्रथम वर्ण्य विषय की दृष्टि से कहानी सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, राजनीतिक हो सकती है।

सामाजिक कहानी में समाज की सामयिक समस्याओ को वर्ण्य विषय बनाया जाता है। इसी में परिवारिक कहानियो का भी समावेश हो जाता है।

कल्पना के मधुर रस से सिक्त होकर ऐतिहासिक इतिवृत्त जब पाठक के सम्मुख उपस्थित होता है तो वह ऐतिहासिक कहानी कहलाती है।

जिसमे मानव मन का विश्लेषण होता है अथवा जीवन की असाधारण परिस्थितियों मे मन की प्रवृत्ति का प्रदर्शन होता है वह कहानी मनोवैज्ञानिक कहलाती है। इस वर्ग की कहानियों के दो रूप हो सकते हैं। एक रूप मे ये कहानियाँ मानव जीवन के शाश्वत स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं और मानवता का स्वर ऊँचा करती हैं। दूसरी मनोवैज्ञानिक कहानियाँ वे है जिनमें आसाधारण परिस्थितियो में विचरते मानव का प्रदर्शन किया जाता है। इनमें मनोविज्ञान के सिद्धान्तो या रहस्यों को विशेष आधार बना लिया जाता है। इसका परिणाम यह हो जाता है कि इन कहानियो के पात्र कुछ असाधारण व्यवहार करते परिलक्षित होते हैं।

राजनीतिक उथल-पुथल के कारण उत्पन्न होने वाली परिस्थितियो को आधार बनाकर लिखी जाने वाली कहानी राजनीतिक कहला सकती है। इसी प्रकार राजनीतिक आन्दोलन में सम्मिलित होने वाले नवयुवकों के स्वदेश-प्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्सर्ग का चित्र प्रस्तुत करने वाली

कहानियाँ भी इसी कोटि की मानी जा सकती हैं।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से कहानी के उक्त भेदो के अतिरिक्त अन्य वर्ग भी बनाये जा सकते हैं। समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो के बीच धर्म, समाज-सुधार, व्यापार-व्यवसाय आदि की ओट में होने वाले कुत्सित कर्मों की चर्चा करने वाली कहानियाँ पृथक् वर्ग में रखी जा सकती हैं। हास्य-व्यंग्य-प्रधान कहानियों को भी पृथक् वर्ग मे रखा जा सकता है। समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं तथा कुप्रथाओ, कुप्रवृत्तियो का उपहास करने वाली कहानियों के अतिरिक्त हास्य-विनोद द्वारा अनुरंजन करने वाली कहानियाँ भी इसी वर्ग मे परिगणित की जा सकती हैं।

कहानियो का तत्त्वों के आधार पर भी वर्गीकरण किया जा सकता है। जिस तत्त्व की प्रमुखता होगी, उसी के आधार पर उसका नामकरण हो सकता है, यथा घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, वातावरण-प्रधान, प्रभाव-प्रधान आदि।

शैली-तत्त्व की दृष्टि से कहानी के पाँच भेद किए जा सकते है—१. ऐतिहासिक या वर्णनात्मक शैली वाली, २. आत्मकथात्मक शैली वाली, ३. कथोपकथन शैली वाली, ४. पत्रात्मक शैली वाली तथा ५. प्रतीकात्मक।

प्रकथन के प्रकार और परिणाम-निर्देश को दृष्टि में रखते हुए कहानी के आदर्शवादी, यथार्थवादी और प्रगतिवादी आदि भेद भी किए जा सकते हैं। कहानी की घटनाओं का वर्णन करते समय या उसके परिणाम का निर्धारण करने में लेखक का अपना दृष्टिकोण विशेष प्रभाव डालता है। इसी प्रभाव के कारण कहानी के स्वरूप में अन्तर पड़ने लगता है और कहानी उक्त रूप से वर्गों में विभक्त हो जाती है।

रेखा-चित्र

रेखा-चित्र गद्यात्मक प्रकथन सम्बन्धी साहित्य का एक नया रूप है। वास्तव मे यह अंग्रेज़ी के स्कैच (Sketch) का ही रूपान्तर है। जिन परिस्थितियों ने छोटी कहानी को साहित्यिक क्षेत्र मे पनपने का अवसर दिया है, उन्ही परिस्थितियों ने 'रेखा-चित्र' के लिए भी स्वतन्त्र अस्तित्व में आने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित किया है। चिरकाल से प्रकथनात्मक साहित्य में प्रकथन और वस्तु-वर्णन दोनों का एकत्र अस्तित्व रहा है। गद्य-पद्यात्मक प्रबन्ध काव्यो में प्रकथन के साथ वस्तु-वर्णन की मात्रा पर्याप्त परिमाण मे रहती रही है। इतना होने पर भी वस्तु-वर्णन की मात्रा उचित अनुपात से बढकर प्रकथन के प्रवाह में बाधक बन सकती है, अतएव वस्तु-वर्णन को प्रकथनात्मक साहित्य मे सीमित स्थान ही मिल सका है। जिस मनोवृत्ति ने प्रबन्ध काव्यो में वस्तु-वर्णन के समावेश को प्रोत्साहित किया है आज वही मनोवृत्ति प्रवृद्ध होकर वस्तु-वर्णन को प्रकथन से पृथक् करने में सलग्न दृष्टिगोचर होती है। साहित्य का 'रेखा-चित्र' रूप इसी मनोवृत्ति के प्रसार का परिणाम कहा जा सकता है। प्रकथन मे एक प्रकार की गति रहती है और वस्तु-वर्णन में स्थिरता, अत: दोनो को एकत्र समाविष्ट करने मे कथा-प्रवाह के रुकने की आशंका बनी रहती है। प्रकथन का सम्बन्ध काल के साथ और वस्तु-वर्णन का सम्बन्ध देश से होता है। 'रेखा-चित्र' में स्थिर वस्तु का वर्णन रहता है और वह वस्तुविशेष का आत्मचरित-सा हो जाता है।

रेखा-चित्र की परिभाषा

साहित्य का वह रूप जिसमें किसी वस्तु या व्यक्ति-विशेष के भीतरी-बाहरी रूप का इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि उस वस्तु का एक चित्र-सा निर्मित हो जाता है—रेखा-चित्र कहलाता है। शब्द-रेखायें एक

प्रकार से चित्र की रेखाएँ दृष्टिगोचर होने लगती है और ये रेखाएँ वस्तु या व्यक्ति का आकार-प्रकार पाठक के सम्मुख उपस्थित कर देती है। जिस प्रकार चित्रकार कुछ आडी-तिरछी रेखाएँ खीचकर किसी पदार्थ का स्वरूप प्रतिबिम्बित कर देता है उसी प्रकार साहित्यकार शब्द-योजना से वस्तु का ढाँचा निर्मित करता है।

"टेढी-मेढी रेखाओ से बने 'स्कैच' चित्रकार की जीवन के प्रति होने-वाली अनुभूति की साकार अभिव्यक्ति करते है। 'रेखा-चित्र' न कहानी है और न गद्य-गीत, न निबन्ध है और न सस्मरण; रेखाओं में जीवन के विविध रूपो का आकार देने की प्रणाली की विशेषता को अपनाकर ही शब्दो द्वारा जीवन के विविध रूपो को साकार करने वाले शब्द-चित्रो को रेखा-चित्र की संज्ञा प्रदान की गई है।" वास्तव में देखा जाय तो रेखा-चित्र 'निबन्ध' और 'कहानी' के बीच की वस्तु है। आज के व्यक्ति-प्रधान युग में स्वतन्त्र अस्तित्व-प्रतिष्ठापन की प्रवृत्ति ने रेखा-चित्र को अपने पृथक् अस्तित्व में आने में पूर्ण सहायता प्रदान की है। इसी स्वतन्त्र अस्तित्व ने उसके विधान को भी पृथक् कर दिया है। अब रेखा-चित्र की अपनी स्वतन्त्र कला है। शिवदानसिंह चौहान की इस सम्बन्ध में उक्ति विशेष उल्लेखनीय है। वे लिखते है—'कला के अन्दर रेखा-चित्र की स्वतन्त्र सत्ता है, उसे पढने के बाद पाठक को समाज या व्यक्ति की जीवन-धारा के अगले मोड-प्रवाहों को जानने की आवश्यकता नही रह जाती। वह उस पूरी तस्वीर को पढकर सन्तुष्ट हो जाता है और चूँकि रेखा-चित्र एक चित्र है, इस कारण उसका वर्ण्य विषय कल्पना-प्रधान भी हो सकता है, और वास्तविक भी।'

रेखा-चित्र की रचना के लिए इतना ध्यान रखना अपेक्षित है कि रेखा-चित्रकार की दृष्टि जितनी पैनी होगी तथा उसकी अनुभूति जितनी चित्रित सत्य के निकट होगी उतना ही उसके द्वारा अकित किया गया रेखा-चित्र सजीव और प्रभावोत्पादक होगा।

जहाँ तक रेखा-चित्रों के आकार का प्रश्न है, वे प्रायः छोटे ही होते

है। अधिक विस्तार उनके सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। रेखा-चित्र में तो विस्तार की अपेक्षा गठन होना अपेक्षित है।

रेखा-चित्र के तत्त्व

रेखा-चित्र के विधायक तत्त्वो मे पात्र या वस्तु ही मुख्य है। दूसरा तत्त्व 'देश' अर्थात् वे स्थिर अश है जिनके रेखाकित करते ही पात्र या वस्तु का रूप अस्तित्व में आने लगता है, वह साकार हो उठता है। तीसरा तत्त्व जीवन-दर्शन और चौथा शैली माना जा सकता है।

पात्र या वस्तु

रेखा-चित्र मे वर्ण्य विषय के रूप में एक व्यक्ति को, मानवेतर प्राणी को या किसी जड़ वस्तु को लिया जाता है और फिर उसका वर्णन किया जाता है कि उस व्यक्ति, मानवेतर प्राणी या जड़ वस्तु का प्रारम्भिक चित्र निर्मित हो जाता है। व्यक्ति, प्राणी या वस्तु के स्वरूप की उद्‌भावना के लिए मूलतः जिस-जिस बात के वर्णन की आवश्यकता होती है वह सब कह दी जाती है। इस वर्णन से वर्ण्य विषय की बाहरी रूप-रेखा का सकेत मिलने लगता है। इसी को बढाकर कहानी के रूप मे या निबन्ध के रूप में परिवर्तित या परिवर्धित किया जा सकता है।

देश

वर्ण्य विषय किसी स्थानविशेष में विद्यमान रहता है, उसके आस-पास की कुछ परिस्थितियाँ होती हैं। ये पार्श्ववर्ती भाग गतिशील नही होते हैं और वर्ण्य विषय के साथ नित्य सपृक्त रहते है। उनके बिना पात्र या वस्तु का अस्तित्व गोचर नही हो सकता। रेखा-चित्रकार उन स्थायी सम्बन्ध रखने वाले अंशो का वर्णन करता है। देश-तत्त्व से यही अभिप्रेत है।

जीवन-दर्शन

रेखा-चित्र की सक्षिप्त परिधि मे जो कुछ वर्णित होता है उसमें जीवन की अभिव्यक्ति हो जाती है। यदि वर्ण्य विषय वस्तु या प्राणी है तो मानव-जीवन के साथ उसके सम्बन्ध पर प्रकाश डालना अनिवार्य हो

जाता है । रेखा-चित्रों में किसी ऐसी वस्तु का चित्र उपस्थित करना उपादेय नहीं जिसके साथ मानव ने अभी तक अपना किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया । यह सम्बन्ध व्यावहारिक भी हो सकता है, दार्शनिक या साहित्यिक तथा रागात्मक भी । इसी सम्बन्ध की प्रेरणा रेखा-चित्र के मूल में निहित रहती है । यदि वर्ण्य विषय कोई व्यक्ति है तो उसका जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध होने से रेखा-चित्र में जीवन-व्याख्या अनायास ही आ जाती है, लेखक अपनी अनुभूतियों,मानसिक प्रतिक्रियाओं, मान्यताओं, आदर्शों को उसी व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्ति करने लगता है । रेखा-चित्र एक साहित्यिक रूप है, अतएव लेखक का व्यक्तित्व, उसका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रत्यक्ष या परोक्ष वृत्ति से इस रूप में अनिवार्यतः अन्तर्निहित एवं समाविष्ट हो जाता है । एक समालोचक की यह उक्ति इस बात का समर्थन करती है—'रेखा-चित्र आज के क्रान्तिकारी युग की साहित्यिक अभिव्यक्तियों का ज्वलन्त माध्यम है । जीवन की विभिन्न क्रान्ति-प्रतिक्रान्तियों को सीधा स्वर देने में भी रेखा-चित्रों का भारी प्रयास है ।'

शैली

रेखा-चित्र की कला बहुत कुछ फोटोग्राफी की कला की भाँति है । जिस प्रकार कैमरामैन अपने कैमरे द्वारा किसी वस्तु, स्थान अथवा व्यक्ति का वास्तविक चित्र ले लेता है उसी प्रकार रेखा-चित्रकार भी विश्व की किसी भी वस्तु का—चेतन तथा अचेतन का—चित्र अपने शब्दों द्वारा बना लेता है, जिसमें उसी प्रकार की वास्तविकता रहती है । प्रत्येक प्राणी का जीवन में अपना निजी दृष्टिकोण रहता है तथा उसकी विचार-शक्ति, उसके देखने का ढंग, उसकी अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति सभी कुछ मौलिक होता है । इसी कारण एक ही वस्तु के रेखा-चित्र विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण एक दूसरे से भिन्न रहते हैं ।

रेखा-चित्रकार को भाषा पर पूर्ण अधिकार अपेक्षित है । उसे गागर में सागर भरना होता है । बिना इस अधिकार के वह यह कार्य सम्पन्न नहीं

कर सकता। उसे ऐसी शब्द-योजना करनी पडती है कि पाठक की आँखें उन शब्दों में ही वस्तु या व्यक्ति को देखने लगे। पाठक यह अनुभव करने लगता है कि वह उस वस्तु या व्यक्ति के अत्यन्त समीप है। वस्तु या व्यक्ति के सान्निध्य की अनुभूति करवा देने की ही रेखा-चित्रकार की अपनी विशेषता लेखक की भाषा-शक्ति पर निर्भर है। इसी शक्ति के सहारे वह प्रकृति की जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु को सजीव कर सकता है। निस्सन्देह, रेखा-चित्र के निर्माण को लिए लेखक को गम्भीर अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने पार्श्ववर्त्ती जगत् का इस अन्तर्दृष्टि द्वारा निरीक्षण-परीक्षण, विश्लेषण-सश्लेषण, आलोचन-पर्यालोचन करे, और इसी पर्यालोचन के आधार पर जीवन के व्यापक क्षेत्र मे व्यावहारिक अनुभव का संचय करे। यह सचय उसकी भाषा-शक्ति में ऐसी गम्भीरता एव घनता की सृष्टि कर देता है कि वह थोड़े शब्दो में वहुत कहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। वह रेखाओ से ही चित्र बना डालता है। वह रगो के भरे बिना ही, विशाल आयोजन किये बिना ही, घटनाओं का जाल फैलाए बिना ही वस्तु या व्यक्ति का स्वरूप उद्घाटित कर देता है। प्रत्येक साहित्यिक रचना मे रचनाकार का अपनापन निहित रहता है। रेखा-चित्र इसका अपवाद नही। इमी से रेखा-चित्र के साथ शैली-तत्त्व का सम्बन्ध भी हो जाता है।

रेखा-चित्र के प्रकार

वर्ण्य विषय की दृष्टि से रेखा-चित्रों के दो प्रकार हो सकते हैं—(१) मानवेतर जड़ या चेतन जगत् सम्बन्धी, (२) मानव सम्बन्धी।

मानवेतर जड़ या चेतन जगत् सम्बन्धी—जब रेखा-चित्रकार अपना वर्ण्य विषय मानवेतर सृष्टि से ग्रहण करता है और किसी जड वस्तु का अथवा चेतन पशु-पक्षी का रेखा-चित्र प्रस्तुत करता है तब रेखा-चित्र मानवेतर जगत् सम्बन्धी कहलाता है। इस कोटि के रेखा-चित्रो का निर्माण करते समय लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह उस सम्बन्ध पर

भी पूर्ण दृष्टिपात करे जो मानव ने उस वर्णित वस्तु के प्रति अपने भावजगत् में स्थापित कर लिया है। अभिप्राय यह है कि यदि वह पेड़, उद्यान, झरने आदि का रेखा-चित्र उपस्थित करता है तो उसे यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि ये वस्तुएँ मानव को किस रूप मे भाती हैं। इनसे मानव के अन्तर्जगत् मे क्या प्रतिक्रिया होती है। उदाहरण के लिए 'लैटरबक्स', 'पैट्रोल टैंक' आदि रेखा-चित्र लिए जा सकते हैं।

मानव सम्बन्धी—इस चराचर जगत् मे मानव सबसे श्रेष्ठ है। जब रेखा-चित्रकार सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ मानव को अपना वर्ण्य विषय बनाता है और किसी व्यक्तिविशेष के चरित्र का चित्रण करता है तब वह रेखा-चित्र मानव-सम्बन्धी कहलाता है। व्यक्ति का रेखा-चित्र अंकित करने वाले लेखक का उद्देश्य उस व्यक्ति का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करना होता है, अत. यह आवश्यक है कि वह इस प्रकार शब्दो की योजना करे कि अभीष्ट व्यक्ति का पूर्ण स्वरूप उद्‌घाटित हो जाए और उस वर्णन के उपरान्त उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना शेष न रहे। उसे अपने चित्र में महत्त्वपूर्ण एव उल्लेखनीय बातो को ही स्थान देना चाहिए और साधारण एवं उपेक्षणीय तथ्यो को छोड देना कला की दृष्टि से उपयोगी होता है। रामवृक्ष बेनीपुरी का 'बलदेव' नामक रेखा-चित्र इसी कोटि का है।

वर्गीकरण के अन्य आधार

रेखा-चित्रो का वर्गीकरण शैली के आधार पर भी किया जा सकता है। कुछ रेखा-चित्रों मे कहानी को प्रधानता मिल जाती है। शैली की दृष्टि से ये कहानी-प्रधान रेखा-चित्र कहलाते हैं। बेनीपुरी के रेखा-चित्र प्राय. कहानी-प्रधान होते हैं। अन्य रेखा-चित्रों में संस्मरणों को प्रधानता दे दी जाती है, वे सस्मरण-प्रधान रेखा-चित्र कहलाते हैं। उदाहरण के लिए महादेवी वर्मा के 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' ग्रन्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

निबन्ध

निबन्ध का महत्त्व

गद्यात्मक साहित्य का एक नवीन रूप 'निवन्ध' नाम से विकसित हुआ है। साहित्य के अन्यान्य रूपो में इसका अपना विशेष स्थान है। प्राचीन उक्ति के अनुसार गद्य कवियों की कसौटी है।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि गद्य-रचना में अनुपाततः अधिक प्रयास अपेक्षित है। यदि गद्य कवियों के बौद्धिक विकास के परीक्षण का साधन माना जा सकता है तो गद्य-निर्माण-शक्ति की परीक्षा निबन्ध के द्वारा की जा सकती है। दूसरे शब्दो में, निबन्ध-रचना में गद्य के अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक प्रयास एवं बौद्धिक विकास की आवश्यकता है। कई समालोचको के कथनानुसार तो गद्य का वास्तविक रूप निबन्ध में ही प्रस्फुटित होता है।

साहित्य मे यदि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को प्रधानता दी जाती है तो निबन्ध में व्यक्तित्व के प्रसार का सबसे अधिक अवसर मिलता है। वैयक्तिक शैली का जितना उत्कृष्ट रूप निबन्ध मे परिलक्षित होता है उतना गद्य-साहित्य के अन्य किसी रूप में नही। निबन्ध मे लेखक का अपना व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिफलित हो जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि व्यक्तित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध बौद्धिक चिन्तन के साथ है। निबन्ध में इसी चिन्तन को आधार बनाया जाता है। चिन्तन-प्रधान दर्शन-शास्त्र की परिधि से इसको साहित्यिक क्षेत्र में लाने के लिए यद्यपि इसमें भावात्मकता का भी सम्मिश्रण किया जाता है तथापि चिन्तन गौणता को प्राप्त नही होता। चिन्तन के बिना निबन्ध गद्यगीत किवा गद्यकाव्य के क्षेत्र मे प्रविष्ट होने लगता है, उसका अपना रूप ही विघटित होता प्रतीत होता है। विषय-प्रतिपादन की शैली का भी व्यक्तित्व के साथ

---

१. गद्यं कविनां निकष वदन्ति।

सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। शैली-तत्त्व का भी सुसंगत एवं समुचित विकास निबन्ध मे सम्भव होता है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का चिन्तन भिन्न आधार पर अवलम्बित होता है, ठीक उसी प्रकार चिन्तन की अभिव्यक्ति का प्रकार भी भिन्न होता है। निबन्धो में अभिव्यक्ति के प्रकार की विशिष्टता भी प्रतिफलित रहती है। इस प्रकार निबन्ध अपने मूल रूप मे दर्शन-शास्त्र के अधिक समीप है, परन्तु अब इसी वैयक्तिकता के अधिकाधिक समावेश के कारण धीरे-धीरे साहित्यिक क्षेत्र में इस रूप को स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हो गया है। परिणामतः इसमें चिन्तन का अंश न्यून और हृदयवृत्ति का अन्तर्भाव अधिक होता जा रहा है और इसके अनेक रूप विकसित हो रहे है। इसके अतिरिक्त निबन्ध की अनेक शैलियों का प्रादुर्भाव भी हो रहा है।

निबन्ध शब्द का अर्थविकास

निबन्ध शब्द का अपना एक इतिहास है। निबन्ध शब्द का प्राचीनतम प्रयोग ग्रन्थ रूप मे होता रहा है। यह कहा जाता है कि मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार से पूर्व विचारक लोग अपने दार्शनिक विचारो को भोजपत्रो पर लिखकर सुरक्षा की भावना से उन पत्रों को एकत्र बाँध देते थे। इसी बाँधने के कारण वे इन पत्रो के सकलित रूप को निबन्ध कह देते थे। इस प्रकार निबन्ध शब्द का प्राचीनतम अर्थ ग्रन्थ सिद्ध होता है। इस अर्थ में आज इसका प्रयोग नही होता। अब इसका अर्थ संकुचित हो गया है और सीमित रचना के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

निबन्ध शब्द का अर्थ व्याख्या-विशेष भी लिया जाता रहा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' कोष में निबन्ध शब्द का अर्थ व्याख्याविशेष ही दिया है। इस शब्दकोष के अनुसार निबन्ध का अर्थ वह व्याख्या है जिसमें अनेक मतो का सग्रह हो।

आधुनिक काल में निबन्ध शब्द अंग्रेजी एस्से (Essay) शब्द का पर्यायवाची हो गया है। अंग्रेजी के इस शब्द के अर्थ भी विचारको ने भिन्न-

भिन्न किये हैं। सामान्यत: Essay का अर्थ Assay अर्थात् 'जाँच या परीक्षा का प्रयत्न' किया जाता है। इसके अनुसार Essay में किसी विषय की जाँच-पड़ताल करने का प्रयत्न किया जाता है। इससे यह सकेत मिलता है कि यह प्रयत्न सर्वांशत. पूर्ण नही होता है। जॉनसन (Johnson) या बेकन (Bacon) ने इसी अर्थ को लेकर Essay के लक्षण किये हैं। जॉनसन की धारणा में An essay is a loose sally of the mind, an irregular, undigested piece not a regular and orderly composition. निबन्ध (Essay) मन का शिथिल विवरण एवं प्रस्फुटन है, इसमें नियमित क्रमबद्ध या परिपक्व शब्दयोजना का अभाव रहता है। इसी प्रकार बेकन का कथन है—'An essay consists of a few pages ef concentrated wisdom, with little elaboration of the ideas expressed' अर्थात् निबन्ध की रचना एकाग्रीकृत विवेचना-शक्ति के थोडे से पृष्ठो से होती है और उनमें अभिव्यक्त विचारों का विस्तार सीमित रहता है। इस प्रकार अंग्रेजी के Essay शब्द की व्याख्या भी भिन्न रूप धारण करती गई है। मौनटेन (Montaigne) ने Essay शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'Essay is medley of reflections. quotations and anecdotes' अर्थात् Essay (निबन्ध) भावना-प्रतिबिम्बों, उद्धरणो तथा उपाख्यानों का सम्मेल है। वह वैयक्तिक विचारो या अनूभूतियो को एक कलात्मक सूत्र मे पिरो देने के प्रयत्न को निबन्ध (Essay) मानता है। ये सब अर्थ आधुनिक काल की Essay की परिभाषा के प्रारम्भिक रूप कहे जा सकते है। हिन्दी का निबन्ध शब्द आधुनिक Essay की परिभाषा का सूचक बनकर प्रयुक्त होता है।

निबन्ध के अन्य पर्याय

निबन्ध शब्द नि उपसर्ग और बन्ध (बाँधना) धातु से बना है, जो किसी गठी हुई रचना का बोध कराता है। इसके लिए हिन्दी मे कुछ अन्य

शब्द भी प्रयुक्त होते हैं, यथा प्रस्ताव, लेख और प्रबन्ध। व्यवहार में प्रबन्ध शब्द प्रकृष्ट बन्ध अर्थात् बड़े या उच्च कोटि के निबन्ध के लिए प्रयुक्त होने लगा है। यही कारण है कि प्रबन्ध शब्द आजकल अंग्रेजी के थीसिज (Thesis) शब्द के लिए प्रयुक्त होता है, जो वास्तव में उच्च कोटि का निबन्ध ही होता है।

निबन्ध की परिभाषा

हिन्दी साहित्य के समालोचको ने निबन्ध की परिभाषा करते हुए पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का अनुकरण किया है। आधुनिक निबन्ध का प्रचलित रूप भी पाश्चात्य धारणा के पर्याप्त समीप है, अतः सबसे पहले हम एक पाश्चात्य विद्वान् 'मरे' (Murray) की परिभाषा को उद्धृत करते हैं—'An Essay is a composition of moderate length on any particular subject or branch of a subject, a composition more or less elaborate in style, though limited in range'. अर्थात् किसी विशिष्ट विषय या विषय की अवान्तर शाखा के उपलक्ष्य में की गई मध्यम विस्तार वाली शब्द-योजना निबन्ध कहलाती है। यह शब्द-योजना अपने आकार-प्रकार में भले ही विस्तृत प्रतीत होती हो परन्तु अपने विषय-प्रसार में उसे सीमित ही होना चाहिए।

इसी परिभाषा के अनुरूप आज निबन्ध का लक्षण निम्नलिखित रूप से किया जाता है:—'साधारणत. निबन्ध वह साहित्य रूप है जो न बहुत छोटा हो, जो गद्यात्मक हो, जिसमें किसी विषय का अत्यन्त सरल चलता सा विवरण हो, विशेषतः उस विषय का वर्णन हो जिसका स्वय लेखक से सम्बन्ध हो।'

इस लक्षण के अनुसार निबन्ध मे किसी विषय पर लेखक की व्यक्तिगत भावनाओं, अनुभवों और आस्थाओ का उल्लेख रहता है। हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ बाबू गुलाबराय जी ने निबन्ध की परिभाषा को अधिक पूर्ण रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उनकी धारणा में—

'निबन्ध उस गद्यरचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।'

इस लक्षण से निबन्ध के तत्त्वों तथा गुणो पर एक साथ ही प्रकाश डाल दिया गया है।

निबन्ध के तत्त्व

निबन्ध के निम्नलिखित तत्त्व स्वीकार किये जा सकते हैं:—

१. वर्ण्य विषय २. वर्ण्य विषय सम्बन्धी विचार ३. शैली

वर्ण्य विषय

प्राकृतिक या आध्यात्मिक क्षेत्र की प्रत्येक वस्तु या भाव, प्रत्येक रूप अथवा व्यापार निबन्ध का वर्ण्य विषय हो सकता है। इस चराचर संसार की प्रत्येक जड़, चेतन वस्तु के प्रति निबन्धकार अपनी मानसिक, बौद्धिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति निबन्ध रूप में कर सकता है। इतिहास, विज्ञान, दर्शन, भूगोल, खगोल, धर्म, राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, व्यवसाय आदि अनन्त क्षेत्रों से निबन्धकार अपने निबन्ध का विषय चुन सकता है। अतः निबन्ध-निर्माण के लिए निबन्धकार को विषय-निर्वाचन की अपेक्षा है। यही विषय निबन्ध का विधायक तत्त्व है।

विचार

दूसरा तत्त्व विचार हो सकता है। वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में निबन्धकार ने जो अध्ययन, मनन, निदिध्यासन किया है वही विचार के रूप में निबन्धकार की मनोभूमि में संचित रहता है। इसी सामग्री को लेकर वह निबन्ध की रचना कर देता है। यह निबन्ध साहित्य का प्राण है। इसके बिना इस रूप का अस्तित्व ही नही रहता। विचारो की गम्भीरता निबन्ध के मूल्य का निर्धारण कर देती है। सारगर्भित, तर्कपूर्ण, न्यायमूलक विचार निबन्ध के महत्त्व को बढ़ा देते हैं। वर्ण्य विषय के उपलक्ष्य

मे जो विचार निबन्ध रूप में प्रस्तुत किये जाएँ उनका समर्थन तर्क के आधार पर होना आवश्यक है। विषय के पक्ष और विपक्ष पर भी प्रकाश डालने वाले विचार निबन्ध में विन्यस्त होने चाहिएँ। विभिन्न विचारो के समन्वय की तथा लेखक के मत की स्थापना की भी अनिवार्यत. अपेक्षा निबन्ध मे रहती है। निबन्ध के शरीर मे विन्यस्त विचारो के साथ-साथ लेखक के भाव झलकते रहने चाहिएँ। बुद्धि के साथ हृदय का योग निबन्ध की उत्कृष्टता के लिए आवश्यक है। तर्कमयता और सकल्पात्मक अनूभूति के परस्पर सम्मिश्रण से निबन्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति का रूप धारण करने लगता है। तर्क की नीरसता अनुभूति की सरसता को आत्म-लीन कर लेती है और अनुभूति की स्वच्छन्दता को तर्क की सयतता निरकुश नही होने देती। निबन्धकार वैज्ञानिक की निरपेक्ष दृष्टि रखता है परन्तु सर्वत्र भावना का विरोध नही करता। वह अपने न्यायमूलक विचारो के समर्थन मे अपनी भावना का प्रकाशन करता है। उसके विचारो पर कहीं भावना का पुट रहता है और कही भावना पर विचार अपनी छाप स्थापित कर देते है। भाव और विचार के परस्पर आदान-प्रदान से निबन्ध का रूप निखर उठता है और वह सहृदय जनों के लिए ग्राह्य बन जाता है।

शैली

निबन्धकार को अपने निबन्ध-निर्माण के लिए एक विशिष्ट शैली का आश्रय लेना पड़ता है। सर्वप्रथम उसे वर्ण्य विषय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए विचारों में क्रमबद्धता लानी पडती है। विचारों को विन्यस्त करते समय उसे एक विशेष क्रम का अनुसरण करना पड़ता है। पहले विषय का सकेत देना पडता है। दूसरे, शब्दों में उसे अपने विषय के क्षेत्र में प्रविष्ट होना पडता है। इस प्रकार वह निबन्ध का प्रस्तावना-भाग निर्मित कर लेता है। अब वह अपने विषय के सम्बन्ध में अपने निजी विचारों का उल्लेख करता है और एक पक्ष की स्थापना कर देता है। इसके अनन्तर वह विपक्ष मे कही जाने वाली बातों का क्रमशः उल्लेख

करता है और साथ ही विरोधी तर्कों का खण्डन करता है। इस प्रकार पक्ष-विपक्ष का अवतरण हो जाता है। अब वह इन दोनों पक्षो का तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत करता है और पूर्व-स्थापित स्वपक्ष का समर्थन वा अनुमोदन कर देता है। अन्त में अपने सारे विचारों का सिहावलोकन करता है और अपने निर्णय की घोषणा कर देता है। इस प्रकार निबन्धकार को अपने विचारों को एक नियत क्रम में अभिव्यक्त करना पडता है। निबन्ध के विधान में एक सरल रेखा-सी दृष्टिगोचर होती है। यह रेखा लेखक की अपनी रुचि के अनुरूप अपना स्वरूप बनाती है।

निबन्ध की भाषा मे गम्भीरता और सरलता दोनों रहनी चाहिएँ। विचारो के अनुकूल भाषा का प्रवाह आवश्यक है। वर्ण्य विषय के क्षेत्र में प्रचलित पारिभाषिक शब्दो का विनियोग भी निबन्ध की भाषा की अपनी आवश्यकता है। वाक्य-योजना सन्तुलित होनी चाहिए। अधिक लम्बे वाक्य भाषा में अस्पष्टता उत्पन्न कर देते हैं। शब्द-योजना इस प्रकार की जाए कि थोड़े से शब्दो से अधिक से अधिक विचारों या भावों का प्रकाशन किया जा सके। भाषा में भावावेश के कारण भावात्मकता लाई जा सकती है परन्तु इसकी मात्रा उचित अनुपात में रहनी चाहिए। इसकी मात्रा इतनी नही होनी चाहिए कि विचारों की आवश्यक गम्भीरता को क्षति पहुँचे। शिथिल वाक्यों तथा अनुपयुक्त अर्थ के द्योतक शब्दों की योजना निबन्ध को भाषा को दूषित कर देती है। प्रांजल, सुपरिष्कृत, सुव्यवस्थित तथा प्रौढ भाषा निबन्ध की उत्कृष्टता का सकेत कर देती है।

निबन्ध के गुण

निबन्ध के गुणों में सीमित विस्तार, संगति, स्वच्छन्दता, भाषा-सौष्ठव, सजीवता, सम्बद्धता आदि गुण विशेष उल्लेखनीय है। इन गुणों के अतिरिक्त सर्वप्रधान गुण निजी व्यक्तित्व का प्रतिफलन माना जाता है। निबन्ध में वैयक्तिक अनुभूतियों वा विचारों का प्रकाशन रहता है, इसीलिए यह कह दिया जाता है कि 'Essay is subjective' अर्थात्

निबन्ध व्यक्तिपरक होता है। यथार्थ निबन्ध वही होता है जिसमें वर्ण-नीय विषय के प्रति लेखक की मानसिक प्रतिक्रिया का प्रदर्शन किया जाता है। इसलिए किसी निबन्ध की आलोचना करते हुए सर्वप्रथम वर्ण्य विषय की उपयुक्तता पर ध्यान देना पडता है। उस विषय के प्रति निबन्धकार की विचारधारा का विश्लेषण करना पडता है और साथ ही यह देखना पड़ता है कि वह अपने विचारो को किस प्रकार अभिव्यक्त करता है। निवन्धकार अपने विषय को किस रूप में ग्रहण करता है तथा धारण करता है यह देखना भी अत्यन्त आवश्यक है। उसके विचारो मे कितनी गम्भीरता, स्पष्टता, तर्कमयता, सुसम्बद्धता, संगति विद्यमान है यह निश्चय करना भी आलोचक का कार्य है। वर्ण्य विषय से इधर-उधर भट-कने से निबन्ध के कलात्मक सौन्दर्य का विघटन हो जाता है, अतः निबन्ध-कार को विषयान्तरित होने से सदा अपने आपको बचाए रखना चाहिए।

निबन्ध में साहित्य के प्रायः सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं, परन्तु प्रधानता बुद्धि-तत्त्व की ही रहती है। किसी निबन्ध में कल्पना-तत्त्व को, किसी निबन्ध में भाव-तत्त्व को भी प्रधानता मिल सकती है। शैली-तत्त्व की दृष्टि से निबन्धो की पाँच प्रधान शैलियाँ मानी जा सकती हैं।

निबन्ध की शैलियाँ

आधुनिक निबन्धों के विभिन्न प्रकारों में निम्नलिखित पाँच मुख्य शैलियाँ परिलक्षित होती हैं-- (१) व्यास शैली, (२) समास शैली, (३) धारा शैली, (४) तरंग शैली, (५) विक्षेप शैली।

व्यास शैली—व्यास का अर्थ विस्तार या फैलाव होता है। जब निवन्धकार अपने वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करते समय इस बात का ध्यान रखता है कि उसके वर्ण्य विषय का अंग-प्रत्यंग पाठक के समक्ष स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर दिया जाए तब वह विषय को पूर्णतया समझने का कार्य भी अपने हाथ में ले लेता है। जिस प्रकार प्राध्यापक अपने छात्रों को पढाते समय एक ही बात को कई रूपो में वर्णित करके विषय को हृदयगम

करवा देने का प्रयास करता है ठीक इसी प्रकार निबन्धकार भी जब प्रवृत्त होता है तब वह व्यास शैली का अनुसरण करता है। एक ही विचार को भिन्न-भिन्न शब्दो अथवा वाक्यों द्वारा स्पष्ट करने से उसमें विस्तार आ जाता है, इसीलिए इस शैली को व्यास शैली कहा जाता है। व्यास शैली का एक उदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

'हम लोग नगरों में रहते है, वहीं हमारी सभ्यता का विकास होता है और वहीं हमारी सस्कृति का रूप स्थिर होता है। पर हम यह बात भूल जाते है कि नगरों का वातावरण कृत्रिम होता है, इसमें बनावट का अंश बहुत अधिक रहता है। यदि देश के वास्तविक रूप का दर्शन करना हो तो वह गाँवों में मिलेगा।'

(हमारी भाषा—ले० श्यामसुन्दरदास)

समास शैली—समास का अर्थसंग्रह या संकोच किया जा सकता है। जब निबन्धकार अपने वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करते समय अपने विचारों का सग्रह करता चलता है और उन विचारों के स्पष्टीकरण में शब्दो या वाक्यो के प्रयोग में सकोच की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है तब वह समास शैली का अनुसरण करता है। वह विषय का प्रतिपादन सर्वाशतः करता है परन्तु उसके समझाने के लिए प्राध्यापक की शैली को नहीं अपनाता है। यही कारण है कि समास शैली वाले निबन्ध में विचारों का ताता-सा बँध जाता है और संदर्भ मे से किसी एक-आध वाक्य को भी निकाल देने से विचारों की शृंखला टूट जाती है। विचार ठूस-ठूस कर वाक्यों मे भर दिये जाते है। पूर्व वाक्य में विन्यस्त विचार के स्पष्टीकरण के लिए वह एक नया वाक्य नही बनाता अपितु विषय सम्बन्धी नवीन विचार प्रस्तुत करने के लिए नया वाक्य उपस्थित कर देता है। इससे विचारो की माला-सी गुम्फित होती चलती है। एक भी वाक्य को बीच में से सरका देने से माला के ही विशृखलित होने की आशका रहती है। संदर्भ का प्रत्येक वाक्य अनेक विचारों का सग्रह-सा प्रतीत होता है।

वाक्य में प्रयुक्त शब्द भी व्याख्या की अपेक्षा रखता है। उसकी व्याख्या में भी कई वाक्य निर्मित किये जा सकते है परन्तु समास शैली का निबंधकार उस व्याख्या से सकोच करता है और पाठक की कल्पना पर उसका उत्तरदायित्व डाल देता है। इस प्रकार कभी-कभी व्याख्यास्पद पद-विन्यास से समास शैली के निबन्ध मे कठिनता के साथ अस्पष्टता भी आने लगती है। समास शैली का एक उदाहरण नीचे उद्धृत किया जाता है—

'मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं। विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली इच्छाओ की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।'

(भाव या मनोविकार—ले० रामचन्द्र शुक्ल)

धारा शैली——धारा का अर्थ अखण्ड प्रवाह होता है। जब निबन्धकार अपने भावो को इस प्रकार उद्घाटित करता है कि भावो का बहाव एक नियत गति से प्रवाहित होता परिलक्षित होता है और पूर्व वाक्य में जिस भाव की अवतारणा की गई है वही भाव आगे निर्बाध गति से बढता चलता है तव वह धारा शैली का निर्माण कर देता है। इस शैली में हृदय वृत्ति का प्राधान्य रहता है परन्तु हृदय बुद्धि को, तर्क को, पकडे रहता है, उसको छोडकर उच्छृ खल नही होता। बुद्धि या तर्क उसके भाव-प्रवाह को रोकते नही परन्तु दृढ और उच्च तट का निर्माण अवश्य कर देते है। नदी के सामान्य प्रवाह की भाँति तर्क तटों के मध्य मे भाव-नदी का प्रवाह भी बहता रहता है। धारा शैली का एक उदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

'अर्थ सबके लिए कामना की वस्तु है। किन्तु अर्थ है क्या चीज़, यह कोई नहीं समझता। मैंने दैव-गवेषणा द्वारा अद्वैतवाद की सहायता से अर्थ का असल रूप जान लिया है। चराचर विश्व-संसार मे अगर कोई

एक पदार्थ है तो वह अर्थ है। अर्थ के सिवाय यहाँ और किसी का अस्तित्व ही नहीं है। अगर तुम अपने को कृती कहते हो तो अपना 'कैश बक्स' खोलकर दिखाओ। यदि तुम्हारे पास धन है तो तुममे मनुष्यत्व हो सकता है।'

(गोबरगणेश-सहिता—ले० गोपालराम गहमरी)

तरंग शैली—तरंग का अर्थ जलधारा का चढाव-उतार के साथ प्रवाहित होना है। जब निबन्धकार अपने भावों को इस प्रकार वर्णित करता है कि भावो के बहाव में चढाव-उतार आते परिलक्षित होते हैं तब वह तरंग शैली का निर्माण करने लगता है। सदर्भ के प्रारम्भिक वाक्य में जिस भाव की अवतारणा की गई है वह भाव अगले वाक्यो मे निरन्तर प्रवाहित होता चलता है परन्तु बीच-बीच में निबन्धकार इस प्रकार की शब्द-योजना करता है जिससे उस प्रवाह में कही चढाव और उतार दृष्टि-गोचर होने लगता है और वह लेखक के मन के आवेश को सूचित करता प्रतीत होता है। प्राय. विश्मयादिबोधक शब्दों के बीच-बीच में प्रयोग कर देने से इस शैली का स्वरूप स्पष्ट होने लगता है। इसमे बुद्धि का नियन्त्रण ढीला पड़ने लगता है। नदी की जलधारा में जब वायु-प्रकम्प से या जलवेग की अतिशयता से लहरे उत्पन्न होने लगती है तो कई बार नदी का जल किनारो से बाहर उछलता प्रतीत होता है। इसी प्रकार जब मन में भावधारा पूरे वेग से प्रसरित होने लगती है तो बुद्धि की रोक भाव के आवेश के नीचे दबती प्रतीत होती है। तर्क की रोक दबती अवश्य है पर सर्वथा नष्ट नही होती। आवेश के मन्द पड़ते ही धारा पूर्ववत् गतिशील रहती है। इस प्रकार नदी की लहरो की भाँति भाव की लहरे जिस भाषा-शैली में दृष्टिगोचर होगी वह तरग शैली कहलाएगी। इस शैली का एक उदाहरण लीजिए—

'लो, शंख फूंक दिया गया। रणघोषणा कर दी गई। लाल झण्डे फहरा उठे। शिविर में हलचल मच गई। कवच और शिरस्त्राण खड़-

खड़ाने लगे। अस्त्रागार की ओर कितने ही लोग दौड़े जा रहे हैं। कितनी मशालें जल रहीं हैं। कोई किसी से बोलता नहीं। संकेत से ही बातें हो रही हैं। अरे, यह अग्निकाण्ड कैसा? पूछना व्यर्थ है। इस घोर विप्लव में कौन किसकी सुनता है? यह देख, अग्निमुख तोपें दुर्भेद्य दुर्गों को धराशायी करने की तैयारियाँ करने लगीं।'

(आँख खोल—ले० वियोगीहरि)

विक्षेप शैली——विक्षेप का अर्थ मन को इधर-उधर भटकाना है। जब निबन्धकार अपने भावो का प्रकाशन इस रूप में करता है कि उनमें विशेष नियमन या तर्क का आश्रय नही रहता और भावो को निरकुश प्रसार का अवसर मिल जाता है तब विक्षेप शैली का स्वरूप प्रकट होने लगता है। विचार का अश धारा और तरग शैलियो की अपेक्षा इस शैली में अत्यन्त स्वल्प रह जाता है। सारे सदर्भ में या सारे निबन्ध में एक ही विचार को हृदयवृत्ति के माध्यम से प्रस्तुत करने का यत्न किया जाता है। सामान्य विचार को मन में उत्पन्न करके उसके आधार पर हृदय को सक्रिय प्रदर्शित करने का यत्न निबन्धकार द्वारा किया जाता है। विचार की मात्रा इतनी न्यून रहती है कि भाव को स्वच्छन्द प्रसार का पूर्ण अवसर मिल जाता है और बुद्धि की रोक पूर्णतया विनष्ट होती दृष्टिगोचर होती है। कभी-कभी इस शैली का निबन्धकार बुद्धि का नियन्त्रण इतना कम कर देता है कि उसका सारा भावोद्गार अनर्गल प्रलाप की भाँति प्रतीत होता है। विक्षेप शैली का एक रूप प्रलाप कहलाता है। विक्षेप शैली में भावावेश का वेग जब उचित सीमा का उल्लंघन कर जाता है तब वह प्रलाप की कोटि का निर्माण कर देता है। दोनों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

विक्षेप शैली का उदाहरण—

'थोड़ी ही देर में तेरे आस-पास नंगी तलवारें बिजली की तरह चमकने लगेंगी। सुना है, इन तलवारों पर पददलित दुर्बलों के गर्म आँसुओं

का विषाक्त पानी चढ़ाया गया है । ओह ! कितनी भीषण तोपें गम्भीर गर्जना कर धधकते हुए गोले उगलेंगी ! उनका ब्रह्माण्ड-भेदी शब्द असहाय दीनों के आर्त्तनाद का रूपान्तर होगा । तेरे देखते-ही-देखते यहाँ ज्वालामुखी फट पड़ेंगे । कहते हैं, उन अग्निगर्भ पर्वतों का निर्माण प्राणावशेष पीड़ित अस्थि-कंकालों की धुआँधार आहों से हुआ । कुसुम-कलिका से वज्रोत्पत्ति होगी ।'

(आँख खोल—ले० वियोगीहरि)

प्रलाप शैली का उदाहरण—

'कितने ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें आँसू नहीं आता । इसलिए जहाँ पर बड़ी जरूरत आँसू गिराने की हो,उनके लिए प्याज का गट्ठा पास रखना बड़ी सहज तरकीब निकाली गई । प्याज जरा-सा आँखों में छू जाने से आँसू गिरने लगता है । बहुधा आँसू का गिरना भलाई और तारीफ में दाखिल है । हमारे लिए आँसू बड़ी बला है । नज़ले का ज़ोर है, दिन-रात आँसू टपकता है, ज्यों-ज्यों आँसू गिरता है त्यों-त्यों बीमारी कम होती जाती है । सैकड़ों तदबीरें हम कर चुके, आँसू का टपकना बन्द न हुआ । क्या जाने बंगाल की खाड़ी वाला समुद्र हमारे कपारे में आकर भर रहा है ।'

(आँसू—ले० बालकृष्ण भट्ट)

निबन्ध के प्रकार

मुख्यत: निबन्ध को चार भागों में बाँटा जा सकता है :—१. वर्णनात्मक, २. विवरणात्मक, ३. विचारात्मक, ४. भावात्मक ।

वर्णनात्मक—जिस निबन्ध मे किसी वस्तु का वर्णन किया जाता है उसे वर्णनात्मक निबन्ध कहा जाता है । इस प्रकार के निबन्ध में किसी प्राकृतिक पदार्थ के स्वरूप का वर्णन किया जाता है । चेतन पशु-पक्षी के स्वरूप का तथा किसी व्यक्ति-विशेष के आकार-प्रकार का परिचयात्मक वर्णन भी इस श्रेणी के निबन्ध में किया जा सकता है । इस वर्णन का सम्बन्ध देश से रहता है,अत: पाठक वर्ण्य वस्तु के ही आस-पास घूमता

रहता है। साहित्यिक तत्त्वो मे से कल्पना की प्रधानता इस प्रकार के निवन्ध में रहती है। शैलियो मे से व्यास शैली वर्णनात्मक निवन्ध के लिए उपयोगी ठहरती है। उदाहरण के लिए ठाकुर जगमोहनसिह का 'श्यामास्वप्न' तथा कृष्णबलदेव वर्मा का 'बुन्देलखण्ड का पर्यटन' आदि निबन्ध प्रस्तुत किये जा सकते है। इस सम्बन्ध मे यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि उच्च कोटि के वर्णनात्मक निवन्ध में भावात्मकता का सुन्दर मेल कर दिया जाता है। शुद्ध वर्णनात्मक निवन्ध कम मिलते है, यदि मिलते भी है तो कम रुचिकर होते है।

विवरणात्मक—जिस निबन्ध में घटनाओ का विवरण प्रस्तुत किया जाता है उसे विवरणात्मक निबन्ध कहा जाता है। इस प्रकार के निबन्धो में एक व्यक्ति के जीवन मे होने वाली घटनाओं का, ऐतिहासिक व्यक्तियों के इतिवृत्त का सविस्तार विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इसमें वस्तु गतिशील रहती है। पाठक भी विवरण के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचता चलता है। इसका सम्बन्ध काल से रहता है। तत्त्वों में कल्पना-तत्त्व की इस प्रकार से निबन्ध में प्रधानता रहती है। व्यास-शैली में यह निबन्ध लिखा जाता है। शिवनारायण टण्डन का 'अमरनाथ की यात्रा', सुभद्राकुमारी का 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', बदरीदत्त पाण्डे का 'महाबली कर्ण', पुरुषोत्तमदास टण्डन का 'भीमाष्टमी' विवरणात्मक निबन्धों के उत्तम उदाहरण कहे जा सकते हैं।

विचारात्मक—जिस निवन्ध में किसी विपय का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है उसे विचारामक निबन्ध कहा जाता है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से विचारणीय विषय को लेकर निबन्धकार तत्सम्बन्धी अपने विचार इस प्रकार के निबन्ध में प्रस्तुत कर सकता है। निबन्ध का वास्तविक रूप इसी प्रकार के निबन्धो में परिलक्षित होता है। निबन्धकार का अपना गम्भीर अध्ययन, मनन तथा उसकी अपनी अनुभूति इसी प्रकार के निबन्ध में प्रकट होती है। अतएव इसमें बौद्धिक चिन्तन की विशेषता

रहती है। निबन्धकार वर्ण्य वस्तु की मीमांसा तर्क का आश्रय लेकर करती है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से इसके कई भेद हो सकते हैं, यथा दार्शनिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक आदि। ये सब निबन्ध समास और व्यास शैलियों में लिखे जाते हैं। विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष समास शैली में ही सम्पन्न होता है। बुद्धि-तत्त्व के साथ-साथ प्रासगिक रूप से निबन्धकार का हृदय भी इन निबन्धो मे प्रकट होना चाहिए अन्यथा ये निबन्ध साहित्यिक क्षेत्र के अन्तर्गत नही लाए जा सकते। विषय-विवेचन के अतिरिक्त आलोचना-गवेषणा सम्बन्धी निबन्ध भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। शुक्ल जी के निबन्ध प्राय विचारात्मक है और वे समास शैली में लिखे गए है। डा० श्यामसुन्दरदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी के विचारात्मक निबन्ध व्यास-शैली मे लिखे गए है। उदाहरण के लिए महावीरप्रसाद का 'प्रतिभा', डा० श्यामसुन्दरदास का 'भारतीय साहित्य का विवेचन', रामचन्द्र शुक्ल का 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'कविता क्या है' आदि निबन्ध प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

भावात्मक—जिस निबन्ध मे किसी विषय के प्रति भावनाओ या मानसिक प्रतिक्रियाओ का प्रकाशन रहता है वह भावात्मक कहलाता है। इसमे भी विचारात्मक निबन्धो की भाँति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से वर्ण्य वस्तु को ग्रहण किया जा सकता है। इन वस्तुओं को इस रूप में वर्णित किया जाता है कि निबन्धकार का बौद्धिक चिन्तन भावना का आश्रय लेता प्रतीत होता है। भावात्मक निबन्ध का लेखक अपने अध्ययन, मनन एवं विवेचन को अनुभूति के माध्यम से प्रकट करता है। यही इस प्रकार के निबन्ध की विशेषता होती है। बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा इसमे रागात्मक तत्त्व की अधिकता हो जाती है। यह एक प्रकार का गद्य-काव्य सा दृष्टिगोचर होने लगता है। इस प्रकार के निबन्ध धारा, तरग, विक्षेप तथा प्रलाप शैलियो मे लिखे जाते है। निबन्धकार अनुभूति के आधार पर अपना तथ्य-दर्शन पाठक के सम्मुख रख देता है। इस प्रकार उसके विचार

भावना का पुट लेकर शब्द-रूप धारण करते हैं। सरदार पूर्णसिह, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगीहरि, रायकृष्णदास, डा० रघुवीरसिह आदि के निबन्ध भावात्मक श्रेणी के होते हैं। उदाहरण के लिए राय कृष्णदास की 'साधना', 'प्रवाल', 'छायापथ', वियोगीहरि की 'भावना' और 'अन्तर्नाद' आदि रचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। पूर्णसिह के निबन्ध प्रायः धारा शैली में, चतुर्वेदी के तरग शैली मे, वियोगीहरि के विक्षेप शैली में लिखे गए है।

गद्य-काव्य

गद्य-काव्य का आविर्भाव

गद्य-काव्य साहित्य की अर्वाचीन विधा है। इसके अन्तर्गत गद्य और पद्य दोनो के कुछ-कुछ अंशों का अन्तर्भाव रहता है। कुछ पाश्चात्य आलोचको की धारणा है कि गद्य और पद्य दोनों में कोई अन्तर नहीं होता। ये आलोचक दोनो मे लयात्मकता का प्रतिपादन करते है। बेकन (Bacon) ने कहा कि कविता गद्य या पद्य दोनों में समान रूप से हो सकती है। कॉलरिज (Coleridge) ने भी बड़े बलपूर्वक यह घोषित किया कि उच्चतम कविता बिना छन्द के भी रह सकती है। इन आलोचकों के प्रभाव से गद्य और कविता का अन्तर दूर होने लगा और कविता की विशेषताएँ गद्य में भी आने लगी। यह विचार कि गद्य तो साधारण बातचीत है और कविता आसाधारण, अब विशेष महत्त्व का नही रहा। गद्य और पद्य में आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ। कविता के छन्दो में परिवर्त्तन और मुक्त छन्दो का आविर्भाव इसी का परिणाम कहा जा सकता है। इसी आदान-प्रदान के फलस्वरूप गद्य में एक विशेष रूप का श्रीगणेश हुआ जिसमें कविता की प्राय: सभी विशेषताएँ समाविष्ट हैं, केवल छन्दोबद्धता का अभाव है। इसी रूपविशेष को आज गद्य-काव्य की संज्ञा दी जाती है।

गुलाबराय जी के शब्दों में 'गद्य-काव्य की भाषा गद्य की होती है किन्तु भाव प्रगीत काव्य के से। गद्य के शरीर में पद्य की सी आत्मा बोलती हुई दिखाई देती है। भाषा का प्रवाह भी साधारण गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक सरस और सगीतमय होता है।' इस नये रूप के विकास में रवीन्द्रनाथ की गीताञ्जलि का विशेष योग स्वीकार किया जा सकता है। भावना की प्रधानता वैयक्तिकता तथा एकतथ्यता, के कारण

गद्य-काव्य प्रगीत काव्य के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है। अतएव गद्य-काव्य को 'गद्य-गीत' की संज्ञा भी दे दी जाती है। एक प्रकार के गद्य-गीत वे होते हैं जिनकी पक्तियों का विन्यास कुछ-कुछ गीतो का सा होता है। उन्हें गद्य-काव्य से पृथक् समझना चाहिए। गद्य-काव्य गद्य और पद्य के मध्य की वस्तु है। इसमें पद्य के अनुरूप भावना और अनुभूति की प्रधानता रहती है, साथ ही गद्य की स्वच्छन्दता भी रहती है। इसमें छन्द के बन्धन नहीं होते पर उसकी-सी लय अवश्य रहती है। दूसरे शब्दो में, छन्द का आनन्द इसमे विद्यमान होता है।

गद्य-काव्य की परिभाषा

जब गद्य अपनी सीमा में न रहकर गीत की ओर उन्मुख होने लगता है और जब गीत अपनी परिधि में पूर्णतया व्याप्त न हो सकने के कारण गद्य के समान आभासित होने लगता है तब जिस साहित्यिक रूप की सृष्टि होती है उसे 'गद्य-काव्य' या 'गद्य-गीत' कहा जाता है।

गद्य-काव्य के तत्त्व

उक्त परिभाषा के अनुसार गद्य-काव्य में गीत की छन्दोबद्धता, संगीतात्मकता को छोडकर उसके अन्य सब तत्त्वो की विद्यमानता स्वीकार की जा सकती है। इसी एक तत्त्व के अभाव के कारण वह गीत की परिधि को व्याप्त नहीं कर पाता और अपनी भावावेशमयी अनुभूति के के कारण तथा अपनी सीमितता, संक्षिप्तता, एकवृत्तिता, सरसता आदि के कारण वह गद्य की सीमा का भी उल्लघन कर जाता है और एक नया ही रूप धारण कर लेता है। अतः यही विशेषताएँ गद्य-काव्य के विधायक तत्त्व कहे जा सकते है। ये विशेषताएँ निम्नलिखित रूप से परिगणित की जा सकती हैं—

१. तीव्र एवं आवेगमयी अनुभूति, २. अनुभूति की सीमितता तथा संक्षिप्तता, ३ एकवृत्तिता, ४. सरसता, ५. अन्विति, ६. स्वच्छन्दता।

आवेगमयी अनुभूति—जब लेखक के हृदय में किसी भावना की अनुभूति इतने प्रचण्ड वेग से उत्पन्न होती है कि वह किसी प्रकार के

बन्धन को सहन नही कर पाती और पूर्ण वेग से बाहर अभिव्यक्त होने के लिए छटपटाने लगती है तब वह 'गद्य-गीत' के रूप में प्रकट होती है। अपने उद्दाम वेग में भाव छन्द के बन्धन को तोड़ देते हैं और निर्बाध प्रवाहित होने लगते हैं। अतएव गद्य-गीत के लिए अनुभूति की तीव्रता अत्यन्त उपादेय है।

सीमितता एवं संक्षिप्तता—आँधी का प्रचण्ड वेग सीमित होता है और बहुत देर तक नही रहता। ठीक यही बात भावों की आँधी के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जिस उद्दाम वेगयुक्त भाव की अनुभूति ने गद्य-गीत की योजना की है वह अपने विस्तार में सीमित ही हो सकता है और वह क्षणिक ही हो सकता है। अतः 'गद्य-गीत' में अभिव्यक्त अनुभूति सीमित एवं सक्षिप्त ही होनी चाहिए।

एकवृत्तिता—अनुभूति की तीव्रता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका सम्बन्ध एक ही भाव के साथ हो, मन की एक ही वृत्ति के साथ हो या एक ही विचार के साथ हो। वातावरण की भी एकता इस तीव्रता तथा घनता के लिए परम आवश्यक समझी जाती है। गद्य-गीत में 'एकवृत्तिता' से यही अभिप्रेत है।

सरसता—गीत की भाँति गद्य-गीत भी रसमय होना चाहिए। इसके बिना इस नाम की ही चरितार्थता नही हो सकती। यह सरसता, भाव-प्रवणता तथा कल्पना-प्रसार के कारण उत्पन्न कर ली जाती है।

अन्विति—सरसता के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि गद्य-गीत में उपन्यस्त भावों की परस्पर पूर्ण संगति हो। वे सब परस्पर समन्वित हों। सब भाव एक ही मूल वृत्ति को उत्तेजित करने वाले हो। इस अन्विति के बिना गद्य-गीत में स्पष्टता नही आ सकती। सरसता के लिए स्पष्टता की अपेक्षा सर्वविदित है।

स्वच्छन्दता—गीत की तरह गद्य-गीत में छन्द का बन्धन नही होता। उसमें संगीतात्मकता का अभाव भी हो सकता है, फिर भी उसमें एक

विशेष प्रकार की लय उत्पन्न करनी पड़ती है जिसके कारण छन्द के बिना भी छन्द का आनन्द 'गद्य-गीत' से मिलने लगता है। उसमें वाक्यों और वाक्याशो की आवृत्ति इस रूप में की जाती है कि उसमें भी एक प्रकार की लय उत्पन्न होने लगती है। यही लय आनन्द का कारण बन जाती है।

गद्य-गीत के प्रकार

वर्ण्य विपय के आधार पर गद्य-गीत मुख्यत: तीन प्रकार के मिलते हैं—१. आध्यात्मिक प्रेम सम्बन्धी, २. लौकिक प्रेम सम्यन्धी, ३. सामयिक तथा शाश्वत जीवन सम्बन्धी।

आध्यात्मिक प्रेम सम्वन्धो——किसी रहस्यमयी शक्ति के प्रति कुतूहल के अनुभव करने के पश्चात् हमारे हृदय में उसके प्रति जिज्ञासा, विरह तथा मिलन की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इस स्थिति में हम उस अलौकिक सत्ता के प्रति तीव्र प्रेमभाव की अनुभूति करने लगते है। जब लेखक इस भावनानुभूति को गद्य-काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त करने लगता है तब उसे आध्यात्मिक गद्य-काव्य कहा जाता है। इसके भी दो रूप हो सकते हैं——१. आत्मनिवेदनात्मक, २. अर्चनात्मक। आत्मनिवेदनात्मक में लेखक उपासक के रूप में हमारे सम्मुख आता है। वह अपने उपास्य एवं आराध्य देव के प्रति अपनी भावनाओं का प्रकाशन करता परिलक्षित होता है। दूसरे शब्दो में यह उसका आत्मनिवेदन होता है।

इस आत्मनिवेदनात्मक गद्य-काव्य में जब उपास्य देव के प्रति आदर, तथा श्रद्धा का भाव उमडने लगता है तब 'अर्चना' की प्रमुखता हो जाने से वह गद्य-गीत अर्चनात्मक कहलाता है।

लौकिक प्रेम सम्बन्धी——जब सांसारिक प्रणय-भावना को लेकर लेखक अपनी अनुभूतियों की अभिव्यंजना गद्य-काव्य रूप मे करता है तब वे लौकिक प्रेम सम्बन्धी गद्य-काव्य होते हैं और उन्हे प्रणय गद्य-गीत भी कहा जाता है।

सामयिक तथा शाश्वत जीवन सम्बन्धी—जब लेखक सामयिक या शाश्वत जीवन की समस्याओं को अपने गद्य-गीतो का आधार बनाता है तब वे गीत सामयिक या शाश्वत जीवन सम्बन्धी कहलाते हैं।

गद्य-गीतो के इन भेदो के अतिरिक्त साहित्यिक तत्त्वो के आधार पर अन्य भेद भी किये जा सकते हैं। ये गद्य-गीत विचार-प्रधान, भाव-प्रधान तथा कल्पना-प्रधान भी हो सकते हैं।

गद्य-काव्य और भावात्मक निबन्ध में अन्तर

गद्य-काव्य का समावेश साधारणतया भावात्मक निबन्धो के अन्तर्गत हो सकता है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट लक्षित होगा कि ऐसा करना उचित नही। परस्पर समता की अपेक्षा दोनों में विषमता अधिक है। बाबू गुलाबराय जी ने इस अन्तर पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्य-काव्य में कुछ वैयक्तिकता और एकतथ्यता अधिक होती है। गद्य-काव्य मे एक ही केन्द्रीय भावना का प्राधान्य होने के कारण वह निबन्ध की अपेक्षा आकार में छोटा होता है और उसमें अन्विति भी कुछ अधिक होती है। निबन्धकार विचार-शृंखला के इधर-उधर भटक भी सकता है किन्तु गद्य-काव्य में विचारो का आश्रय लेकर इधर-उधर परिभ्रमण सम्भव नही है।

जीवनी

जीवनी का विशिष्ट अर्थ

साहित्य के सब रूपो में किसी-न-किसी रूप मे मानव जीवन का उल्लेख रहता है। जीवन के विविध पक्षो का चित्रण साहित्यकार अपनी रचनाओ में करने का यत्न करता है, अत. सामान्यत: सारा ही साहित्य जीवनी है। यहाँ इस सामान्य अर्थ का ग्रहण नही किया जा रहा है। यहाँ जीवनी शब्द व्यक्तिविशेष की जीवनी से सम्बन्ध रखता है। इसके लिए सामान्य मानव-समाज में से किसी विशिष्ट व्यक्ति को चुन लिया जाता है और अधिक गहराई तथा वास्तविकता से उसके जीवन की घटनाओ वा परिस्थितियो का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के परिणाम-स्वरूप जब कोई लेखक अपनी प्रतिक्रियाओं को इतिहास रूप मे वर्णित करता है तब एक विशेष प्रकार के साहित्य का निर्माण होता है। अपने विशिष्ट अर्थ में 'जीवनी' शब्द इसी साहित्यिक रूप का परिचायक है। इतिहास की अपेक्षा इसमें अधिक वैयक्तिकता होती है और साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा इसमें अधिक वास्तविकता रहती है। वैयक्तिकता और वास्तविकता के विलक्षण योग से ही इस रूप का निर्माण होता है।

जीवनी की परिभाषा

जब लेखक जीवन की कुछ वास्तविक घटनाओ के आधार पर किसी श्रद्धेय व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओ का काव्यरूप में प्रकथन करता है तब वह साहित्यिक रूप 'जीवनी' कहलाता है।

जीवनी के तत्त्व

साहित्य के इस रूप में साहित्य के प्राय· सभी तत्त्व विद्यमान रहते है। तत्त्वों की दृष्टि से यह प्रकथन साहित्य के अधिक समीप है। उप-

न्यास और कहानी के सभी तत्त्व इस रूप में भी रह सकते हैं। हाँ, उनके स्वरूप में विशेष अन्तर अवश्य परिलक्षित होता है। 'जीवनी' मे निम्न-लिखित तत्त्व मुख्यता प्राप्त कर लेते हैं—

१. घटना, २. चरित्र-चित्रण, ३. देशकाल, ४. उद्देश्य और ५. शैली।

घटना

उपन्यास और कहानी रूप की भाँति 'जीवनी' मे भी घटनाएँ होती हैं। घटनाओ के आधार पर ही इस रूप का ढाँचा निर्मित किया जा सकता है। उपन्यास आदि प्रकथनात्मक साहित्य की घटनाएँ प्राय: कल्पित होती हैं, उनमे वास्तविकता का अश अत्यन्त अल्प मात्रा मे रहता है। जीवनी की घटनाएँ काल्पनिक न होकर वास्तविक होती हैं। जीवनी-लेखक इतिहासकार की भाँति अपने चरित्रनायक के विषय में अन्वेषण तथा अनुसन्धान की प्रक्रिया को अपनाता है और फलस्वरूप जो घटना-तथ्य उसे उपलब्ध होते हैं उन्ही को इस प्रकार सजोता है कि काव्य का रूप उद्भावित हो उठता है। वह छोटी-से-छोटी और बडी-से-बड़ी घटना का पर्यालोचन करता है और जिस घटना में अपने चरित्र-नायक का स्वत्व आभासित होता है उसे अपनी कल्पना मे स्थान देता है। कल्पना-सस्पर्श से जब वह घटना लिपिबद्ध हो जाती है तब वह इतिहास के क्षेत्र से निकलकर साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाती है। जीवनी में घटनाएँ चित्रित की जाती हैं। घटनाएँ ही चित्रित होकर व्यक्ति के स्वरूप की उद्भावना करने लगती हैं। वर्ण्य व्यक्ति का सम्पूर्ण स्वत्व घटनाओं की रेखाओं में उभरने लगता है। व्यक्ति की दुर्बलता वा सबलता, तुच्छता वा महत्ता, अनुदारता वा उदारता साकार रूप में पाठक के सम्मुख आ विराजती है। इतिहासकार की भाँति जीवनी की घटनाएँ राष्ट्र वा जाति को अपना लक्ष्य नही बनाती हैं। जीवनी की घटनाओ का ध्येय व्यक्ति होता है। जो घटना इतिहासकार के लिए त्याज्य होती है वह जीवनीकार के लिए ग्राह्य एवं उपादेय हो जाती है। इतिहासकार

जिस घटना की उपेक्षा कर देता है जीवनीकार उसकी अपेक्षा रखता है। उपन्यास की घटनाएँ वास्तविकता की सीमा का स्पर्श नही करती। उनका अंकन कल्पना की रगीन मसि से होता है। उपन्यास की घटनाएँ पाठक की कल्पना के आगे भ्रामक मायाजाल बुन देती हैं, उसे कृत्रिम एव स्वप्न लोक मे परिभ्रमण करवाती हैं। जीवनी की घटनाएँ श्रद्धा के विमल सरोवर में पाठक को निमग्न कर देती है। उनका स्पर्श कल्पना के स्थान पर भावना करती है, कृत्रिमता के स्थान पर यथार्थता करती है। जीवनी का सबसे प्रमुख तत्त्व घटना है और इस तत्त्व के विनियोग मे यथार्थता और भावना का परस्पर सम्मिश्रण अत्यन्त अपेक्षित होता है।

चरित्र-चित्रण

जीवनीकार इतिहास में तथा सामयिक समाज मे प्रसिद्ध व्यक्ति को अपनी रचना का विषय बनाता है। वही उसका प्रधान पात्र होता है। इसी मुख्य पात्र का चरित्र चित्रित करना उसका प्रमुख लक्ष्य होता है। इसलिए चरित्र-चित्रण जीवनी का विधायक तत्त्व माना जा सकता है। जीवनीकार अपने श्रद्धेय पात्र के जीवन का अध्ययन, विश्लेषण तथा सश्लेषण करता है। उसकी चारित्रिक विशेषताओं का अनुशीलन करता है। निस्सन्देह लेखक अपनी श्रद्धा भावना की प्रेरणा से ही किसी व्यक्ति के जीवन के अनुसन्धान में प्रवृत्त होता है। किसी व्यक्ति के प्रति हमारी रुचि अकारण नहीं होती। किसी विशेषता से आकृष्ट होकर ही हम उसके समीप पहुँचने का प्रयत्न करते है। जीवनीकार को भी वर्ण्य व्यक्ति की विशेषताएँ ही लिखने की प्रेरणा प्रदान करती है, अत: यह स्पष्ट है कि जीवनीकार का विशेष ध्यान वर्ण्य चरित्र की सत्प्रवृत्तियों, उदात्त भावनाओं, सराहनीय कार्यों पर ही रहता है। फिर भी जब वह अपने चरित्र-नायक का गम्भीरता, समीपता से चित्रण करने का उपक्रम करता है तब उसे उसकी दुर्बलताएँ भी दृष्टिगोचर होने लगती है। जीवनीकार इन दुर्बल-ताओं से मुँह नहीं मोड़ता। उसमें अपने वर्ण्य चरित्र के प्रति श्रद्धा होती है,

सहानुभूति होती है परन्तु अन्ध-भक्ति नही। वह उन दोषों को दोष रूप में ही ग्रहण करता है। वह उनसे अपने वर्ण्य चरित्र के व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में उपयोग लेता है। वह दोषों को दोष रूप में वर्णित करके भी श्रद्धा बनी रहने देता है। दोष तो उसके व्यक्तित्व की वाह्य रेखाओ को उभार में ला देते है। वह सजीव हो उठता है। लेखक की सहृदयता दोष को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखने की उत्तेजना देती रहती है। जीवनीकार छिद्रान्वेषण नही करता, अपनी गुणग्राहकता का ही परिचय विशेषतया देता है। चरित्र की व्याख्या या प्रदर्शन की मात्रा जीवनी में अधिक रहती है। घटनाएँ इस व्याख्या या प्रदर्शन मे उसकी विशेष सहायता करती है। इनके द्वारा वह अपने चरित्र के वाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप की अभिव्यक्ति में सफल हो जाता है। यदि चरित्र अपने जीवन मे सफल है तो घटनाएँ सफलता के मूल में विद्यमान गुणों पर पूर्ण प्रकाश डाल देती है। यदि वह असफल है तो ये उन कारणो को समक्ष ला देती हैं जिनसे वह चरित्र सफलमनोरथ नही हो सका है। एक समालोचक के कथनानुसार जीवनीकार हमें चरित्र-नायक के शरीर और आत्मा मे प्रवेश कराकर एक ऐसे सुरक्षित स्थान पर बैठा देता है जहाँ से हम निष्पक्ष दृष्टि से अधिकार के साथ व्यक्ति के कार्य-व्यापार, विचारधारा और इन दोनों के समन्वय को ध्यान से देखकर किसी निर्णय पर पहुँच सकते है। मनुष्य को समझने के लिए उसके जीवन-चरित्र का अध्ययन आवश्यक है।

देश-काल

वर्ण्य चरित्र किसी देश या किसी काल में ही अपना जीवन व्यतीत करता है। उसके जीवन की घटनाएँ देश-काल से सर्वथा सम्बद्ध रहती है। इस प्रकार देश-काल भी जीवनी का विधायक अग बन जाता है। फिर यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि अन्य प्रकथनात्मक साहित्य की भाँति जीवनी साहित्य में देश-काल का चित्रण मुख्यता प्राप्त नही करता। यह तो व्यंग्य रहता है। अन्य साहित्य में देश-काल का चित्रण

उचित अनुपात के साथ स्वतन्त्र रूप से भी किया जा सकता है परन्तु जीवनी में इसका सीधा प्रवेश कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से उचित नही समझा जाता। जीवनी में व्यक्ति ही मुख्य होता है। वही अंगी होता है। देश और काल तो अगभूत होकर रहता है और वह व्यग्य रहता है।

उद्देश्य

जीवनीकार का उद्देश्य भी उसकी रचना में प्रकारान्तर से समाविष्ट हो जाता है। वह अपने वर्ण्य चरित्र का जब गुण-गान करता है, उसकी कुछ उल्लेखनीय विशेषताओं पर प्रकाश डालता है, इन्ही विशेषताओ के कारण उसके प्रति अपनी श्रद्धा-भावना का प्रकाशन करता है तब प्रकारान्तर से जीवन सम्बन्धी विचारों, मान्यताओं, विश्वासो एव नैतिक धारणाओ का सकेत हो ही जाता है। उद्देश्य तत्त्व से इन्ही धारणाओ को ग्रहण किया जाता है। जीवन-सत्य के प्रकाशन के बिना यह जीवनी-साहित्य उच्च कोटि के साहित्य मे परिगणित नही हो सकता। अतएव जीवनीकार की रचना में जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण का अनुशीलन उचित ही मानना चाहिए।

शैली

जीवनी में शैली सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ स्वीकार की जाती हैं। जीवनीकार को उनका ध्यान रखना पडता है। सबसे पहला गुण अन्विति है। उसे वर्ण्य चरित्र के जीवन की घटनाओ को पूरे व्योरे के साथ रखते समय इस बात का ध्यान रखना पडता है कि उनमें विविधता के साथ एकता भी विद्यमान रहे। ये बिखरी प्रतीत न हो। इस गुण को उत्पन्न करने के लिए अनावश्यक बात का निवारण और प्रत्येक आवश्यक बात का समावेश करना पड़ता है।

जीवनी में शैली सम्बन्धी दूसरी विशेषता निरपेक्षता की है। लेखक जब श्रद्धावश किसी व्यक्ति के जीवन के अनुशीलन में प्रवृत्त होता है तब इस बात की सम्भावना रहती है कि कही वह सापेक्ष दृष्टिकोण से चरित्र-

नायक की घटनाओं का विश्लेषण न कर दे। कला की दृष्टि से यह दोष होगा। श्रद्धा रखने पर उसे अन्ध-भक्त नही होना चाहिए। लेखक को अपनी स्वतन्त्रता नही खोनी चाहिए। कभी-कभी आदर एवं पूज्य भाव के कारण लेखक का विश्लेषण निष्पक्ष न होकर अतिरंजित हो जाता है। कभी-कभी अपनी तुलनात्मक प्रतिभा के कारण वह अपने चरितनायक को आवश्यकता से अधिक ऊँचा उठाकर दूसरे का अपमान भी कर देता है। जीवनीकार को इस सम्बन्ध में सदा सतर्क रहना चाहिए और अपने नायक का चरित्र यथातथ्य रूप में निष्कपट भाव से पाठको के सम्मुख रख देना चाहिए।

तीसरी विशेषता सन्तुलन की मानी जाती है। जीवनीकार को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग उचित अनुपात में ही करना चाहिए। उसकी अपनी धारणा का आधार पर्याप्त सत्य होना चाहिए। यदि उसकी धारणा सत्य पर आधारित न होगी तो असत्य के समर्थन से जीवनी-साहित्य के प्रणयन का ही कोई लाभ न होगा। समाज पर उसका समुचित प्रभाव नही पडेगा। जीवन-चरित्र वही सुन्दर और स्थायी होगा जो सत्य की कसौटी पर खरा उतरेगा।

चौथी विशेषता सहृदयता की है। जीवनी के प्रत्येक शब्द से, वाक्य से लेखक की सहृदयता पर प्रकाश पडना चाहिए। उसे यह अधिकार है कि वह अपने वर्ण्य चरित्र के दोषो पर भी दृष्टिपात करे। दोषो का उल्लेख करते हुए उसे सहृदयता का त्याग नही करना चाहिए। सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से ही दोषो का प्रदर्शन होना अपेक्षित है।

जीवनी के प्रकार

जीवनी छोटी भी हो सकती है—निबन्ध के आकार की, और बडी भी—उपन्यास के आकार की। जीवनी-साहित्य को वर्ण्य चरित्र के क्षेत्र के आधार पर निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. धार्मिक महापुरुषो की जीवनी, २. राजनीतिक महापुरुषों की

जीवनी, ३. ऐतिहासिक वीर पुरुषो की जीवनी, ४. विदेशी पुरुषो की जीवनी, ५ साहित्यिक पुरुषो की जीवनी, ६. वैज्ञानिको की जीवनी।

जीवनी के लिए धार्मिक क्षेत्र से महापुरुपो को लिया जा सकता है। सत्यदेव विद्यालकार द्वारा 'स्वामी श्रद्धानन्द जी की जीवनी' इसका उदाहरण प्रस्तुत करती है। राजनीतिक क्षेत्र मे व्यक्तियो के चरित्र को लेकर भी जीवनियाँ लिखी जाती है। उदाहरण के लिए श्रीमन्नारायण अग्रवाल का 'सेगाँव का सन्त', घनश्यामदास बिडला का 'बापू', सत्यदेव विद्यालंकार का 'हमारे राष्ट्रपति' इसी प्रकार की जीवनियाँ है। ऐतिहासिक वीर पुरुषो, राजाश्रो की जीवनियाँ भी लिखी जा सकती हे। गौरीशकर चैटर्जी का 'हर्षवर्द्धन', श्री रूपनारायण पाण्डेय का 'सम्राट् अशोक' इसी प्रकार की जीवनियाँ है। विदेशी पुरुषो की जीवनियो मे बनारसीदास चतुर्वेदी की 'भारत-भक्त एण्डरूज्' नामक जीवनी उल्लेखनीय है।साहित्यिक रचनाकारो की जीवनियाँ भी लिखी जाती है। इस प्रकार की जीवनियों मे व्रजरत्नदास द्वारा लिखित भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त डाक्टर रामविलास शर्मा की 'निराला' की जीवनी उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हे। इसी प्रकार वैज्ञानिकों की भी कई जीवनियाँ प्रस्तुत है।

शैली की दृष्टि से जीवनी-साहित्य अनेक रूप धारण कर रहा हे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये रूप अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अभी इन रूपो का हिन्दी में पूर्ण विकास न होने के कारण इन्हें जीवनी-साहित्य का अग मानकर ही यहाँ विवेचन किया जा रहा है। जीवनी-साहित्य के नये विकसित होने वाले साहित्यिक रूप निम्नलिखित हैं—

१. आत्मकथा, २. सस्मरण, ३. दैनदिनी (डायरी), ४. साक्षात्-वार्ता (इण्टरव्यू)। नीचे हम क्रम से इन सबका परिचय देते है।

आत्मकथा

जीवनीकार ऐतिहासिक शैली में अन्य व्यक्ति का चरित्र पाठको के सम्मुख प्रस्तुत करता है। जब वह किसी अन्य व्यक्ति का जीवन-चरित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत नही करता है प्रत्युत अपनी ही जीवनी प्रस्तुत करता है तब वह जीवनी का रूप 'आत्मकथा' कहलाता है। इस प्रकार की जीवनियो का लेखक स्वय चरित्र-नायक हो जाता है।

अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में हम जो कुछ जान पाते है उसका अधिकाश भाग अनुमान के आधार पर होता है। उस व्यक्ति के जीवन में घटनाओ के आधार पर हम उसके चरित्र का अनुसन्धान करने का प्रयत्न करते है। हो सकता है कि हमारे अनुमान मे कुछ न्यूनता रह जाए और हम अपने वर्ण्य चरित्र का सर्वाशतः परिचय प्राप्त न कर सकें। अपने सम्बन्ध में हमें अनुमान की आवश्यकता नही। प्रत्येक को अपना आपा प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष-दर्शन हो जाने पर अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नही रहती। अतएव जब कोई लेखक अपने आपे पर स्वय प्रकाश डालने को प्रवृत्त होता है तब उसका यह प्रयास विश्वसनीय माना जा सकता है। सामान्य 'जीवनी' से 'आत्मकथा' में यही विशेषता रहती है कि उसमें लेखक का अपना आपा उसके अपने शब्दो द्वारा अभिव्यजित होता है।

'आत्मकथा' का लेखक सामान्य व्यक्ति नही होता। समाज में प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति ही आत्मकथा लिखने में प्रवृत्त हो सकता है। सामान्यत. मानव अपने से उच्च एव महान् व्यक्ति के प्रति ही कुतूहल अनुभव करता है। जाति में, राष्ट्र मे अथवा सम्प्रदायविशेष में जो व्यक्ति अपने उदात्त चरित्र के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है, पार्श्ववर्त्ती जन-समुदाय उसके इतिवृत्त को जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। ऐसी स्थिति में वह सम्मानित व्यक्ति अपने अनुयायिओ के सतत अनुरोध से प्रेरित होकर अपने जीवन के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई उत्सुकता को शान्त करने के लिए 'आत्मकथा' लिखता है। इसी स्थिति में उसकी आत्मकथा पढी जाती है।

जिस व्यक्ति का अपने धर्म में, समाज में, सम्प्रदाय में, जाति में, राष्ट्र में कोई विशेष स्थान नही वह व्यक्ति अपने हृदय मे आत्मकथा लिखने की प्रेरणा ही अनुभव नहीं करता। यदि हठवश वह ऐसा दुस्साहस कर ही बैठता है तो उसे पाठकों की ओर से कोई प्रोत्साहन भी नही मिलता। यह स्पष्ट है कि 'आत्मकथा' का लेखक सदा प्रतिष्ठित व्यक्ति ही होता है।

आत्मकथा लिखना सरल कार्य नही। इसके लेखक के लिए अपने चरित्र का विश्लेषण करना अत्यन्त दुष्कर एवं साहसपूर्ण कार्य है। लिखने मे प्रवृत्त होने से पूर्व उसे अपनी आत्मा को उज्ज्वल और गर्व-हीन बनाना पडता है। अपने गुणो का स्वय वर्णन करना भी उतना ही कठिन है जितना अपनी दुर्बलताओं का प्रकाशन करना। एक साधारण व्यक्ति अपनी चारित्रिक दुर्बलताओ को निस्सकोच समाज के सम्मुख न तो कह सकता है और न लिख सकता है। असाधारण व्यक्ति में इतना साहस आ जाता है कि वह अपनी कमज़ोरियों को लोगो के सामने स्वीकार करने में झिझक अनुभव नही करता। प्राय. आत्मकथा लिखने वालों के सामने तीन समस्याएँ उपस्थित होती हैं। सबसे पहले उसके सामने अपने गुणो को सविस्तार वर्णित करने की समस्या होती है। यदि वह उनको वर्णित नही करता तो वह अपनी आत्मकथा का मूल्य स्वयं घटा देता है। यदि वह उनका प्रकाशन विस्तारपूर्वक करता है तो 'आत्मविकत्था' करने का अपराधी समझा जा सकता है। दूसरी समस्या अपने दोषों के प्रकाशन की है। उसे यह भय हो सकता है कि दोषों की आत्मस्वीकृति से कही उसके श्रद्धालु जनो पर उलटी प्रतिक्रिया न हो जाए। इसी भय से वह अपने दोषों पर आवरण डाल सकता है। इस स्थिति में वह अपनी आत्मा के प्रति सत्य नहीं होता और आत्मकथा-लेखक होने का अधिकारी नहीं हो सकता। तीसरी समस्या सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियो के प्रति अपनी सम्मति के प्रकाशन की है। उसका जीवन जिन लोगो के साहचर्य में, सम्पर्क में बढता है वह उनके प्रति धारणा भी अपनी आत्मकथा में विन्यस्त करता है। हो सकता है, उसके प्रकाशन से उन व्यक्तियों के

हृदय में प्रतिकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाए। कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मकथा लिखने के लिए जीवनी की अपेक्षा अधिक सन्तुलन की आवश्यकता है। सत्यता, निरपेक्षता, चारित्रिक उच्चता, मानसिक-बौद्धिक विकास की आत्मकथा के निर्माण में नितान्त अपेक्षा रहती है। जीवनी लिखने वाले को जैसे दूसरे के दोष लिखने में सतर्क रहना पडता है ठीक उसी प्रकार आत्मकथा लिखने वाले को अपने गुण-कथन में सचेत रहना पड़ता है। आत्मकथा के लेखक को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि वह आवश्यक घटनाओ का विस्तार न करे। केवल उन ही घटनाओ का उल्लेख करे जिनसे उसके व्यक्तित्व के विश्लेषण मे सहायता मिले तथा पाठको के सम्मुख मानव-जीवन के यथार्थ सत्य को उद्घाटित करने में उनकी उपयोगिता हो।

आत्मकथा के तत्त्व

तत्त्वों की दृष्टि से जीवनी और आत्मकथा में विशेष अन्तर नहीं। घटना, चरित्रचित्रण, देशकाल और उद्देश्य ये तत्त्व समान ही होते हैं। शैली में भिन्नता होती है। उत्तमपुरुष शैली में जीवनी का प्रकथन होता है।

आत्मकथा के प्रकार

प्रकथन की दृष्टि से आत्मकथा के दो रूप मिलते हैं—१. सम्बद्ध रूप में, २. स्फुट निबन्धों के रूप मे। महात्मा गान्धी की आत्मकथा सम्बद्ध रूप में लिखी गई है। डा० श्यामसुन्दर दास की आत्मकहानी भी इसी कोटि की है। स्फुट निबन्धों के रूप में सियारामशरण गुप्त की 'बाल्यस्मृति' और 'झूठ-सच' तथा गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' आत्मकथा का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

आत्मकथा साहित्य में निम्नलिखित रचनाएें विशेष उल्लेखनीय हैं:—

महात्मा गांधी द्वारा लिखित आत्मकथा, स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक', भाई परमानन्द की 'आपबीती', प्रधान

मन्त्री जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी', राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद की 'आत्मकथा'।

संस्मरण

'जीवनी' का दूसरा रूप 'सस्मरण' कहलाता है। इसका निकटतम सम्बन्ध आत्मकथा के साथ होता है। जिस प्रकार 'आत्मकथा' में लेखक स्वय अपने जीवन-वृत्तान्त को लिखता है उसी प्रकार 'सस्मरण' भी लेखक की अपनी ही जीवनी के उल्लेखनीय क्षणो का लेखा होता है। आत्मकथा मे जीवनी का आद्योपान्त सुसम्बद्ध विवरण प्रस्तुत किया जाता है परन्तु 'सस्मरण' में सम्पूर्ण जीवन के कुछ विशिष्ट अशो का प्रकाशन किया जाता है। 'सस्मरण' में केवल उन्ही घटनाओ का उल्लेख रहता है जिनसे लेखक के जीवन में घटित होने वाले परिवर्त्तनो का सकेत मिलता है और जो अन्य जनों के कुतूहल को शान्त करने मे सहायक हो सकती है।

आत्मकथा की अपेक्षा इस रूप की रचना का कार्य अधिक सुगम होता है। 'सस्मरण' के लेखक के सम्मुख वे तीनो समस्याएँ उपस्थित नही होती जो आत्मकथा-लेखन के कार्य को कठिन बना देती है। आत्मकथा का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से अधिक रहता है, बाह्य जगत् से अपेक्षाकृत कम। उसमे ऐसे वृत्त अधिक होते है जिनसे आत्मकथा के लेखक का अन्तर्जगत् अपना उज्ज्वल रूप प्रदर्शित करने लगता है। संस्मरणो में ऐसे स्थल भी पर्याप्त मात्रा मे आ सकते है जिनका सम्बन्ध बाह्य जगत् से अधिक रहता है। यही कारण है कि आत्मकथा में देश-काल कुछ व्यग्य रहता है परन्तु संस्मरणो में कई स्थलों पर बाह्य जगत् का, देश-काल का विवरण अधिक विस्तार से उपस्थित करना अनिवार्य हो जाता है। यात्रा सम्बन्धी सस्मरण इस बात का प्रमाण कहे जा सकते है।

संस्मरण सामान्यत: प्रसिद्ध व्यक्ति ही लिख सकता है। अपने कार्य-क्षेत्र में सामान्य प्रसिद्धि प्राप्त करके लेखक अपने जीवन के कुछ खण्ड, जिनमे अन्य जनो की सहज रुचि हो सकती है, सस्मरण के रूप में

प्रस्तुत कर सकता है। इस स्थिति में वह लेखक आकर्षण का कारण नही होता अपितु उसके संस्मरण में वर्णित वृत्त में आकर्षण रहता है।

तत्त्वों की दृष्टि से यह रूप जीवनी-साहित्य के अनुरूप होता है और शैली की दृष्टि से यह आत्मकथा के समीप होता है, अतः अभी इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की सम्भावना कम है। इसी कारण इसके तत्त्वो तथा प्रकारों का विश्लेषण पृथक् रूप से नहीं किया जा रहा है। हाँ, कुछ सस्मरण-लेखको का यहाँ उल्लेख कर देना अप्रासागिक न होगा। संस्मरण लिखने वालो में बनारसीदास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवपूजन-सहाय तथा रामनाथ 'सुमन' का नाम परिगणित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यात्रा सम्बन्धी सस्मरण-लेखकों में राहुल सांकृत्यायन, सत्यदेव परिव्राजक, भदन्त आनन्द कौसल्यायन विशेष उल्लेखनीय है। मुन्शी महेशप्रसाद की 'मेरी ईरान यात्रा', सत्यदेव परिव्राजक की 'अमरीका भ्रमण', भदन्त आनन्द कौसल्यायन की 'जो न भूल सका' आदि पुस्तकें सस्मरणो के उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

दैनंदिनी (डायरी)

'जीवनी-साहित्य' का एक रूप 'दैनंदिनी' (डायरी) भी विकासोन्मुख है। यह आत्मकथा का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। आत्म-कथा के सदृश डायरी का लेखक भी सर्वविदित, सर्वप्रिय, प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए। डायरी का लेखक दिन-प्रति-दिन होने वाली घटनाओं का तथा उनसे उत्पन्न होने वाली मानसिक प्रतिक्रियाओं का संक्षिप्त विवरण लिखता जाता है। यह आत्मकथा की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती है, इसमें पर्याप्त सत्यता रहती है। जिस समय घटना घटित हो रही होती है उस समय जो मन की स्थिति होती है उसका चित्रण यदि समकाल ही हो जाए तो उसकी वास्तविकता के प्रति संदेह का अवसर नही रहता।

आत्मकथा की भाँति डायरी मे क्रमबद्ध, सुगठित, सुविस्तृत जीवन-

वृत्त नही रहता। इसमें अपेक्षाकृत अधिक संक्षिप्तता रहती है। इसमें असम्बद्धता भी रह सकती है। दिन-प्रति-दिन जीवन जिस क्रम में, जिस रूप में व्यतीत होता चलता है उसी क्रम में और उसी रूप में वह डायरी के रूप में लिपिबद्ध होता चलता है। डायरी-लेखक को यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसमें अनावश्यक बातो का व्यर्थ समावेश न हो और आवश्यक बातो की उपेक्षा न हो। डायरी-लेखक को अपने जीवन के मर्म को अनावृत करने का यत्न करना चाहिए, तभी वह डायरी दूसरे लोगो की रुचि का पात्र बन सकती है।

डायरी आत्मकथा का ही एक रूप है। तत्त्वों की दृष्टि से दोनो में पर्याप्त समता है। शैली की भिन्नता के कारण इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की सम्भावना की जा सकता है। अभी यह रूप विकासोन्मुख है। उदाहरण के लिए घनश्यामदास बिड़ला द्वारा लिखित 'डायरी के कुछ पन्ने' नामक पुस्तक प्रस्तुत की जा सकती है।

साक्षात्-वार्त्ता (इण्टरव्यू)

'जीवनी-साहित्य' का नवीनतम रूप साक्षात्-वार्त्ता (इण्टरव्यू) है। जिस प्रकार 'संस्मरण' और 'डायरी' आत्मकथा के रूप हैं उसी प्रकार 'जीवनी' रूप के साथ 'इण्टरव्यू' का सीधा सम्बन्ध है। 'जीवनी' में लेखक द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। 'जीवनी' ऐतिहासिक शैली में लिखी जाती है। 'इण्टरव्यू' में भी अन्य व्यक्ति के चरित्र का विश्लेषण किया जाता है परन्तु शैली की भिन्नता इसे नया रूप प्रदान कर देती है। इसकी शैली विभिन्न शैलियों का सम्मिश्रण-सा हो जाता है। आत्मकथा के एक रूप 'सस्मरण' की शैली भी इसमें रहती है। नाटकीय शैली का भी आभास इसमें विद्यमान रहता है। इसमें लेखक जिस व्यक्ति का चरित्र चित्रित करना चाहता है, उससे स्वयं मिलता है। उसका साक्षात् दर्शन करता है और परस्पर वार्ता-विनिमय के द्वारा उसके चरित्र की विशेषताओं के अनुसन्धान का प्रयत्न

करता है। संवाद रूप का समावेश हो जाने से इस शैली में नाटकीयता उभरने लगती है। नाटक में जब दो पात्र परस्पर वार्त्तालाप करते हैं तब वहाँ दोनों पात्रों की उक्तियों का समान रूप से महत्त्व रहता है। दोनों पात्र अपने-अपने व्यक्तित्व एवं योग्यता आदि के अनुरूप वार्त्ता करते हैं और अपने अपने चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त वे दोनों पात्र अपनी बातचीत से सुसम्बद्ध घटना-प्रसार को गति देने में भी सहायक होते हैं। 'इण्टरव्यू' की वार्त्ता में एक पात्र की बात का ही महत्त्व होता है। लेखक भी यद्यपि वार्त्तालाप में भाग लेता प्रतीत होता है तथापि उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं होता। उसका उपयोग केवल वर्ण्य चरित्र के विश्लेषण में ही होता है। लेखक जब कोई प्रश्न वर्ण्य चरित्र के सम्मुख प्रस्तुत करता है तब उसके उत्तर में जो बात आती है उसी का महत्त्व होता है। उसी की अभिव्यक्ति के लिए शब्द-योजना की जाती है। नाटक के पात्रों की भाँति लेखक और वर्ण्य चरित्र का वार्त्तालाप किसी सुसम्बद्ध घटनामाला के विकास-क्रम को गति प्रदान करने वाला नहीं होता। उसमें एक प्रकार की स्थिरता होती है। एक निश्चित प्रश्न का एक निश्चित उत्तर होने से यह स्थिरता उत्पन्न होती है। बीच-बीच में लेखक अपनी प्रतिक्रिया भी वर्णन करता चल सकता है। उस दशा में वह उपन्यासकार का-सा रूप धारण करने लगता है। उपन्यासकार की विश्लेषणात्मक शैली का समावेश इस प्रकार होता जाता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हरिदत्त शर्मा की डा० रामविलास शर्मा के साथ हुई वार्त्ता का चित्र नीचे उद्धृत किया जाता है—

"हम आपके साथ ७० फीसदी तो आ गए हैं, बस ३० फीसदी शेष है।" एक साथी पत्रकार ने कुछ मुस्कराते हुए कहा।

"७० फीसदी तो क्या, यदि हमारे साथ १ फीसदी भी आए तो वह हमारे साथ है। शान्ति और जनतंत्र में विश्वास करने वाला हमारा साथी है।" इस क्षणिक वार्त्ता के पहिले दौर में कुछ मुस्कराते और दूसरे दौर में कुछ गम्भीरता धारण किये एक अधिकृत वाणी निकली।

मैंने ग़ौर से उस वाणी के प्रवाह-स्रोत को देखा—उन्नत ललाट, भरा चेहरा, सफ़ेद गेहुआँ रंग, चमकती आँखें जो प्रतिभा की प्रतीक, हृष्ट-पुष्ट शरीर ! वेष-भूषा सरल—एक कमीज़ आधी बाहों की और सफ़ेद पतलून। महसूस हुआ बुद्धि के वैभव से सम्पन्न है और उस पर हल्की हँसी जैसे सहृदयता की छाप ! साथ ही मुस्कराहट से आने वाला गाम्भीर्य इस बात की सूचना देता था—व्यक्ति गहरा भी है।

यह उस दो मिनट की प्रतिक्रिया थी जो पहले साक्षात्कार से पड़ी।

इस वार्त्ता के विवरण में उपन्यास की शैली का स्पष्ट आभास मिल रहा है। लेखक द्वारा वर्णित वर्ण्य चरित्र का रेखा-चित्र उपन्यास के रेखा-चित्र से किस बात में कम कहा जा सकता है ?

'साक्षात्-वार्त्ता' में आलोचना का रूप भी मिला रहता है। लेखक की विश्लेषणात्मक उक्तियों में आलोचक की दृष्टि उचकती प्रतीत होती है। आलोचना में कृति की आलोचना होती है, साक्षात्-वार्त्ता में कृतिकार की आलोचना रहती है।

इस प्रकार साहित्य का यह नवीनतम रूप अन्यान्य रूपों की शैलियों का अपने स्वरूप में आत्मसात् करता प्रतीत होता है। जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, नाटक, उपन्यास, आलोचना—सभी साहित्यिक रूपों की विशेषताएँ लेकर यह नवीन रूप विकसित हो रहा है। उदाहरण के लिए पद्मसिंह शर्मा कमलेश का 'मैं उनसे मिला' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा सकता है।

साक्षात्-वार्त्ता का महत्त्व

वैज्ञानिक युग की जिन परिस्थितियों ने उपन्यास के साथ कहानी का और रेखाचित्र का तथा नाटक के साथ एकाङ्की का विकास किया है उन्हीं परिस्थितियों ने जीवनी-साहित्य के इस रूप के विकास में पूर्ण योग प्रदान किया है। आज संसार विज्ञान की कृपा से एक है। उसमें देश की दूरी नहीं है। हम केवल अपने ही दश के कृतिकारों या अन्यान्य महापुरुषों से परिचित नहीं होना चाहते, हम तो संसार के प्रत्येक महापुरुष के दर्शन करना चाहते हैं। हमारी इच्छा विस्तृत जीवनी-साहित्य के द्वारा पूर्ण नहीं हो सकती।

जीवन की कार्यसंकुलता हमें इस बात के लिए विवश करती है कि हम थोड़े समय में बहुत या आवश्यक बातें जान जाएँ। सबसे परिचय प्राप्त करने की उत्सुकता को शान्त करने में साक्षात्-वार्त्ता का रूप बडा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। कुछ लेखक समय-समय पर देश में पधारने वाले विदेशी महापुरुषों से मिल सकते हैं और उनके साथ हुई बातचीत को इस रूप में विन्यस्त कर सकते हैं कि उसको पढकर मनोरजन के साथ उनके जीवन के उपयोगी अंशों से भी परिचित हो जाएँ। समय की आवश्यकता से इस रूप के विकास में पूर्ण सहायता मिल सकती है, अतः 'साक्षात्-वार्त्ता' का भविष्य उज्ज्वल है।

पत्र

स्वतन्त्र अस्तित्व और उपयोगिता

प्रकथनात्मक साहित्य में पत्र-शैली के सम्बन्ध में चर्चा की जा चुकी है। उपन्यासकार या कहानीकार अपनी कहानी पत्रों के द्वारा कह सकता है। इस रूप में वह कहानी कहने का साधन होता है। पत्रों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। वह भी एक साहित्यिक रूप है क्योंकि इसके द्वारा भी आत्माभिव्यक्ति सम्यक् रीति से सम्पन्न हो सकती है। लिखने वाले का व्यक्तित्व सुचारु रूप से पाठक के समक्ष उपस्थित करने मे पत्र का अपना विशेष महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है।

अन्य साहित्यिक रूपो की भाँति पत्र-साहित्य से भी व्यक्तिगत विशेषताओं के प्रकाशन के अतिरिक्त युग भावनाएँ, राजनीतिक, धार्मिक, समाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ भी अभिव्यक्त हो सकती हैं। निस्सन्देह पत्र एक व्यक्ति द्वारा एक विशिष्ट व्यक्ति के लिए ही लिखे जाते हैं परन्तु वे इस रूप में लिखे जा सकते हैं कि उनसे जन-साधारण भी अपना मनोरंजन कर सकें। जहाँ तक व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, पत्रों मे व्यक्तित्व की अभिव्यंजना अन्य सब साहित्यिक रूपो से अधिक मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त पत्र-लेखक जिस व्यक्ति के लिए पत्र लिखता है उस व्यक्ति का भी ध्यान रखता है। सामान्यतः साहित्यकार अपने भावों के प्रकाशन के लिए प्रवृत्त होता है। उस समय उसके सम्मुख भाव-ग्राहक उपस्थित नही रहता है। पत्र-लेखक की स्थिति इससे कुछ भिन्न होती है। लेखनकाल में भाव-ग्राहक उसकी आँखों से ओझल नही होता है। वह लिखता ही उसके लिए है। साहित्य के अन्य रूपों मे लेखक अपने भावों के प्रकाशन के उद्देश्य से प्रवृत्त होता है परन्तु वह लेख जनसाधारण की रुचि का विषय बन जाता है। पत्र-लेखक अपने भावो को एक व्यक्ति-

विशेष के उद्देश्य से लिपिबद्ध करता है परन्तु जनसाधारण भी उसे अपनी आत्म-सन्तुष्टि का साधन बना सकता है। इस प्रकार पत्र-साहित्य द्विमुखी होता है, उसमें भावों और भाव-ग्राहक दोनों की ओर दृष्टि रहती है।

परिभाषा

'पत्र वह लेख है जो किसी दूर रहने वाले व्यक्तिविशेष को प्रेषित किया जाता है और जिसमें उस दूरस्थ व्यक्ति के प्रति अपनी भावनाओं का प्रकाशन रहता है।'

अंग्रेज़ी में इस रूप को 'Epistle' कहते हैं। अंग्रेज़ी कोष में भी इसकी यही परिभाषा अंकित है—'A writing, directed or sent, communicating intelligence to a distant person' अर्थात् एक दूरस्थ व्यक्ति को निजी वृत्तान्त जब लिखकर प्रेषित किया जाता है तब वह 'पत्र' कहलाता है।

पत्र के तत्त्व

अन्य सामान्य तत्त्वों के अतिरिक्त पत्र के दो प्रमुख तत्त्व होते हैं—आत्मीयता और स्वाभाविकता।

आत्मीयता

पत्र में लेखक की आत्मीयता प्रकट होनी चाहिए। लेखक केवल वर्ण्य विषय की दृष्टि से जब कुछ लिखता है तब उसका अपनापन दबा पड़ा रहता है। वह सीधे रूप में सम्मुख नहीं आता। केवल विषय-विवेचन हो जाने से उस लेख में आत्मीयता की मात्रा कम होती जाती है और उसके स्थान पर परता आने लगती है। पत्र-साहित्य में आत्मीयता, अर्थात् सापेक्ष दृष्टि की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। आत्मीयता का सम्बन्ध लेखक के अपने व्यक्तित्व के साथ भी है और दूरस्थ व्यक्ति के साथ भी। वह दूरस्थ व्यक्ति भी आत्मीय होना चाहिए अर्थात् उसके साथ लेखक का किसी-न-किसी प्रकार का मानसिक सम्बन्ध रहना चाहिए।

स्वाभाविकता

लेखक की आत्मीयता सरल एवं सहज रीति से अभिव्यक्त होनी चाहिए। पत्र की भाषा इस रूप में निर्मित होनी चाहिए कि वह 'पत्र' ही समझा जाए। उसके शब्दों में इतनी शक्ति रहनी चाहिए कि वह भाव-ग्राहक को वशीभूत कर सके। कृत्रिमता के रहते पत्र 'भाव-ग्राहक' को अपने वश में नही कर सकता, उस पर आवश्यक प्रभाव नहीं डाल सकता।

इन दो प्रमुख तत्त्वों के अतिरिक्त साहित्य के अन्य रूपों के प्रमुख तत्त्व भी पत्र-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। पत्रो में भी वर्ण्य विषय रहता है, तत्सम्बन्धी विचार रहते है, लेखक की वर्ण्य विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया भी उनमें रहती है, लेखक का आत्मचरित्र उनमें अंकित रहता है। आत्मचरित्र के माध्यम से देश-काल भी पत्रों में प्रतिफलित होने लगता है। उद्देश्य की दृष्टि से पत्र-साहित्य अन्य रूपों से कुछ भिन्न रहता है। जब पत्रकार निर्दिष्ट व्यक्ति को केवल किसी विशिष्ट विषय का ज्ञान मात्र देना चाहता है तब उसका उद्देश्य अन्य साहित्यिकों के सदृश होता है। उसमें आत्मीयता की मात्रा कम रहने से 'निबन्ध' रूप के समीप हो जाता है किन्तु जब वह केवल अपना वृत्तान्त ही प्रेषित करना चाहता तब उसमें मानसिक प्रतिक्रियाओं की बहुलता से आत्मीयता बढ जाती है। इस स्थिति में लेखक का उद्देश्य सामान्य मानव जीवन की व्याख्या न होकर आत्म-जीवन की व्याख्या हो जाती है। शैली-तत्त्व भी पत्र में मिल जाता है। पत्र की भाषा इतनी सशक्त होनी चाहिए कि वह दूर बैठे हुए पाठक को प्रभावित कर सके। जैसे सामने बैठे हुए अन्य व्यक्ति को हम अपनी बात-चीत से प्रभावित कर लेते हैं ठीक उसी प्रकार हमारे पत्र के शब्द भी पाठक के हृदय का स्पर्श करने वाले होने चाहिएँ। बात को थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक स्पष्टता देना पत्र की सबसे बड़ी माँग है।

पत्रों के प्रकार

पत्र प्रायः दो प्रकार के होते हैं :—१. वैयक्तिक, २. व्यावसायिक।

वैयक्तिक—जिस पत्र में लेखक के हृदय का स्पन्दन अधिक और विषय-प्रतिपादन या समाचार-कथन की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है वह पत्र वैयक्तिक कहलाता है। उदाहरण के लिए श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर के 'पत्नी के पत्र' प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इन पत्रों मे यद्यपि नारी-जीवन की समस्याओं का विवेचन है तथापि उनमें आत्मीयता की मात्रा पर्याप्त है, अतः इन पत्रों को वैयक्तिक कहा जा सकता है।

व्यावसायिक—जिस पत्र में लेखक के हृदय का स्पन्दन कम और विषय-प्रतिपादन या समाचार-कथन एवं व्यवहार की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक रहती है वह पत्र व्यावसायिक कहलाता है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के पत्र इसी प्रकार के हैं। उनमें हृदय के स्पन्दनों की अपेक्षा व्यवहार की स्पष्टता अधिक है।

———

रिपोर्ताज

'रिपोर्ताज' शब्द का परिचय

'रिपोर्ताज' शब्द फ्रासीसी भाषा का है। अंग्रेज़ी का रिपोर्ट (Report) शब्द इसी अर्थ का प्रकाशन करता है। इसी अर्थ में प्रचलित हिन्दी शब्द 'रपट' माना जा सकता है। आज यह शब्द साहित्य की एक विधा के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है। इसी को 'वृत्त-निर्देशन' भी कहा जा सकता है। इस साहित्य-विधा का आविर्भाव विशेष रूप से द्वितीय महासमर में समाचार-पत्रों के माध्यम से हुआ।

परिभाषा

"जब किसी वृत्त या घटना का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि उस वृत्त का संक्षिप्त रूप पाठक के समक्ष उपस्थित हो जाता है और पाठक के हृदय को प्रभावित कर देता है तब वह रूप रिपोर्ताज या 'वृत्तनिर्देशन' कहलाता है।"

व्याख्या

जब कोई घटना हो जाती है तब उसका निर्देशन यदि शब्दों द्वारा किया जाता है तो वह रिपोर्ताज का रूप धारण कर लेता है। घटना के विभिन्न अंशों का इस रूप में उल्लेख किया जाता है कि थोड़े से शब्दों में घटना के अनेक रूप प्रकाश में आने लगते हैं और पाठक को उस घटना की पूरी सूचना मिल जाती है। यह सूचना उसके अन्तस्तल में उचित स्पन्दन उत्पन्न करने में यदि सहायक हो तो उसे साहित्यिक क्षेत्र में स्वतन्त्र स्थान मिलने लगता है। सामान्य सूचना या वृत्त-निर्देशन से साहित्यिक निर्देशन में परिचय मात्र होता है परन्तु साहित्यिक निर्देशन से परिचय के पश्चात् संवेदना भी होती है। सवेदनानुभूति ही उस निर्देशन को साहित्य का रूप प्रदान कर देती है।

अन्य रूपों के साथ तुलना

रिपोर्ताज कहानी तथा निबन्ध के अधिक निकट है। जिस प्रकार कहानीकार जीवन के किसी अंगविशेष या कार्यविशेष का विवेचन करता है ठीक उसी प्रकार रिपोर्ताज-लेखक भी अपने इस साहित्य-रूप में देश में घटने वाली घटनाविशेष का चित्रण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। रिपोर्ताज में भी घटनाओं का चित्रण कहानी की भाँति सरसता के साथ किया जाता है। कहानी में केवल एक ही उद्देश्य होता है। सारी घटनाएँ या पात्र इसी एक उद्देश्य से सम्बद्ध रहते हैं परन्तु रिपोर्ताज में इस प्रकार की एकता नही रहती। हाँ, उसमें विभिन्न घटनाओं वा उद्देश्यों का समन्वय रहता है। कहानी का पटल अधिक विस्तृत नही होता। एक दो घटनाओं या पात्रों के द्वारा ही कहानीकार को अपनी बात कहनी पड़ती है, ठीक उसी प्रकार रिपोर्ताज के लेखक को भी कम समय तथा कम स्थान में अपनी भावनाओ को व्यक्त करना पड़ता है। किसी विस्तृत विवरण के संक्षेपीकरण को ही दूसरे शब्दों में रिपोर्ताज कहा जा सकता है। इसी संक्षिप्तता के कारण यह रूप निबन्ध के भी निकट माना जा सकता है। निबन्धकार को अपनी सीमित परिधि में अपने वक्तव्य को प्रतिफलित करना पड़ता है। रिपोर्ताज भी अपने कथनीयाश को सीमित विस्तार के साथ ही कह पाता है।

विधान सम्बन्धी मुख्य बातें

रिपोर्ताज के लेखक को मुख्यतः तीन बातों का ध्यान रखना पड़ता है। सबसे पहले वह वर्ण्य घटना या वस्तु का वास्तविक इतिहास जानने का यत्न करता है। इसके जान लेने के उपरान्त वह दूसरी बात यह करता है कि घटना में सम्मिलित होने वाले पात्रों के रेखा-चित्र पर दृष्टिपात करता है। तीसरी बात उसके ध्यान देने की यह होती है कि वह घटना में निहित स्वार्थों का तथा पात्रों की मानसिक गतिविधियों का गहराई से विश्लेषण करे। रिपोर्ताज-लेखक निरपेक्ष भाव से घटनाओं का वर्णन करता है।

रिपोर्ताज में आँखों-देखी घटना को आधार बनाया जाता है। लेखक समाचार-पत्र के संवाददाता की भाँति सुनी-सुनाई बात को लिपिबद्ध नही कर देता। वह तो अपनी आँखो-देखी घटना को अपनी संवेदना के रस से सक्षिप्त करके, कल्पना के हाथो पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

रिपोर्ताज रूप अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। उसका पूर्ण विकास अभी तक हिन्दी में नहीं हुआ है, अत. उसके वर्गीकरण का प्रश्न नही उठता। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिह चौहान, अमृतराय, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे आदि कुछ लेखक इस रूप के विकास में अग्रसर हो रहे हैं।

———

दृश्य साहित्य

दृश्य साहित्य वह होता है जिसे सुनने के साथ-साथ देखा भी जा सकता है, अर्थात् उसके द्वारा आनन्दानुभूति के लिए आँख और कान दोनों इन्द्रियों को माध्यम बनाया जा सकता है। दर्शक स्वय घटना को घटित होता देख सकता है और रसमग्न हो सकता है। इस प्रकार के साहित्य के रसास्वादन के लिए आस्वादनकर्त्ता का विशेष रूप से पठित अथवा सुशिक्षित होना आवश्यक नही। अभिनय होने के कारण अशिक्षित, अर्ध-शिक्षित सामान्य जन भी दृश्य साहित्य के रसास्वादन में समर्थ हो सकता है। यही कारण है कि प्राचीन काल में इसी प्रकार के साहित्य का अधिक प्रचार रहा।

दृश्य साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि इसमें काव्य-कलाकार के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कलाकारों का भी समुचित योग रहता है। स्थापत्य कला, मूर्ति कला, चित्र कला, संगीत कला तथा काव्य कला—इन सबका सामूहिक एवं सुसमन्वित रूप ही दृश्य साहित्य है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में दृश्य साहित्य के लिए 'रूपक' संज्ञा का प्रयोग होता था। इसका कारण यह है कि नट लोग अन्य व्यक्तियों का अपने ऊपर आरोप करके अभिनय करते है, अर्थात् कोई दुश्यन्त बनता है, कोई शकुन्तला आदि। रूप के आरोप के कारण ही यह साहित्य-विधा रूपक कहलाई—'तद्रूपारोपात्तु रूपकम्'।

आधुनिक काल में रूपक के स्थान पर 'नाटक' शब्द का प्रयोग होता है, जो कि प्राचीन काव्य-शास्त्र में रूपक के दस भेदो में से पहला भेद था। नाटक शब्द के मूल में नट शब्द है, जिसका कि अर्थ अभिनेता होता है। इस प्रकार सकेत रूप में नाटक शब्द का अर्थ हुआ—वह रचना जिसमें नटों के द्वारा अभिनय होता है।

नाटक-रचना की मूल प्रेरक वृत्तियाँ

नाटक के उद्भव के मूल में मानव की कतिपय सहज वृत्तियाँ कार्य करती है, विश्लेषण करने पर जिनकी संख्या चार बैठती है, यथा—आत्म-विस्तार की वृत्ति, अनुकरण की वृत्ति, आत्म-प्रकाशन की वृत्ति और जाति-रक्षा-भावना।

आत्म-विस्तार की वृत्ति—मानव की यह सहज वृत्ति है कि वह अपनी शक्ति, अधिकार, उपभोग और आनन्द की सीमा को विस्तृत करना चाहता है। वह निरन्तर अपनी ससीम स्थिति से निकलकर असीमता की ओर पग बढाना चाहता है। वह अपनी अपूर्णता का विनाश करके अपनी आनन्द-सीमा का विस्तार करना चाहता है। नाटक इस वृत्ति का एक माध्यम है। इसी माध्यम के द्वारा हम आत्म-विस्तार की वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए, हम जो नही है उसका रूप धारण करने में प्रवृत्त होते है।

अनुकरण की वृत्ति—आत्म-विस्तार की कामना हमें कृत्रिम रूप धारण करने के लिए विवश करती है। जिसका रूप हम धारण करने में प्रवृत्त होते हैं, हमें उसका अनुकरण करना पड़ता है। उसकी वेश-भूषा का, स्वभाव का, चेष्टाओं का अनुकरण किये बिना हम वह नहीं बन सकते जो हम बनना चाहते हैं। यह वृत्ति इतनी प्रबल है कि बचपन में ही इसका अंकुर फूट पड़ता है। बालक पिता की पगड़ी पहनकर, हाथ में छडी लेकर पिता बनने की नकल करता है, बूढे बाबा की खौ-खौं खाँसने की आवाज़ सुनकर वैसा ही व्यवहार करता है, आदि। नाटक इस वृत्ति को अभिव्यक्त करने का प्रमुख सभ्य और संस्कृत साधन है। दूसरे शब्दों में हम इस अनुकरण की वृत्ति को ही अभिनय कह सकते हैं। और यही अभिनय नाटक का प्राण है। अभिनेतागण जब किसी नर या नारी का रूप धारण करके तत्सम्बन्धी व्यापारो का अभिनय करते है तो वे वस्तुतः उन व्यापारों का अनुकरण ही करते है।

आत्म-प्रकाशन की वृत्ति—आत्म-विस्तार की वृत्ति के समान ही आत्म प्रकाशन की वृत्ति भी मानव की एक सहज स्वाभाविक वृत्ति है। साहित्य के अन्य रूपों की तुलना में नाटक में इसे अधिक मात्रा में अभिव्यक्त होने का अवसर मिलता है। यहाँ तक कि साहित्यकार के साथ-साथ अन्य अभिनेता, कलाकार भी इस साहित्य-विधा के माध्यम से आत्म-प्रकाशन का समुचित अवसर पा लेते हैं। क्योंकि नाटक के निर्माण में सब कलाओं से सहायता ली जाती है इसलिए सभी कलाकारों के लिए अपने-अपने व्यक्तित्व के प्रकाशन का मार्ग खुल जाता है। नाटक की शब्द-योजना, वेष-सज्जा, अंग-चालन, भाव-भंगिमा, रंगमंच-स्थापना अनेक व्यक्तियों के मानसिक और चारित्रिक वैशिष्ट्य को साकार रूप प्रदान करने में सहायक होती है।

जाति-रक्षा-भावना——नाटक का सम्बन्ध सर्वसामान्य जनों के साथ होता है। नाटक में जातीय प्रवृत्तियाँ संचरित होती हैं और दृढ स्थान प्राप्त कर लेती हैं। कुछ प्रवृत्तियाँ गुप्त रूप से समाज में निहित रहती हैं। नाटक के द्वारा वे प्रकट होने लगती हैं। दर्शक यह देखने में समर्थ हो जाता है कि उसका अपना समाज किस ओर पग बढ़ाता चल रहा है। उसे उन प्रवृत्तियों का भी ज्ञान होने लगता है जो जातीय विकास मे बाधक हो सकती हैं। समाज में प्रचलित सुप्रवृत्तियों या कुप्रवृत्तियो का नाटक द्वारा पूर्ण प्रकाशन हो जाता है और जन-समुदाय अपनी हानि से बचने का उपाय ढूंढने में सहज ही प्रवृत्त होने लगता है; अतः नाटक के साथ जाति-रक्षा का भाव भी संलग्न समझा जाता है। वस्तुतः यह भावना नाटक के महत्त्व के साथ सम्बन्ध रखती है, उसके उद्भव में मूल प्रवृत्ति का स्थान प्राप्त करती परिलक्षित नही होती। इसे यदि नाटक की मूल वृत्ति माना जाता है तो केवल इसीलिए कि यह साहित्यकार को नाटक की शब्द-योजना मे प्रवृत्त करती है। साहित्यकार जब समाज या राष्ट्र की रक्षा-भावना से संचालित होता है और वह समाज की प्रथाओं

का विश्लेषण करने में प्रवृत्त होता है तब उसके लिए अपनी सद्भावनाओ के प्रचार का सबसे सुगम साधन यही नाटक रूप होता है। इस प्रकार यह रक्षा-भावना नाटक-निर्माण मे साधक होने लगती है ।

नाटक के तत्त्व

भारतीय काव्य-शास्त्र में नाटक सम्बन्धी जितना विवेचन हुआ है यदि उसका विश्लेषण किया जाए तो नाटक के चार विधायक तत्त्व स्वीकार किये जा सकते है—१. वस्तु, २. पात्र, ३. अभिनय, ४ रस । पाश्चात्य काव्य-दर्शन में नाटक के तत्त्वों पर जो विचार हुआ है वह भारतीय विवेचन से कुछ भिन्न कहा जा सकता है। पाश्चात्य दृष्टिकोण से नाटक के विधायक तत्त्व वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, उद्देश्य तथा शैली हैं । तत्त्वो की दृष्टि से पूर्वी और पश्चिमी नाट्य-सम्बन्धी विवेचना मे विशेष अन्तर नही है । कथोपकथन, देश-काल का समावेश पूर्वी तत्त्व अभिनय में किया जा सकता है और उद्देश्य तत्त्व का समावेश रस के अन्तर्गत हो सकता है। अन्य तत्त्व दोनों विवेचनाओं मे समान हैं। हाँ, मूल भावनाओं में पर्याप्त अन्तर होने के कारण स्वरूप में पर्याप्त विभिन्नता सिद्ध की जा सकती है ।

प्राचीन काव्य-शास्त्र के अनुसार

सर्वप्रथम हम सक्षेप में भारतीय विवेचना के अनुसार नाटकीय तत्त्वों पर विचार करते हैं ।

वस्तु

नाटक के कथानक को वस्तु नाम से अभिहित किया जाता है । मूल स्रोत की दृष्टि से तो यह तीन प्रकार की होती है, यथा—१. प्रख्यात (प्रसिद्ध), २. उत्पाद्य (काल्पनिक) और मिश्र; और नाटकीय विधान की दृष्टि से दो प्रकार की, यथा—आधिकारिक और प्रासंगिक ।

आधिकारिक कथा—नाटक के प्रधान पात्र या नायक-नायिका से सम्बद्ध कथानक को आधिकारिक कहा जाता है। नाटकीय व्यापार का

फल इसी कथा के नायक को प्राप्त होता है। नाटक के आरम्भ से अन्त तक इसका विस्तार रहता है। नाटक के सब प्रसग किसी-न-किसी रूप में इसके साथ सम्बद्ध रहते हैं और इसी के विकास में सहायक होते हैं। सारे नाटकीय व्यापार पर इसी के नायक का एक प्रकार से अधिकार रहता है। इसे मुख्य या प्रधान कथा भी कहा जा सकता है।

प्रासगिक कथा——नाटक के प्रधान पात्र या नायक-नायिका को सहायता पहुँचाने वाले किसी पात्र की घटनाएँ जब अपना स्वतन्त्र विस्तार करती परिलक्षित होती हैं और अपना अस्तित्व बनाती दृष्टिगोचर होती हैं तब उन्हे प्रासगिक कथा का नाम दे दिया जाता है। नाटकीय व्यापार मे इस कथा का स्वतन्त्र महत्त्व नही होता क्योकि इसके नाम का सारा व्यापार आधिकारिक कथा के नायक के निमित्त से होता है। यह कथा आधिकारिक कथा के मध्य में प्रारम्भ होती है और प्रधान कथा के अन्त से पहले ही समाप्त हो जाती है।

यह प्रासंगिक कथा फल की दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं होती अतएव यह गौण कहलाती है। नाटकीय कथा का फल निश्चित रहता है। इस निश्चित फल की प्राप्ति के लिए सारा नाटकीय व्यापार किया जाता है। इस फल-प्राप्ति के हेतुओ की स्थिति को ध्यान में रखते हुए नाटकीय कथा का विभाजन किया जाता है। प्राचीन भारतीय काव्य-विवेचन मे इस विभाजन को अर्थप्रकृति का नाम दिया जाता है।

अर्थप्रकृति के पाँच विभाग किये जाते हैं—१. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी और ५. कार्य।

नाटकीय फल-प्राप्ति के हेतुओ को उपन्यस्त करते हुए जो नाटकीय व्यापार प्रसरित किया जाता है, उसकी अवस्थाएँ पाँच मानी जाती है— १. प्रारम्भ, २. प्रयत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति और ५ फलागम।

नाटकीय व्यापार के मुख्य प्रयोजन के घटक भिन्न-भिन्न कथानक-प्रसंगों के अन्तर्गत जो एक प्रयोजनात्मक सम्बन्ध होता है उसे सन्धि कहते

हैं। ये भी पाँच ही हैं--१. मुख, २ प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. विमर्श और ५. निर्वहण।

इस प्रकार भारतीय विवेचन में नाटकीय कथा के निर्माण की तीन विधियाँ बताई है और निर्णय के लिए तीन कसौटियाँ निर्धारित की हैं। अवस्थाओं का सम्बन्ध नाटकीय कार्य के साथ है। नाटकीय व्यापार-शृंखला की भिन्न-भिन्न स्थितियो अथवा विकास-क्रम के भिन्न-भिन्न स्तरों का इनसे ही बोध होता है। अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध वस्तु-तत्त्वो के साथ है। वस्तु के घटक तत्त्व किस स्थिति मे है इसका परिज्ञान अर्थप्रकृतियों के द्वारा होता है। सन्धियो का सम्बन्ध कथास्वरूप एवं गठन के साथ है। कथाओ के सन्धिस्थल इनके द्वारा अभिव्यंजित होते हैं। विकास-क्रम में जब परिवर्त्तन होता है तब वह किसी चमत्कारी घटना या वृत्त के कारण से ही होता है। ऐसे ही स्थल, जिनसे नाटकीय कथानक नवीन मोड या दिशान्तर प्राप्त कर लेता है, सन्धि कहलाते हैं।

पात्र

नाटक का दूसरा तत्त्व 'पात्र' होता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में पात्रो का विवेचन कथा-नायक को केन्द्र बनाकर ही किया गया है। प्राय: आचार्यों ने पात्र सम्बन्धी विवेचन इस प्रकरण मे 'विभाव' वर्णन के अन्तर्गत किया है। सामान्यत: काव्य में वर्णित भाव का जो आलम्बन होता है वह शास्त्र में नायक कहलाता है। इसी नायक को आधार बनाकर भारतीय काव्य-शास्त्र में पात्र-विवेचना हुई है। नाटक को दृष्टि में रखते हुए यदि भारतीय दृष्टि से पात्र-विवेचना की जाए तो हम यह कह सकते हैं कि नाटक में जो प्रधान पात्र होना है वह नायक कहलाता है और उसकी पत्नी या प्रेमिका नायिका तथा उसका शत्रु प्रतिनायक। अन्य सब पात्रों का सम्बन्ध इन्हीं तीनों के साथ होता है। नाटक में कुछ ऐसे पात्र होगे जिनकी अवतारणा नायक के इतिवृत्त को वर्णित करने के लिए की जाएगी और कुछ ऐसे पात्र होंगे जिनकी अपेक्षा नायिका के वृत्त को

पूर्णता प्रदान करने के लिए होगी। अन्य कुछ पात्र ऐसे होंगे जिनका सम्बन्ध प्रतिनायक के साथ होगा। प्रासंगिक कथा का नायक भी स्वतन्त्र नही होता। उसका सीधा सम्बन्ध नायक के साथ ही होता है। प्रतिनायक की अवतारणा भी नायक के निमित्त से ही होती है। अतः चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यदि किसी पात्र का महत्त्व हो सकता है तो वह नायक या नायिका ही है। यही कारण है कि भारतीय विवेचना में नायक और नायिका की प्रकृति का विस्तृत विश्लेषण किया गया है और इस विश्लेषण के आधार पर उसका वर्गीकरण किया गया है।

नायक—भारतीय विवेचना के अनुसार नाटक का नायक स्थिर प्रकृति वाला होगा। उसकी प्रकृति का उद्घाटन ही नाटकीय व्यापार द्वारा किया जाता है, उसमें विकास या परिवर्तन प्रदर्शित नही किया जाता। भारतीय पात्र-योजना में शील-विकास का कोई अवकाश नही है। जिन गुणों के साथ नायक की अवतारणा होती है उन्ही गुणो को वह अन्त तक धारण किये रहता है। विभिन्न परिस्थितियाँ उसकी चारित्रिक विशेषताओ पर प्रकाश अवश्य डालती है परन्तु उस पर किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न नही करती, अतएव वह स्थिर एवं विकासरहित पात्र सिद्ध होता है। नाटकीय कथा का नायक आदर्श व्यक्ति होना चाहिए। उसे उच्च गुणो का आधार होना चाहिए। उसे विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, शुचि, लोकप्रिय, वाक्पटु, उच्चवशज, स्थिर-चरित्र, युवा, बुद्धिमान्, प्रतिभाशाली, स्मृतिसम्पन्न, उत्साही, कला-शास्त्र-मर्मज्ञ, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए। इतने गुणों की प्रतिष्ठा किसी सामान्य व्यक्ति में उपलब्ध नही हो सकती, अतएव भारतीय नाटक का नायक सदा उच्चवंशज या इतिहास-लोक-प्रसिद्ध ही हो सकता था।

नायक के भेद—स्वभाव-भेद से नायक चार प्रकार के होते है—
१. धीरोदात्त, २. धीरललित, ३. धीरप्रशान्त, ४. धीरोद्धत।

धीरता का गुण चारों प्रकार के नायकों में होना चाहिए। भारतीय विचार-पद्धति के अनुसार मनुष्य का स्वभाव दृढ होना चाहिए। यही दृढ़ता नायक को आदर्श बना देती है। प्रतिनायक में भी इसी दृढता का प्रदर्शन किया जाता है। जो दृढ नही, धीर नही वह न तो वीर ही हो सकता है और न वह प्रेमी ही बन सकता है। प्रत्येक नायक में दृढता के अतिरिक्त अपने-अपने विशिष्ट गुण भी रहते हैं। इन्ही गुणो के कारण उनमें पारस्परिक भिन्नता स्पष्ट की जा सकती है। नीचे प्रत्येक नायक के विशिष्ट गुणों पर प्रकाश डाला जाता है—

धीरोदात्त—जिसके अन्त.करण पर शोक, क्रोध आदि मनोवेगों का प्रभाव नही पड़ता, जो क्षमाशील, अत्यन्त गम्भीर, स्थिरचित्त, दृढव्रती और अभिमानरहित होता है, जो कभी आत्मश्लाघा नही करता, वह धीरोदात्त कहलाता है।

धीरललित—स्वभाव से कोमल, निश्चिन्त, कलाप्रिय तथा सुखान्वेषी नायक धीरललित कहलाता है। यह प्राय: राजा होता है और राज-कार्य का भार दूसरों पर डालकर स्वयं प्रेममय जीवन में तल्लीन रहता है।

धीरप्रशान्त—धीरता आदि नायक के सामान्य गुणो से युक्त, स्वभाव से शान्त, सन्तुष्ट नायक धीरप्रशान्त कहलाता है। ऐसा नायक अधिकतर ब्राह्मण या वैश्य होता है।

धीरोद्धत—द्वेषी, मायावी, चपल, असहनशील, अभिमानी, आत्मप्रशसारत, स्वभाव से प्रचण्ड, धोखा देने वाला नायक धीरोद्धत कहलाता है। नाटक में प्राय: प्रतिनायक भी धीरोद्धत ही होता है। प्रतिनायक में भी नायक जैसे गुण होते हैं, केवल नायक का प्रतिद्वन्द्वी होने से वह प्रतिनायक कहलाता है।

प्रासगिक कथावस्तु का नायक 'पीठमर्द' कहलाता है। यह भी सामान्यत: नायकोचित गुणो से युक्त होता है। इनके अतिरिक्त नाटकों

में हास्य-तत्त्व का केन्द्र एक पात्र होता है जिसे 'विदूषक' कहते हैं। यह ब्राह्मण होता है और उसे अधिकतर पेटू वर्णित किया जाता है।

शृंगार-प्रधान नाटकों में जो नायक होता है वह प्रकृतिभेद से चार प्रकार का माना जाता है—१. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. धृष्ट, ४. शठ। अनुकूल नायक एकपत्नीव्रत होता है। दक्षिण नायक की एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं और वह यथासम्भव सबको प्रसन्न रखने का यत्न करता है। धृष्ट नायक निर्लज्ज होता है और दुराचरण मे प्रवृत्त रहता है। शठ नायक का अन्य स्त्रियो के प्रति प्रेम प्रकट-सा रहता है किन्तु वह निर्लज्ज नही होता।

नायिका—नाटक में नायिका का भी विशेष स्थान होता है। नायिकाओ के भी सामान्य गुणों पर शास्त्र में विचार हुआ है। नायिका के आठ गुण या अग माने गए हैं—यौवन, सौन्दर्य, शील, नम्रता, प्रेम, कुलाभिमान, वैभव और आचार्यो के कथनानुसार नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं—स्वकीया, परकीया, गणिका। आयु के हिसाब से स्वकीया नायिका के तीन भेद होते हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। नायको और नायिकाओ के सम्बन्ध के अनुसार नायिकाओं के आठ भेद किये जाते हैं—१. स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जा, ३. विरहोत्कंठिता, ४. खण्डिता, ५ कलहान्तरिता, ६. विप्रलब्धा, ७ प्रोषितपतिका, ८. अभिसारिका।

नाटको में और भी बहुत तरह के पात्र होते हैं। कोई कवि या कलाओं का प्रेमी नायक का मित्र 'विट' कहलाता है। कुमार, सेनापति, न्यायाधीश, दूत, प्रतिहार आदि भी नाटक के पात्र होते हैं। इन पात्रों का सीधा सम्बन्ध नायक के साथ होता है। ये सब नायक के कार्यानुसारी सहायक होते हैं। भारतीय नाट्य शास्त्र में कार्य के अनुसार सहायता करने वाले पात्रों का भी वर्गीकरण किया है। ये शृंगारसहाय, अर्थचिन्तासहाय, धर्मसहाय, दण्डसहाय, अन्तःपुरसहाय, सवादसहाय होते हैं।

चरित्र-चित्रण—भारतीय नाट्य विवेचन में चरित्र-चित्रण का विशेष महत्त्व नही है। प्रत्येक पात्र का अपना एक निश्चित चरित्र होता है। पात्र की अन्तःप्रकृति का वैचित्र्य नाटक में दिखाया नही जा सकता। प्रत्येक पात्र अपनी शास्त्र द्वारा प्रतिपादित प्रकृति का प्रदर्शन मात्र करता है। पात्रो के चारित्रिक विकास का कोई अवसर प्राचीन नाट्य प्रणाली में दृष्टिगोचर नही होता। नाटक के पात्र बुराई या भलाई के आदर्श रूप धारण करके ही हमारे सम्मुख आते है। इनके चरित्र का चित्रण नहीं होता अपितु उसका उद्घाटन या प्रकाशन मात्र होता है।

अभिनय

अभिनय दृश्य साहित्य का प्राण है। नाटक का यह प्रधान तत्त्व है। अभिनय विभिन्न मानसिक अवस्थाओ या शारीरिक चेष्टाओं का अनुकरण होता है। यह अनुकरण चार प्रकार का होता है—१ आङ्गिक, २ वाचिक, ३ आहार्य (वेश-भूषा) और ४ सात्त्विक।

आङ्गिक—अनुकर्त्ता अथवा अभिनेता अनुकार्य की भावानुरूप शारीरिक चेष्टाओं का अपने अगों द्वारा जब अनुकरण करता है तब वह आङ्गिक अभिनय कहलाता है। इगित तथा अंगों के सचालन से अनुकर्त्ता अनुकार्य के इतिवृत्त का प्रदर्शन करता है। इसमे हाथ-पाँव, आँख-मुख आदि अंगों का संचालन होने से यह अभिनय आङ्गिक कहलाता है। नाटक का अधिक भाग इसी अभिनय द्वारा सम्पन्न होता है।

वाचिक—अनुकर्त्ता अनुकार्य की शारीरिक चेष्टाओं का अनुकरण करने के साथ जब मुख से शब्दों का प्रयोग भी करता है और इस प्रकार आंगिक अभिनय का स्पष्टीकरण कर देता है तब वह अभिनय वाचिक कहलाता है। पाश्चात्य नाट्यदर्शन में जो कथोपकथन या संवाद-तत्त्व लिया जाता है उसका समावेश वाचिक अभिनय में किया जा सकता है। प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के प्रसंग में सवाद सम्बन्धी बातों पर पूर्ण रूप से विचार हुआ है। भाषा, नाम, सम्बोधन

आदि के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में आवश्यक नियमों का वर्णन मिलता है। प्राचीन समय के नाटको में प्राकृत और संस्कृत का प्रयोग होता था और भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग करते थे। सम्बोधन के सम्बन्ध में यह नियम था कि नौकर लोग राजा को 'देव' कहकर पुकारते थे। बौद्धो को कथोपकथन के प्रसंग में 'भदन्त' कहकर सम्बोधित किया जाता था। ऋषि लोग राजा को 'राजन् !' कहकर सम्बोधित करते थे। विदूषक राजा को 'वयस्य' और रानी को 'भवती' कहता था। इसी प्रकार नामों के सम्बन्ध मे भी नियम थे। क्षत्रियो के नाम के आगे 'विजय' बोधक शब्द लगाना उचित कहा जाता था। वैश्यों के नाम के-बाद 'दत्त' लगाने का नियम था। अत. स्पष्ट है कि वाचिक अभिनय एक प्रकार से संवाद-तत्त्व ही है, इसीलिए भारतीय विवेचना में सवाद को पृथक् तत्त्व के रूप में परिगृहीत नही किया गया है।

आहार्य—अनुकार्य की बाहरी वेश-भूषा का जब अनुकरण किया जाता है तब वह अभिनय 'आहार्य' कहलाता है। आजकल पाश्चात्य दर्शन के अनुकरण पर देश-काल को भी नाटकीय तत्त्वों में स्थान दिया जाता है। भारतीय विवेचन में इस तत्त्व का समाहार 'आहार्य' अभिनय में हो जाता है। अनुकार्य की वेश-भूषा से अनुकार्य के काल की सभ्यता का, आचार-व्यवहार का—दूसरे शब्दों में तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियो का दिग्दर्शन हो ही जाता है। सामाजिक परिस्थितियों का भी संकेत अनुकर्त्ताओ की वेश-भूषा से हो सकता है, अतएव भारतीय विवेचन में देश-काल का पृथक् तत्त्व नही माना गया है। आहार्य अभिनय के सम्बन्ध में नाना प्रकार के आभूषणो और वस्त्रों के रंगो का विधान नाट्यशास्त्र में हुआ है। अनुकार्य जिस काल का हो उसी काल के अनुरूप अनुकर्त्ता की वेश-भूषा होनी चाहिए। अभिनय की सार्थकता इसी बात पर निर्भर है।

सात्त्विक—अनुकार्य के मन की अवस्था का परिचय कराने के लिए अनुकर्त्ता को सात्त्विक भावों का भी प्रदर्शन करना पड़ता है। जिस

प्रकार अनुकर्त्ता अनुकार्य की शारीरिक चेष्टाओं का अनुकरण करता है ठीक उसी प्रकार उसे मनोविकारो के सूचक अयत्नज सात्त्विक भावो का भी अनुकरण करना पड़ता है। सात्त्विक भाव आठ माने जाते हैं—१. स्तम्भ, २. स्वेद, ३. रोमाच, ४. स्वरभग, ५. वेपथु (कम्प), ६ वैवर्ण्य, ७. अश्रु, ८. प्रलय (निश्चेष्टता या सज्ञाहीनता)। कायिक अभिनय में यत्नज शारीरिक चेष्टाओ का अनुकरण होता है और सात्त्विक अभिनय में अयत्नज शरीर-विकृतियो का अनुकरण होता है। यही दोनो में अन्तर होता है। सात्त्विक अभिनय का सम्बन्ध भावो के साथ होने के कारण इसका अनुकरण अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है। इसके अभिनय के लिए अभिनेता की कुशलता अपेक्षित होती है।

रस

दृश्य साहित्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'रस' होता है। रसोत्पत्ति करना नाटककार का प्रधानतम उद्देश्य है। नाटक का सारा ढाँचा इसी लक्ष्य के अनुरूप होता है। वस्तु, पात्रयोजना इसी को दृष्टि में रखते हुए की जाती है। सामान्यत 'रस' साहित्य अथवा काव्य के द्वारा उत्पन्न होने वाले आनन्द को कह सकते हैं परन्तु भारतीय नाट्यशास्त्र मे 'रस' किसी भावविशेष की आनन्दात्मक अनुभूति का द्योतक होता है। सारे नाटकीय विधान से दर्शको मे किसी भावविशेष को इस प्रकार प्रबुद्ध करना होता है कि वह अनुभवगम्य होकर उन्हे आनन्द-मग्न कर सके। रस को लक्ष्य मानकर चलने से नाटककार को एक विशिष्ट परिपाटी का अनुसरण करना पड़ता है। उसकी वस्तुयोजना, पात्रयोजना एक निश्चित ढाँचे के अनुसार होती है। इसी कारण उसे ऐसी कथावस्तु ग्रहण करनी पड़ती है जिसके सामान्य जनो मे किसी-न-किसी रूप में सस्कार विद्यमान रहते हैं। उसे ऐसे पात्रों की योजना करनी पड़ती है जिनका सर्वसामान्य जन-समुदाय में विशेष मान होता है। वह पात्रों की अन्त:प्रकृति-वैचित्र्य का उल्लेख नहीं कर सकता। भाव को प्रबुद्ध करने के लिए उसे सामान्यत्व की ओर दृष्टि डालनी पड़ती है। शील-वैचित्र्य का सम्बन्ध विशेषत्व के

साथ रहता है। भाव को अनुभूतिगम्य बनाने के लिए, उसकी अनुभूति को उत्कटता प्रदान करने के लिए, यह नितान्त अपेक्षित है कि विशेषत्व का परित्याग और सामान्यत्व का परिग्रहण किया जाए। रसोत्पत्ति के उद्देश्य से बँधा हुआ नाटककार स्वाभाविक आकर्षण करनेवाले पात्रो को ग्रहण करता है। लोक में प्रसिद्ध व्यक्ति का ही इतिवृत्त सामान्य जनों के आकर्षण का विषय बन सकता है। प्रतिष्ठाप्राप्त व्यक्तियों के ही सुख-दुःख दर्शको की वृत्ति को सजग कर सकते हैं। नाटककार लोक-ख्याति-सम्पन्न महापुरुषों को जब अपने नाटक का वर्ण्य चरित्र बनाता है और उनके द्वारा दर्शको के हृदयों मे किसी सुप्त भाव को झकझोरना चाहता है तब वह इन पात्रो में उन्ही विशेषताओ की प्रतिष्ठा कर सकता है जिनके प्रति सामान्य जनो में आदर या श्रद्धा का भाव होता है। वह उनमें चारित्रिक शिथिलता प्रदर्शित नही कर सकता। वह सारे नाटकीय व्यापार की संयोजना करते समय पूर्ण सजग रहता है ताकि उसके प्रधान नायक का चरित्र आकर्षक बना रहे और दर्शकों के हृदय में विद्यमान श्रद्धा भावना पर आघात न पड सके। इस श्रद्धा भावना पर जरा-सी ठेस लगते ही भावानुभूति में समता स्थापित नही की जा सकती। इसके बिना नाटककार के लिए यह सम्भव नही है कि वह सामान्य दर्शक को उसकी अपनी संकुचित योगक्षेममयी परिधि से बाहर निकालकर सामान्य भाव-भूमि पर लाकर आत्म-विस्मृत कर सके, उसे शुद्ध भावमय बना सके। अपने स्वार्थ-सम्बन्धों को सर्वथा विस्मृत कर देना और शुद्ध भावमय हो जाना ही काव्य-क्षेत्र में रस है। यह रस-स्थिति उत्पन्न करने के लिए नाटककार को अपने पात्रो को आदर्श रूप प्रदान करना पड़ता है। साथ ही उसे औचित्य का भी ध्यान रखना पड़ता है।

आधुनिक मान्यताओं के अनुसार

आधुनिक हिन्दी साहित्य के नाटक उक्त भारतीय नाट्य प्रणाली के अनुसार नही लिखे जाते। पूर्व-भारतेन्दुकाल में मौलिक हिन्दी नाटकों में

इसी प्रणाली का अनुसरण किया गया है। भारतेन्दुकाल मे हिन्दी साहित्य में नाटक रूप का पूर्ण विकास हुआ। भारतेन्दु को हिन्दी में नाटक साहित्य का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। उन्होंने समन्वय का मार्ग अपनाया। उनके हृदय में प्राचीनता का मोह भी प्रबल था और नवीनता के प्रति आग्रह भी प्रबल, अतएव उन्होंने मध्य मार्ग का अनुसरण किया। अंग्रेजी राज्य-सस्थापना के परिणामस्वरूप भारत में अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। अंग्रेजी नाटक साहित्य का अध्ययन भी हुआ, फलत. अंग्रेजी नाट्य प्रणाली का प्रभाव साहित्यकारों पर पडने लगा। भारतेन्दु ने प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र को अपना आधार बनाया और यथासम्भव आधुनिकता का पुट भी अपने नाटकों में दिया। पूर्व और पश्चिम का यह समन्वय भावी विकास मे बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। भारतेन्दु ने अपने मौलिक नाटकों की रचना में नवीनता का पर्याप्त सम्मिश्रण किया। पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों का समावेश हिन्दी नाटक साहित्य में होने लगा। भारतेन्दु के पश्चात् भारतीय नाट्य प्रणाली का मोह क्रमशः क्षीण होता चला गया। आज परिस्थिति यह है कि हमारा नाटक साहित्य पाश्चात्य नाट्य प्रणाली का ही अनुसरण करता परिलक्षित होता है। नाटकीय सिद्धान्तो की समीक्षा करते समय पाश्चात्य नाटकीय प्रणाली का विवेचन न करना उचित न होगा; अतएव पाश्चात्य नाट्य प्रणाली के अनुसार नाटकीय तत्त्वों पर यहाँ प्रकाश डाला जाता है। यह पहले संकेत दिया जा चुका है कि पाश्चात्य दृष्टिकोण से नाटक के विधायक तत्त्व—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, उद्देश्य तथा शैली हैं। अब उनका क्रमशः यहाँ विवेचन किया जाता है।

वस्तु

नाटककार को अपने कथानक की रचना के सम्बन्ध में सबसे पहले समुचित संक्षिप्तता पर ध्यान देना पड़ता है। नाटककार का क्षेत्र परिमित होता है, इसलिए उसे अपनी वस्तु के निर्माण के लिए प्राप्त सामग्री को

सकुचित करना पड़ता है । उसे सब ऐसी बातो को छोड देना पड़ता है जिनकी उसे अपने उद्देश्य के लिए नितान्त आवश्यकता नही होती । सक्षिप्तता की रक्षा के लिए उसे केवल उन्ही घटनाओ का उल्लेख नाटकीय दृश्यों में करना पड़ता है जिनकी कथा के सुगठन में अत्यन्त अपेक्षा रहती है ।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकीय कथा-वस्तु की दूसरी विशेषता सघर्ष की है । इसकी दृष्टि में प्रत्येक नाटकीय कथा किसी सघर्ष का परिणाम होती है । यह संघर्ष प्रतिद्वन्द्वियों, भावनाओं या स्वार्थो मे होता है । भलाई और बुराई का संघर्ष अर्थात् भावनाओ का संघर्ष नायक और खल प्रतिनायक का रूप धारण करके सम्मुख आता है । यह सघर्ष नायक और उसके भाग्य या परिस्थितियो के मध्य भी हो सकता है । सामाजिक नियमो पर परम्पराओ के साथ भी नायक का सघर्ष दिखाया जा सकता है । वाह्य विरोधी शक्तियो के साथ नायक का सघर्ष उसके अपने अन्तःकरण में होने वाले भावना-संघर्ष से मिलकर अधिक सम्पुष्ट हो सकता है । नाटकीय कथा-वस्तु में किसी प्रकार का सघर्ष होन सिद्धान्त रूप से आवश्यक है । यह एक प्रकार का मेरुदण्ड होता है । जिन नाटको में इस संघर्ष का अभाव रहता है वे दोषयुक्त माने जाते हैं । इस सघर्ष के प्रारम्भ होने से ही कथावस्तु का प्रारम्भ होता है । इसके परिणाम के साथ ही कहानी का अन्त हो जाता है । इन दोनों बन्धनो के कारण नाटकीय कथा का मुख्य भाग सघर्ष के विकास और गतिशीलता के द्वारा ही निर्मित होगा । परिणामस्वरूप कथा-वस्तु का व्यापार अनिवार्य रूप से एक निश्चित क्रम में तथा एक रूप में गतिशील होगा । सघर्ष के प्रारम्भ काल में जो उलझनें प्रतिपक्ष की ओर से उत्पन्न होगी, वे सामान्य रूप से निरन्तर बढती जाएँगी और अन्त में ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाएँगी जहाँ से एक पक्ष की सफलता की ओर कहानी का मोड़ होने लगेगा । इसके अनन्तर घटनाओ की प्रगति थोड़ी-बहुत वा छोटी-मोटी बाधाओ के साथ भलाई पर बुराई की या बुराई पर भलाई की

विजय की ओर उन्मुख होती जाएँगी ।

यह स्पष्ट है कि नाटकीय कथा के विकास में एक निश्चत क्रम रहता है । यही कारण है कि प्रत्येक नाटकीय कथा के मध्य में एक प्रकार की रेखा स्पष्ट रूप से लक्षित की जा सकती है । इस रेखा को 'नाटकीय रेखा' (Dramatic Line) कह दिया जाता है । प्रारम्भ में नाटक में कुछ ऐसी घटनाएँ विन्यस्त की जाती हैं जिनमें संघर्ष का बीज रहता है । इसे प्रारम्भिक संघर्षमय घटना (Initial Incident or Incidents) कहते हैं । इसके अनन्तर उत्कर्ष (Rising action) की स्थिति आती है । इस भाग में संघर्ष बढता जाता है और उलझनें पड़ती जाती हैं तथा संघर्ष एक गहन स्थिति में होता दीख पड़ता है । इस स्थिति में उभय पक्ष की जय-पराजय संदिग्ध रहती है । नाटकीय कथा का तीसरा भाग चरम सीमा (Climax, Crisis, Turning point) कहलाता है । इस भाग में संघर्ष अपनी चरमसीमा में पहुँच जाता है । यह कहानी के मोड़ का स्थल होता है । इस स्थल पर आकर जूझने वाले पक्षों में से एक पक्ष इतनी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि वह सारी परिस्थिति पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है । सारा व्यापार उसके नियन्त्रण में चलने लगता है । फलतः इस पक्ष की विजय की सम्भावना स्पष्ट झलकने लगती है । नाटकीय कथा के चौथे भाग को अपकर्ष या निगति (Falling action, Resolution, Denoument) कहते हैं । इस भाग में घटना-व्यापार की सफलता की ओर प्रगति के चिह्न स्पष्ट उभरने लगते हैं । पाँचवें भाग को निष्कर्ष या आपतन (Couclusion or Catastrophe) कहते हैं । इसमें संघर्ष का अन्त दिखाया जाता है ।

सुखान्त या दुःखान्त---इसी अन्त के सम्बन्ध से हम किसी नाटक की विधा---सुखान्त या दुःखान्त---का निश्चय कर सकते हैं । एक का अन्त हर्षोल्लास में और दूसरे का अन्त शोक और क्रन्दन में होता है । कई ऐसे नाटक भी हो सकते हैं जिनमें कथा-वस्तु का आकर्षण अधिकांशतः दुःख-

स्वरूप होता हो परन्तु उसके अन्त में सौभाग्य का वरद हस्त कुछ भले पात्रो पर उठता भी दिखाई दे ।

चाहे नाटक क अन्त मुख्यत: सुखस्वरूप हो या दु खस्वरूप, उसमें अपनी कुछ एक विशिष्टताएँ अवश्य रहनी चाहिएँ। दु खान्त नाटक मे दुःख का अन्धकारपूर्ण वातावरण इस रूप से छितराता दीखना चाहिए कि व्यर्थ ही भलाई को क्षति न पहुँचे और न यूँ ही अच्छाई का पराभव हो । इसी प्रकार सुखान्त नाटक में मर्मस्पर्शी भावना तत्त्व का सम्मिश्रण करने के लिए अनभिलषित दुर्भाग्य का प्रवेश दिखाया जा सकता है, अथवा ऐसे किसी प्रधान पात्र के अतृप्त प्रेम की झाकी दिखाई जा सकती है जिसके प्रति नाटक में दर्शको की सहानुभूति उकसाई गई हो । इसके अतिरिक्त यह भी समझ लेना चाहिए कि सुखान्त-विधान की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि बुराई की पराजय दिखाई जाए। बुरे को परास्त करके भाग्य के हाथ सौपा जा सकता है अथवा उसे भलाई के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है । उसे क्षमा या समझौते के शान्त वातावरण मे निमग्न प्रदर्शित किया जा सकता है ।

भारतीय नाट्य प्रणाली के अनुसार कथा-वस्तु का अन्त सदा सुखस्वरूप होता है । रसात्मकता के उद्देश्य से विवश होकर नाटककार को आदर्श पात्रो का निर्माण करना पड़ता है । एक पक्ष भलाई का आदर्श और दूसरा पक्ष बुराई का आदर्श कल्पित कर लिया जाता है। दोनो पक्षो में सघर्ष प्रदर्शित किया जाता है । यह सघर्ष अन्त में शान्त हो जाता है । बुराई परास्त हो जाती है और भलाई जीत जाती है। इसी जीत के वातावरण में नाटक का अन्त कर दिया जाता है । आदर्श पात्रो की पराजय से ईश्वरीय न्यायभावना को आघात पहुँचता है । इससे भारतीय कर्म सिद्धान्त के प्रति अनास्था उत्पन्न हो सकती है, अतएव भारत की अपनी प्राचीन परम्परा में भलाई के आदर्श पात्रो की सदा विजय, सुख-समृद्धि घोषित की जाती है । भारतीय जीवन-दर्शन में जीवन का अन्तिम लक्ष्य शान्ति, अहिसा और प्रेम माना गया है । जीवन मे संघर्ष की सत्ता भी

स्वीकार की जाती है परन्तु अन्त मे इस संघर्ष की शान्ति ही भारतीय को अभीष्ट है। जीवन की अशान्ति, संघर्ष, हिंसा को शान्ति, समर्पण और अहिंसा से दूर कर देना भारतीय उचित समझता है। नाटक में इसी भावना को क्रियात्मक रूप प्रदान किया जाता है। भारतीय प्रणाली जीवन के आदर्श का स्पर्श करती है और रंगगृह में उपस्थित प्रेक्षकों को प्रसन्न-चित्त, सुखमय भावना में निमग्न करके विदा करना चाहती है। भारतीय जीवन के प्रारम्भ में शान्ति और अन्त मे शान्ति होती है, अतएव इस परम्परा के नाटक सुखमय वातावरण में अन्त होते है। पाश्चात्य नाटक-प्रणाली इससे सर्वथा विपरीत होती है। पाश्चात्य नाटककार की दृष्टि जीवन के यथार्थ रूप पर अधिक रहती है। जीवन वास्तव में जैसा है उसी रूप में वह उसका प्रदर्शन करना उचित समझता है। वह जीवन के कल्पित आदर्श रूप को उपेक्षणीय समझता है। उसकी दृष्टि में जीवन सघर्षमय है, जीवन के प्रारम्भ मे सघर्ष है, मध्य में संघर्ष और अन्त मे भी सघर्ष ही होता है। यही कारण है वह अपनी कथा-वस्तु का अन्त प्राय: संघर्षमय, अशान्त और शोक-संतप्त प्रदर्शित करता है। उसका ध्यान सदा जीवन की वास्तविक परिस्थितियो पर रहता है। यदि परि-स्थितियाँ अनुकूल हैं तो उसे भलाई की विजय दिखाने में सकोच नही होता है। इसके विपरीत यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल है तो भलाई की पराजय घोषित करने में किंचिन्मात्र भी संकोच नही होता। वास्तविक जीवन मे सदा पुण्यात्मा, धर्मात्मा ही तो विजयी नही होते, पापी, दुष्टाचारी भी विजयी हो जाते हैं, फिर वास्तविक जीवन का अनुकरण करते समय उनकी विजय को आँखों से ओझल क्यों किया जाए ? वह इस कटु सत्य को मानकर चलता है और पुण्यमयी शक्तियों को परास्त होता प्रदर्शित कर देता है। वह भारतीय नाटककार की भाँति चहुँ ओर सुख-आनन्द की वर्षा नही करवाता, वह जीवन की तप्त बालुका में भी परिभ्रमण करवाता है। उसे तो सदा यही ध्यान रहता है कि उसकी कथा का अन्त विश्वसनीय हो, परिस्थितियो के अनुरूप हो और यथार्थता के अधिक समीप हो।

पात्र

पाश्चात्य दर्शन के अनुसार कला जीवन की अनुकृति है। नाट्य कला के तो मूल मे यही अनुकृति अनिवार्यतः विद्यमान रहती है। यही कारण है कि पाश्चात्य नाट्य प्रणाली मे पात्र यथार्थ जीवन के क्षेत्र से ही लिए जाते है, कल्पना से प्रसूत नही किये जाते। नाटक की सफलता इसी बात से आँकी जाती है कि नाटक के पात्र यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व कितने अनुपात में करते है। जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले ही पात्र नाटककार की सफलता के परिचायक होते हैं। जीवन-क्षेत्र में विचरने वाले व्यक्ति अनेक प्रकार के है। उच्च से उच्चतम, अधम से अधमतम व्यक्ति यथार्थ जीवन क्षेत्र में हमें उपलब्ध होते है। जगत् में महान् भी है, क्षुद्र भी; पुण्यात्मा भी है, पापात्मा भी; कोमल चित्तवृत्ति वाले भी हैं, कठोर चित्तवृत्ति वाले भी; उदार भी है, अनुदार भी; सदय भी है, निर्दय भी; धनी भी है, निर्धन भी; पठित भी है, अपठित भी; सुसंस्कृत भी हैं, असंस्कृत भी। यदि नाटक जीवन की अनुकृति है तो इसमें ये सब प्रकार के व्यक्ति उपन्यस्त होने चाहिएँ। नाटक के पात्र इस सब प्रकार के व्यक्तियों के प्रतीक होने चाहिएँ। राजा-रक, सज्जन-दुर्जन, सबल-निर्बल, सुखी-दुखी पात्र ही नाटक की सफलता के स्रोत माने जा सकते है। नाटकीय व्यापार राजा, मत्री, वैद्य, पण्डित, काजी-मुल्ला, उपदेश-शिक्षक, कर्मचारी-व्यापारी, भले-बुरे, गुण्डे-कुंजडे सभी प्रकार के पात्रो द्वारा कराया जाना चाहिए। पाश्चात्य परम्परा के अनुसार नाटक के पात्र सभी क्षेत्रों से लिए जा सकते है। भारतीय परम्परा के अनुसार कुल, वर्ण आदि का कोई बन्धन इस प्रणाली में नही माना जाता। भारतीय प्रणाली में सारा बल प्रधान पात्र—नायक—पर दिया जाता है, उसी का व्यक्तित्व कुछ उभरता दिखाई पडता है। पाश्चात्य परम्परा में नायक के अतिरिक्त अन्य मुख्य पात्रो का व्यक्तित्व भी स्वतन्त्र अस्तित्व रखता परिलक्षित होता है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ नाटक के पात्रो की प्रतिष्ठा की जाती है। प्रत्येक पात्र की अपनी विशिष्ट प्रकृति होती है। किसी निश्चित

प्रकृति के अनुरूप पात्रों की योजना नही की जाती। पात्रो की प्राण-प्रतिष्ठा करते समय मानव की यथार्थ प्रकृति का ही अनुसरण किया जाता है। मानव-विज्ञान के अनुरूप उन पात्रों का अकन किया जाता है। यथार्थ जीवन- क्षेत्र में व्यक्ति और परिस्थितियो में आदान-प्रदान परिलक्षित होता है। कभी व्यक्ति प्रबल हो जाता है तो परिस्थितियों को अपने अनुरूप ढाल लेता है, कभी परिस्थितियाँ प्रबल होती हैं तो व्यक्ति को अपने वश में कर लेती हैं और उसमें परिवर्तन उपस्थित कर देती है। मानव परि-स्थितियो का दास भी है, शासक भी। ठीक यही स्थिति नाटक के पात्रों की रहती है। नाटक के पात्र कभी परिस्थितियो को बदलने और कभी उनसे प्रभावित होते वर्णित किये जाते है। उनमें गतिशीलता भी रहती है, स्थिरता भी। कुछ परिस्थितियों को देते और कुछ उनसे लेते वे जीवन-यापन करते दर्शक के सम्मुख आते है। उनमें परिवर्तन होता है, विकास होता है। वे उठते भी हैं, गिरते भी। उनका उत्थान-पतन उनको सजीव बना देता है। उनका भीतरी आपा स्पन्दित होता दृष्टिगोचर होता है। मानव की विवश-ताएँ उसके व्यापारों में उचकती दिखाई पड़ती है। यही विवशताएँ उन्हें मानव का प्रतीक बना देती है। दर्शक इसी कारण उनके प्रति अपने मन मे रुचि धारण करने लगता है। वह विशेष होता हुआ भी सामान्य हो जाता है। भारतीय विवेचन में जो सामान्यता लोकप्रसिद्ध, उच्च-चरित्र तथा अभिजात वश के व्यक्तियों को सम्मुख उपस्थित करके उत्पन्न की जाती है वही सामान्यता पात्र में दुर्बलताएँ प्रदर्शित करके उत्पन्न कर ली जाती है। प्रत्येक पात्र अपनी अन्त:प्रकृति के अनुरूप व्यापार करता है। अन्त:प्रकृति विभिन्न होकर भी किसी-न-किसी रूप में अभिन्नता लिए रहती है। पात्र की अन्त:प्रकृति की विचित्रता उद्घाटित करना नाटक-कार का प्रधान कर्त्तव्य माना जाता है। इस प्रकार पात्र-निर्माण पाश्चात्य दृष्टिकोण में नाटक-निर्माण का अनिवार्य एवं परमावश्यक अंग मान लिया गया है। पात्र-योजना में प्रधान और अप्रधान का भेद रह सकता है। नाटकीय व्यापार का नेता नायक माना जा सकता है। इसके साथ

सारे नाटकीय सूत्र सम्बद्ध रह सकते हैं। अन्यान्य गौण पात्रों की सृष्टि भी नाटकीय व्यापार के विस्तार वा विकास के लिए आवश्यक होती है। चाहे पात्र गौण हो या प्रधान, उसका अपना व्यक्तित्व, उसकी अपनी विशिष्ट प्रकृति रुचि का विषय अवश्य रहनी चाहिएं। भारतीय नाटकों की भाँति केवल एक ही पात्र का व्यक्तित्व पाश्चात्य नाटकों में रुचि का केन्द्र नही होता। अन्य पात्र भी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व से दर्शकों की रुचि का विषय बन सकते है।

चरित्र-चित्रण:—नाटक में पात्र-प्रतिष्ठा करने के उपरान्त नाटककार प्रत्येक पात्र के चरित्र का चित्रण करता है। ऐसे व्यापारों की योजना करता है जिनसे पात्र का चरित्र उज्ज्वल हो आभासित होने लगता है। नाटककार का यह कार्य बडा महत्त्वपूर्ण होता है। वह स्वय पाठको या दर्शकों के सम्मुख उपस्थित नही हो सकता, उसे तो अन्यान्य कई उपाय अपनाने पड़ते हैं। वह परोक्ष वृत्ति से ही यह कार्य सम्पन्न करता है। पात्र जब परस्पर वार्त्तालाप करते हमारे सम्मुख आते है तो उनके मुख से जो शब्द निकलते है वे उनके चरित्र का प्रकाशन कर देते है। एक पात्र जब किसी दूसरे पात्र के सम्बन्ध में अपनी धारणा का प्रकाशन करता है तब वह एक प्रकार से उस पात्र के चरित्र का चित्रण कर देता है। पात्र की अपने सम्बन्ध में उक्ति भी कभी कभी चरित्र-चित्रण का काम कर देती है। पात्र के अपने मन्तव्य वा सिद्धान्त, विभिन्न पदार्थों वा तथ्यो के सम्बन्ध में उसके विचार भी चरित्र-चित्रण में सहायक होते है। उसकी वेश-भूषा, शारीरिक चेष्टाएँ भी चरित्रांकन के सामान्य साधन है। नाटककार इनका भी सकेत करता चलता है। सक्षेप में चरित्र-चित्रण के साधनो में पारस्परिक कथोपकथन, स्वगत भाषण वा कार्य-कलाप परिगणित किये जाते हैं। यदि नाटककार पात्र के शब्दो में, आचरणों में, अन्य पात्रों की सम्मतियो में अन्विति की सृष्टि कर सके तो वह सफल नाटककार समझा जा सकता है।

कथोपकथन

कथोपकथन नाटक का प्रधान तत्त्व है । इसी के कारण इसका पृथक् अस्तित्व सिद्ध किया जाता है । नाटक के सारे तत्त्व इसी तत्त्व के आश्रय से नाटक-निर्माण में अपना योग प्रदान कर सकते है । कथा-वस्तु का विकास इसी के द्वारा सम्पन्न होता है । सारी घटनाएँ पात्रो की पारस्परिक बातचीत से प्रकाश मे लाई जाती है । पात्रो का चरित्र, देश-काल का सकेत, जीवन व्याख्या वा आलोचना सब कथोपकथन के माध्यम से ही नाटक में होता है । इसलिए कथोपकथन की सृष्टि मे नाटककार को विशेप दक्षता की आवश्यकता है । कथोपकथन कथा-क्रम को अग्रसर करने में सहायक तो होना ही चाहिए, साथ ही उसे चरित्राकन मे भी समुचित योग देना चाहिए । जैसे पात्रो का निर्माण यथार्थ जीवन की परिस्थितियों के अनुरूप होना चाहिए वैसे ही पात्रों की बातचीत भी व्याव-हारिक जगत् के अनुरूप होनी चाहिए । उसमे प्रासांगिकता, सक्षिप्तता, पात्रानुरूपता, सजीवता आदि गुण विशेप दक्षता से समाविष्ट किये जाने चाहिएँ। भाषा की सरलता, स्पष्टता भी अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना नाटककार दर्शको की मनोवृत्ति को अपने वश में नही कर सकता । क्लिष्ट भाषामय लम्बे-लम्बे वर्णन अपनी सरसता के कारण पढने में भले ही रुचिकर प्रतीत हो, काव्यत्व की दृष्टि से भले ही उनका मूल्य अत्यधिक हो परन्तु रंगमच की दृष्टि से ऐसे सरस एवं काव्यात्मक वर्णन विशेष महत्त्व के नही रहते । छोटे-छोटे वाक्य समुचित विस्तार के साथ विन्यस्त होकर जो रोचकता उत्पन्न करते है वह काव्यात्मक, लम्बे वाक्यों के सदर्भ से रंगमंच पर उत्पन्न नही की जा सकती । नाटक जनता की वस्तु है। रगमच पर गम्भीर दार्शनिक विषयों के उपलक्ष्य में पात्रों का कथोप-कथन सामान्य जनता को बुद्धिगम्य नही हो सकता है, अतएव विषय की दृष्टि से भी नाटकीय कथोपकथन सरल एंव सुबोध होना चाहिए । नाटककार को यह ध्यान रखना चाहिए कि नाटक के संवाद भाषण का रूप धारण न करें । जहाँ तक हो सके नाटक की भाषा सामान्य

बोलचाल की भाषा से मिलती-जुलती हो। साहित्यिकता की मात्रा इतनी नही होनी चाहिए कि वह व्यावहारिक भाषा से बहुत दूर जा पड़े।

देश-काल

नाटकीय कथा की घटनाएँ किसी-न-किसी स्थान या समय में घटित होती हैं। घटनाओं के अभिनय के साथ घटना सम्बन्धी देश-काल का सकेत स्वतः ही हो जाता है। अतएव नाटक के तत्त्वों में देश-काल को भी स्थान मिल जाता है। घटना को स्पष्ट रूप से घटित होती दिखाने के लिए देश-काल की जितनी आवश्यकता है नाटकीय भूमि में उसका उतना ही समावेश किया जा सकता है। उपन्यास की भाँति देश-काल का साक्षात् चित्रण नाटक में सम्भव नहीं है। नाटक में देश-काल का वर्णन नही होता, उसका सकेत मात्र किया जाता है। नाटकीय कथानक का जिस कालविशेष से सम्बन्ध रहता है उस काल के सार्वजनिक जीवन के विरुद्ध नाटकीय पात्रों का जीवन चित्रित नही किया जा सकता। पात्रों की वेश-भूषा, सामान्य वार्त्तालाप तत्कालीन जीवन के अनुरूप ही प्रदर्शित किया जा सकता है। घटना-स्थान के साथ सम्बद्ध बातो का भी नाटककार को पूरा ध्यान रखना पडता है। वेश-भूषा, संवाद तथा अन्यान्य व्यापारों के द्वारा देश-काल स्वतः ही दर्शको के सम्मुख उभरने लगता है।

संकलन-त्रय—देश-काल को ध्यान में रखते हुए नाटकीय विधान में प्राचीन ग्रीक आचार्यो ने संकलन-त्रय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनकी यह धारणा थी कि नाटक में वर्णित घटना किसी एक ही कृत्य से सम्बन्धित हो, वह एक ही स्थान की हो और एक ही दिन में घटित हुई हो। इस प्रकार नाटक मे कार्य, स्थान और काल की एकता पर ध्यान दिया जाता रहा है। इसी को संकलन-त्रय का सिद्धान्त कहते हैं।

कार्य की एकता—नाटकीय कथा के अन्तर्गत जितने व्यापार वा प्रसंग उपन्यस्त हो उन सबका प्रयोजन वा फल एक होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, नाटक की कथावस्तु एक ही होनी चाहिए। अवान्तर प्रसगो के विन्यास

से नाटकीय कार्य में एकता की क्षति की सम्भावना रहती है, अतएव एक ही मुख्य कार्य को ध्यान में रखते हुए नाटकीय व्यापार की योजना करनी चाहिए। इसे ही 'कार्य की एकता' का सिद्धान्त कहा जाता है।

स्थान की एकता—नाटकीय कथा के अन्तर्गत जितनी घटनाएँ हो उनका सम्बन्ध एक ही स्थल से होना चाहिए। इस सिद्धान्त का नाम 'स्थान की एकता' है। इस सिद्धान्त का आजकल पालन करना सम्भव नही है। आधुनिक जीवन इतना व्यापक हो गया है कि एक ही व्यक्ति का अनेक स्थलों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यद्यपि सर्वांशतः आधुनिक नाटको के कथानको में 'स्थल की एकता' के नियम का निर्वाह नही हो सकता तथापि एक दृश्य की घटना में इस नियम का प्रयोग व्यावहारिक सिद्ध किया जा सकता है। एक दृश्य मे जो घटना वर्णित हो उसका सम्बन्ध एक ही स्थल से रक्खा जा सकता है। स्थान-परिवर्त्तन के साथ ही दृश्य-परिवर्त्तन किया जा सकता है।

काल की एकता—नाटक मे वर्णित घटनाओं मे वर्षों का व्यवधान नही होना चाहिए। नाटक के अभिनय मे जितना काल लगे उतने ही काल की घटना नाटक में रहनी चाहिए। घटनाकाल और अभिनयकाल की इसी एकता को 'काल की एकता' कहा जाता है। स्थान की एकता के सदृश ही इस नियम का पालन आजकल सम्भव नही है। यही सम्भव है कि एक दृश्य की घटना का सम्बन्ध एक ही काल के साथ हो। विभिन्न काल में होने वाली घटनाओं को एक ही दृश्य मे प्रदर्शित करना उचित नही होता। आज यदि इस नियम का पालन किया जा सकता है तो इसी रूप में कि रगमच पर घटित घटनाओं का काल सम्बन्धी व्यवधान दर्शकों की दृष्टि से दूर रखा जाए। रंगमच पर घटनाएँ इस रूप में प्रदर्शित की जाएँ कि विभिन्न घटनाओं के बीच का समय दर्शको की कल्पना में न आ सके। घटनाएँ अपने स्वाभाविक क्रम में विन्यस्त कर देने से यह व्यवधान दृष्टि में नहीं आता। काल सम्बन्धी एकता से आज यही अर्थ लिया जाता है।

उद्देश्य

नाटक में जीवन सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत की जा सकती है। नाटककार जिस रूप में जीवन का दर्शन करता है, जीवन सम्बन्धी जो उसकी अपनी धारणाएँ निर्मित हो जाती हैं, वही रूप और वही धारणाएँ नाटक के कथानक के माध्यम से पाठकों वा दर्शको के सम्मुख अभिव्यंजित होती हैं। नाटक की कथावस्तु जब जीवन से ग्रहण की जाती है तो उसमे जीवन की व्याख्या अनिवार्यत. समाविष्ट हो जाती है। नाटककार अपनी आत्मानुभूति को ही अभिव्यक्त करने के लिए नाटकीय कथावस्तु की आयोजना में प्रवृत्त होता है। नाटक साहित्य का प्रधान रूप है। साहित्य में जीवन प्रतिफलित रहता है, यह निर्विवाद है। साहित्य के इस रूप मे जीवन का अभिनय किया जाता है, इसलिए इसमें तो जीवन अधिक समुज्ज्वल रूप में अनुप्राणित रहता है। जीवन-क्षेत्र में विचरते हुए नाटककार की कल्पना जीवन का जो चित्र निर्मित कर लेती है उसी को तो वह संवाद रूप में रंगमंचीय विशेषताओं के साथ विन्यस्त कर देता है और उसी को अभिनेता अभिनय के द्वारा दर्शको के सम्मुख प्रस्तुत कर देते हैं। ऐसी स्थिति में जीवन की व्याख्या नाटक में सुगमता से हो जाती है। हाँ, इस रूप में साहित्यिक को यह सुविधा प्राप्त नही है कि वह साक्षात् उपस्थित होकर जीवन सम्बन्धी अपनी विवेचना को प्रस्तुत कर सके। उसे यह कार्य परोक्ष वृत्ति से करना पड़ता है। वह कथा-वस्तु के संवाहक पात्रों में से किसी एक पात्र को चुन सकता है और उसी को अपने विचारो का प्रतीक बना सकता है। यह पात्र कथानक का अंग भी होता है, कथा-प्रवाह के अग्रसर करने में भी उसका अपना पूरा योग रहता है। इसके अतिरिक्त वह लेखक की विचारधारा का प्रतिनिधित्व भी करता दृष्टिगोचर होता है। नाटककार यदि अपने विचारों के प्रतीक पात्र को कथा-वस्तु का अनिवार्य अंग नही बना पाता है तो इससे उसकी असमर्थता सिद्ध होती है। उसकी दक्षता दोनों रूपो के सामजस्य में ही है। एक ही पात्र कथा के आवश्यक भाग को पूर्ण भी करे और जीवन-दर्शन का वाहक

भी बन जाए—नाटककार की दक्षता का यह एक प्रबल प्रमाण माना जा सकता है। अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए वह एक से अधिक पात्रों से उपयोग ले सकता है। वह घटनाओ की योजना भी इस रूप में कर सकता है कि प्रेक्षको की सहानुभूति उन पात्रों के प्रति हो जाए जो पात्र उनकी अपनी धारणा के अनुरूप जीवन-यापन करते वर्णित किये गए हैं। वह नाटकीय सवादो के अन्तर्गत पात्रो के मुख से ऐसे वाक्य कहला सकता है जो उसकी जीवन सम्बन्धी धारणा को प्रकाशित करते हो। सक्षेप में, नाटक में जीवन-व्याख्या प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रहती है। उसके निर्धारण के लिए समष्टि रूप से नाटकीय व्यापार पर दृष्टिपात करना पड़ता है। पात्रो के विचारो की गम्भीर विवेचना तथा तुलनात्मक अध्ययन के उपरान्त ही हम नाटककार के जीवन-दर्शन को अधिगत कर सकते है। हम यह जान सकते है कि नाटककार हमारे सम्मुख किस नैतिक आदर्श को प्रस्तुत करना चाहता है। जीवन के किस रूप के प्रति नाटककार की आस्था है, यह बात भी नाटकीय-व्यापार-योजना से स्पष्ट की जा सकती है। नाटकीय कथा का परिणाम भी नाटककार के बौद्धिक चिन्तन का परिचायक हो सकता है। नाटक में उद्देश्य-तत्त्व से यही अभिप्रेत है कि नाटकीय व्यापार-योजना में नाटककार का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण, उसकी मूल भावना प्रेरक रूप में विद्यमान रहती है। वह उसी की अभिव्यक्ति के लिए यह योजना करने में प्रवृत्त होता है।

शैली

यह तत्त्व साहित्य के सब रूपों में विद्यमान रहता है क्योंकि इसका सम्बन्ध लेखक के अपने व्यक्तित्व के आभास के साथ है। इसी के कारण हम किसी रचना को देखकर यह कहने का साहस कर सकते है कि यह अमुक की रचना होगी। शैली का सम्बन्ध उस ढंग या रूप के साथ है जो लेखक अपने भावों या अनुभूतियों के प्रकाशन के लिए अपनाता है। यह ढंग उसका अपना, केवल अपना होता है, अन्य का नही। नाटक में शैली-

तत्त्व पर विचार करते समय भी हमें यही बात ध्यान में रखनी होगी। प्रत्येक नाटककार नाटक-निर्माण के सामान्य विधान-सम्बन्धी नियमों को ग्रहण करके रचना करता है। जहाँ तक नाटक के ढाँचे का सम्बन्ध है, सभी नाटककारों में समानता रहती है परन्तु नाटकीय संवादो में शब्दों का चुनाव, वाक्यांशों का विशिष्ट प्रयोग, वाक्य-रचना आदि बातो में प्रत्येक नाटककार अपनी विशेषता की छाप अंकित करने में समर्थ हो जाता है। इसी विशेषता के साथ शैली-तत्त्व का सम्बन्ध रहता है। यदि नाटककार रगमचीय आवश्यकताओं से पूर्णतया परिचित है तो उसके नाटकीय विधान का जो स्वरूप होगा वह उस रंगमंचीय आवश्यकताओ से अनभिज्ञ के विधान-स्वरूप से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। दृश्यों के क्रमिक विभाजन में भी नाटककार अपनापन प्रतिफलित कर सकता है। अवान्तर प्रसंगों के परस्पर गठन में भी नाटककारों की भिन्नता स्पष्ट की जा सकती है। एक नाटककार शुद्ध रूप से अपने नाटक को गद्यात्मक रख सकता है। दूसरा अपने नाटक में गीतों, पद्यों की नियोजना कर सकता है। एक नाटककार अपने नाटक में घटना-स्थलो का, समय का विस्तृत सकेत देता चलता है तो दूसरा संक्षिप्त सकेत से ही अपना काम चला सकता है। इस प्रकार अन्यान्य विभिन्नताएँ नाटक रचना में प्रदर्शित की जा सकती है। यही विभिन्नताएँ हमें नाटक में शैली-तत्त्व का आभास देती है और अन्य तत्त्वों के समान इस पर भी विचार करने की प्रेरणा प्रदान करती हैं।

नाटक का वर्गीकरण

नाटक का वर्गीकरण करते समय हम सर्वप्रथम इसके प्राचीन और अर्वाचीन दो भेद कर सकते हैं।

प्राचीन भेद

दृश्य साहित्य के लिए प्राचीन नाम रूपक है। इसी का एक भेद उपरूपक भी मान लिया गया है। रूपक और उपरूपक—इन दोनो का

मूल प्रकृति की दृष्टि से कोई अन्तर स्पष्ट नही है। अभिनेयता दोनो का सामान्य गुण है। ऐसा प्रतीत होता है कि दृश्य साहित्य के विकसित हो जाने पर वर्गीकरण करते समय हमारे प्राचीन आचार्यों ने दृश्य साहित्य अर्थात् रूपक के जिन रूपों का अत्यधिक प्रचार देखा उन्हें तो 'रूपक' के अन्तर्गत कर दिया और जिनका प्रचार अपेक्षाकृत न्यून देखा उन्हे 'उप-रूपक' सज्ञा प्रदान कर दी। रूपकों और उपरूपकों के लक्षणो का गम्भीर विश्लेषण करने के उपरान्त उनमे कोई निश्चित विभाजक रेखा अंकित नही की जा सकती। कुछ आलोचकों का यह कथन है कि रूपकों मे रस की प्रधानता रहती है और उपरूपको में भावो, नृत्य और नृत्त की मुख्यता रहती है। इस कथन की पुष्टि रूपको और उपरूपको के लक्षणो से नही होती।

रूपक के अन्तर्गत आने वाले भेद दस है--१ नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अंक और १०. ईहामृग।

इसी प्रकार उपरूपक के भी अठारह भेद हैं--१. नाटिका, २. त्रोटक, ३. गोष्ठी, ४. सट्टक, ५. नाट्यरासक, ६. प्रस्थानक, ७. उल्लाप्य, ८. काव्य, ९. प्रेङ्खण, १०. रासक, ११. संलापक, १२. श्रीगदित, १३. शिल्पक, १४. विलासिका, १५. दुर्मल्लिका, १६. प्रकरणिका, १७. हल्लीश, १८. भाणिका।

इन सबके लक्षण प्राचीन ग्रन्थों में मिलते है।

अर्वाचीन भेद

आधुनिक दृश्य साहित्य का वर्गीकरण उक्त वर्गीकरण से सर्वथा भिन्न प्रकार से किया जाता है। दृश्य साहित्य के लिए आधुनिक नाम नाटक है। नाटक मुख्यतः दो प्रकार का होता है--१. साहित्यिक या पाठ्य, और २. रंगमंचीय।

जिस नाटक के निर्माण में अभिनय का, रंगमंचीय आवश्यकताओं का

विशेष ध्यान नहीं रखा जाता वह नाटक साहित्यिक कहलाता है। इसमें काव्यत्व की मात्रा अधिक रहती है। यद्यपि साहित्यिक नाटक का कर्त्ता रंगशाला के विधि-विधानों की ओर विशेष ध्यान नहीं देता तथापि यह किंचित् परिवर्त्तन के द्वारा अभिनय के योग्य हो सकता है। वह पाठ्य अधिक होता है, दृश्य कम। इसी कारण इसे पाठ्य संज्ञा भी दी जाती है। हिन्दी साहित्य के उच्च कोटि के नाटक प्राय. साहित्यिक कोटि के हैं। अभिनय करने के लिए उनमें कॉट-छॉट की अपेक्षा परिलक्षित होती है।

विषय, रचना-विधि तथा प्रभाव के आधार पर भी नाटक के भेद किये जा सकते हैं।

विषय के आधार पर आधुनिक नाटक के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं--१. सामाजिक, २. धार्मिक, ३. राजनीतिक, ४. ऐतिहासिक और ५. प्रेम-प्रधान।

रचना-विधि के आधार पर यदि नाटक का वर्गीकरण किया जाए तो नाटक के मुख्यत. तीन भेद किये जा सकते हैं--१. प्रतीकात्मक (रूपक), २. अनेकाङ्की, ३. एकाङ्की।

प्रतीकात्मक (रूपक)--किसी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक या प्रेम सम्बन्धी विषय का प्रतिपादन करने के लिए जब कथा प्रतीको के द्वारा वर्णित की जाती है तब नाटक प्रतीकात्मक कहलाता है। इसके लिए 'रूपक' शब्द का व्यवहार किया जाने लगा है। जयशंकर प्रसाद कृत 'कामना' और 'एक घूट', सुमित्रानन्दन पत कृत 'ज्योत्स्ना', भगवतीप्रसाद वाजपेयी कृत 'छलना' इसी कोटि के नाटक हैं।

अनेकाङ्की--जिस नाटक की कथावस्तु एक से अधिक अंकों में विभक्त रहती है वह अनेकाङ्की नाटक कहलाता है। 'नाटक' शीर्षक के अन्तर्गत जितना विवेचन होता है उसका सम्बन्ध अनेकाङ्की नाटको के साथ होता है। सामान्यत: अनेकाङ्की नाटकों के लिए 'नाटक' शब्द ही व्यवहृत होता है। प्रस्तुत वर्गीकरण का सम्बन्ध भी अनेकाङ्की नाटक के

साथ ही है। विषय की दृष्टि से जितने भेद किये गए हैं वे सब अनेकाङ्की नाटक के माने जा सकते हैं। प्रतीकात्मक नाटक अनेकाङ्की और एकाङ्की दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

एकाङ्की—जिस नाटक की कथा-वस्तु केवल एक ही अंक में वर्णित रहती है वह एकाङ्की नाटक कहलाता है। नाटक के इस रूप का आज इतना प्रचलन हो गया है कि इसे एक स्वतन्त्र रूप सा दिया जाने लगा है। इसके विधायक तत्त्वों की, रचना-विधि की स्वतन्त्र रूप से विवेचना की जाती है। समालोचक अनेकाङ्की नाटकों से इनके स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि के लिए इनकी मौलिक प्रवृत्तियों पर पूर्ण प्रकाश डाल रहे हैं और व्यापक अन्तर पर दृष्टिपात कर रहे हैं। अतः नाटक के इस रूप का विवेचन अप्रासांगिक नहीं होगा।

आधुनिक एकाङ्की के प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि—प्राचीन भारतीय दृश्य साहित्य में एकाङ्की नाटक उपलब्ध होते हैं। संस्कृत साहित्य के अनेक रूपक और उपरूपक ऐसे हैं जिनकी रचना एक अंक के आधार पर होती है, अतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन साहित्य में एकाङ्की नाटकों का अस्तित्व था। इस पर भी यह निर्विवाद है कि आधुनिक नाटक का स्वरूप इन संस्कृत के एकाङ्कियों के अनुसरण पर निर्मित नहीं हुआ है। उसका प्रादुर्भाव नवीन परिस्थितियों के अनुरूप हुआ है। इस पर अंग्रेजी साहित्य के एकाङ्की का प्रभाव तो सिद्ध किया जा सकता है, संस्कृत साहित्य का नहीं।

आधुनिक एकाङ्की का स्वरूप अंग्रेज़ी एकाङ्की के अनुरूप विकसित हुआ है, अतः इसके स्वरूप को समझने के लिए अंग्रेजी के एकाङ्की के प्रादुर्भाव की पृष्ठिभूमि पर दृष्टिपात करना होगा। प्रायः यह कहा जाता है कि अंग्रेज़ी एकाङ्की का जन्म लगभग दसवीं शताब्दी में हुआ है। ईसाई भिक्षु और पादरी अपनी धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार करने के उद्देश्य से इनका प्रयोग करते थे। धार्मिक सन्तों, महापुरुषों का जीवनांश

इनके द्वारा प्रदर्शित किया जाता था और जन-सामान्य में धैर्य, प्रेम, क्षमा, सहानुभूति, उदारता, त्याग, श्रद्धा, भक्ति, सेवा, दान आदि की नैतिक वा धार्मिक भावनाओं का प्रसार किया जाता था, अतः यह कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ी एकाङ्की नाटकों की पृष्ठभूमि में इन भावनाओं का प्रचार विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि 'रानी एलिज़ाबेथ' के समय में बड़े नाटको के बीच में इण्टरल्यूड (Interlude) के रूप में इनका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। मूल नाटकों की गति में थोड़े काल के लिए विश्राम उपस्थित करना इनका मुख्य उद्देश्य होता था। वस्तुतः आधुनिक एकांकी का जन्म जवनिक-उन्नायकों (Curtain Raiser) से हुआ है। मूल नाटक के अभिनय के प्रारम्भ होने से पूर्व उपस्थित दर्शकों के लिए मनोरजन प्रस्तुत करना इनका प्रधान उद्देश्य होता था। प्रेक्षागृह में दर्शक धीरे-धीरे एकत्रित होते हैं। नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व पर्याप्त दर्शक-समूह प्रेक्षागृह में एकत्रित हो जाता था। दर्शको को पूर्ण नियन्त्रण में रखने के लिए यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि प्रधान पर्दे के उठने से पूर्व पर्दे के बाहर कुछ दृश्य मनोरंजन के लिए प्रदर्शित किये जाएँ। इस प्रकार एकाकी जवनिका-उन्नायक के रूप में प्रारम्भ हुए। कहते हैं सन् १९०३ में जैकब की एक कहानी 'बन्दर का पञ्जा' एकांकी के रूप में प्रधान नाटक के पूर्व प्रस्तुत की गई। इसका प्रदर्शन इतना प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ कि दर्शकों ने नाटक देखने की आवश्यकता ही नही समझी। धीरे-धीरे एकाकी लोकप्रिय होता रहा है और आज अपने स्वतन्त्र रूप में विकसित होकर हमारे सम्मुख है।

अंग्रेज़ी एकांकियों की यह परम्परा बगला से होती हुई हिन्दी साहित्य मे आई है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय आधुनिक एकांकी अग्रेजी साहित्य के प्रभाव में पल्लवित हुआ है। यह उसकी देन नही मानी जा सकती है।

एकाङ्की की विशेषताएँ—एकांकी अपनी कुछ विशेषताओं को लेकर

साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुआ है । ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं.—

१ एकाकी का कथानक संयत, वेगपूर्ण, स्वत पूर्ण, एक-घटनात्मक, एक-विचारात्मक, एक परिस्थिति वाला अथवा एक समस्या वाला होता है । सक्षेप में, उसमें विषय की एकता, प्रभाव की एकता, वातावरण की एकता का होना अनिवार्य है ।

२. कार्य-कारण-भाव-युक्त घटनावली का समावेश इसमें नही रहता। डा० रामकुमार वर्मा के कथनानुसार इसमें विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति सुरभित हो उठती है ।

३. एकांकी का आरम्भ तुरंत होता है, कोई भूमिका नहीं होती ।

४. एकांकी की कथा विद्युत्-गति से अग्रसर होती हुई कुतूहल, संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व का संचय करती हुई चरमसीमा तक पहुँचाती है और फिर वही उसका अवसान होता है ।

५. एक अंक में एक या अधिक दृश्य हो सकते है । वह एक ही बैठक में एक ही समय में समाप्त होने वाली कृति है ।

६. एकाकी में नायक-प्रतिनायक की कल्पना अनिवार्य नहीं है । कई समालोचकों के कथनानुसार प्रधान पात्र के अतिरिक्त अन्य गौण पात्रो की संख्या पाँच के भीतर ही होनी चाहिए ।

७. कथोपकथन प्रभावशाली, वेगपूर्ण, चुटीला, सयत और शिष्ट होता है । इसमें काव्यत्व का समावेश उचित नही ।

८. एकांकी में जीवन के किसी मर्म का उद्घाटन होना है ।

९. प्रधानतया एकांकी की रचना शुद्ध रूप से गद्य में ही होती है ।

एकाङ्की के तत्त्व—एकांकी के तत्त्व नाटक के सदृश ही होते है परन्तु जिस प्रकार उपन्यास और कहानी के तत्त्वो की विनियोग विधि में अन्तर रहता है उसी प्रकार इनकी विनियोग-विधि में भी पर्याप्त अन्तर रहता है। कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य और शैली ये तत्त्व एकांकी के होते हैं ।

एकाङ्की का वर्गीकरण—आज एकाङ्की साहित्य का इतना विकास

हो गया है कि उसको अनेक भेदों में विभक्त किया जा सकता है। विषय-भेद से पौराणिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक आदि भेद किये जा सकते हैं। मूल वृत्ति की दृष्टि से हास्य-प्रधान, व्यंग्य-प्रधान, समस्या-प्रधान आदि अनेक भेद हो सकते हैं। डा० रामकुमार वर्मा का राजरानी सीता पौराणिक एकाङ्की है, और 'शिवाजी' ऐतिहासिक है। उदयशंकर भट्ट का 'स्त्री का हृदय' सामाजिक एकाङ्की है। सेठ गोविन्ददास का 'मानव-मन' दार्शनिक और भुवनेश्वर का 'ऊसर' मनोवैज्ञानिक एकाङ्की है। समस्या-प्रधान एकाङ्की के लिए सेठ गोविन्ददास का 'स्पर्धा', व्यंग्य-प्रधान के लिए भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक' तथा हास्य-प्रधान के लिए भगवती-चरण वर्मा का 'सबसे बड़ा आदमी' उदाहरणस्वरूप लिये जा सकते हैं। प्रभाव की दृष्टि से भी नाटक के भेद किये जा सकते हैं। नाटककार जिस विशेष भाव का प्रभाव पाठकों या दर्शकों पर डालना चाहता है उसी के आधार पर उसकी श्रेणी का निर्माण किया जा सकता है। यदि नाटककार भय की भावना उत्तेजित करना चाहता है तो नाटक भयजनक कहला सकता है। इसी प्रकार घृणा भावना को उत्तेजित करनेवाला घृणाजनक, विस्मय को उद्भावित करनेवाला विस्मयजनक कहलाता है। इस दृष्टि से नाटक के कई वर्ग बनाये जा सकते हैं।

प्रभाव की दृष्टि से नाटक के जो भेद विशेष उल्लेखनीय हैं वे प्रहसन और व्यंग्य-प्रधान नाटक ही हैं।

प्रहसन—जिस नाटक में हास्यरस की प्रधानता होती है और जिसके प्रभाव में आकर पाठक वा दर्शक हँसने लगते हैं वह नाटक प्रहसन कहलाता है। इसमें नाटककार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है कि पाठक या दर्शक हँसे बिना नहीं रह सकता। इसमें आमोद-प्रमोद की, हँसी-विनोद की बातें प्रचुरता से रहती हैं। इसमें ऐसे पात्रों की योजना की जाती है जो अनेक विकृत व्यापारों वा विचारों से असामान्य से प्रतीत होने लगते हैं, जिनमें गम्भीरता का सर्वथा अभाव रहता है, जो बड़ी से बड़ी बात को भी

अपनी विनोदपूर्ण प्रकृति के कारण सामान्य एवं उपेक्षणीय बना डालते हैं। इसके अतिरिक्त ये पात्र ऐसी बातें भी कर देते हैं जिन्हे सामान्य जन विशेष महत्त्व प्रदान नही करता परन्तु वे मानव की मूल प्रवृत्ति को गुदगुदाने वाली अवश्य होती है। नाटककार इस बात का अवश्य ध्यान रखता है कि प्रहसन के पात्रो के सभी व्यापार सर्वजनविदित हों, भले ही वे नगण्य एवं उपेक्षणीय हो। उदाहरग के लिए राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे', किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट', गोपालराम गहमरी का 'दादा' और 'मै', जी. पी. श्रीवास्तव के 'उलट-फेर', 'मरदानी औरत', 'भूल-चूक', बेचन शर्मा का 'चार बेचारे', सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' नाटक प्रस्तुत किये जा सकते है। प्रहसन अनेकाङ्की और एकाङ्की दोनो प्रकार के हो सकते है।

व्यंग्य-प्रधान—जिस नाटक में मानव की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा समाजगत कुरीतियों को प्रकाश मे लाने तथा उन पर चोट करके सुधार का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है वह व्यग्य-प्रधान कहलाता है। इस नाटक में वाग्वैदग्ध्यपूर्ण चुटीले संवादो द्वारा अन्यान्य प्रचलित कुप्रथाओ, आडम्बरपूर्ण एवं दूषित प्रवृत्तियो पर व्यंग्य कसा जाता है और उनके सुधार के लिए प्रेरित किया जाता है। भारतेन्दुकाल में जो प्रहसन लिखे गये उनमें व्यंग्य साथ मिला हुआ दृष्टिगोचर होता है और उन्हे व्यंग्य-प्रधान भी कहा जा सकता है। आधुनिक एकाङ्कियों में व्यंग्यात्मक रचनाएँ प्रायः मिल सकती हैं। उदाहरण के लिए 'अश्क' का 'अधिकार का रक्षक' नामक एकाङ्की व्यंग्य-प्रधान कहा जा सकता है। इसी प्रकार भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक' भी इसका अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है।

नाटक के जो अन्य भेद प्रकाश में आ रहे हैं, वे हैं—भावनाट्य (मूकाभिनय नाटक), गीतिनाट्य, श्रव्य नाटक (रेडियो प्ले)।

भावनाट्य—जिस नाटक में अभिनय का हाव-भाव सगीत तथा नाटक के अन्य उपकरणों से अधिक प्रभावशाली होता है वह भावनाट्य

कहलाता है। मुद्रा और अनुभावो के द्वारा भावों के प्रदर्शन का नाटक में प्रभुत्व रहने के कारण इसे भावनाट्य की संज्ञा दी जाती है। यदि सारा नाटकीय कथानक मूक अभिनय के ही रूप में प्रदर्शित किया जाए तो इसे मूकाभिनय नाटक भी कहा जा सकता है। मूकाभिनय नाटक में बिना मुँह से शब्द निकाले अभिनय करना होता है। इसके अभिनेता अपने शरीर, हाथ और भावभगी से ही सब कुछ बता देते है। भाव-प्रकाशन के लिए पात्र अपनी वाणी के स्थान पर मुख-मुद्रा तथा अन्य हाथ आदि शारीरिक अगो का विनियोग करता है। कथा-क्रम के अनुसार सब पात्र आ-आकर केवल आगिक अभिनय के द्वारा कथा व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए विष्णु प्रभाकर के दो नाटक 'अर्द्धनारीश्वर' और 'शलभ और ज्योति' प्रस्तुत किये जाते है। मैथिलीशरण गुप्त के 'अनघ' को भी भावनाट्य कहा जा सकता है। अग्रेज़ी में इसे फैन्टैसी (Fantasy) कहा जाता है।

गीतिनाट्य—जिस नाटक की कथा कविता या गीत के माध्यम से प्रदर्शित या वर्णित की जाती है उसे गीतिनाट्य कहते है। इसमें पात्र या तो स्वय गीत गाते अभिनय करते है या वे स्वय तो मूकाभिनय करते हैं और पर्दे की पीछे से संगीत की योजना की जाती है। इसके संवाद गीतमय होते है। इसे अंग्रेजी में ओपेरा (Opera) कहा जाता है। भारतेन्दु ने अपने नाटक 'भारत-जननी' को गीतिनाट्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। भगवतीचरण वर्मा का 'कर्ण', पंत का 'शिल्पी' तथा 'शुभ्र पुरुष' इसके उदाहरण माने जा सकते है।

श्रव्य नाटक (रेडियो प्ले)—नाटक दृश्य साहित्य है। आज वैज्ञानिक आविष्कारों के योग से नाटकीय तत्त्वो के विनियोग मे ऐसे नाट्य साहित्य की सृष्टि की जा रही है जो श्रव्य कहला सकता है। जिस साधन से नाटक श्रव्य साहित्य का रूप धारण कर सका है वह रेडियो है, अतएव नाटक के इस भेद को रेडियो नाटक (रेडियो प्ले) कह दिया

जाता है। आज इसका रंगमंचीय नाटको से स्वतन्त्र रीति से विकास हो रहा है। रगमंचीय नाटक में अभिनेता हमारी आँखों के सामने आते है और अपने आगिक एव वाचिक अभिनयो द्वारा जीवन और जगत् की झाकियाँ प्रस्तुत करते है। रगमंचीय नाटक कर्णेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय दोनों को समान रूप से प्रभावित करते है और इनके लिए सवाद, रगमंचीय सकेत तथा अभिनय साधन रूप विद्यमान रहते हैं। रगशाला में बैठकर दर्शक स्वयं इनका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं, अतएव इनमें भावभंगिमा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी रचना प्रायः गद्यात्मक रहती है, गीतो का अभाव रहता है। इसके विपरीत रेडियो नाटक में ध्वनि पर अवलम्बित रहना पडता है। हम अभिनेताओ को आँखों से देख नही पाते। यह केवल शब्दों द्वारा ही हमारा मनोरंजन करता है और हमारे विचारो का परिमार्जन एव पोषण करता है। यह केवल कर्णेन्द्रिय का विषय रहता है। इसके लिए सवाद के अतिरिक्त और कोई अभिनय आदि माध्यम नही अपनाया जा सकता। हाँ, रेडियो स्टेशन का माइक्रोफोन (ध्वनि-प्रवर्धक या ध्वनिविस्तारक यन्त्र), रेडियो-सैट आदि इसके साधन अवश्य है। दृश्य वस्तु का वर्णन निर्देशक द्वारा करना पडता है। इसमें भावभंगिमा के स्थान पर स्वर-सक्रम एवं स्वर-भेद से उपयोग लिया जाता है। इससे नेत्रहीन भी लाभ उठा सकते है। यही कारण है कि इसे 'अन्धों का सिनेमा' भी कह दिया जाता है। गीतों का इसमें समावेश रहता है। रगमंचीय नाटकों की अपेक्षा इसमें समय कम लगता है।

श्रव्य (रेडियो) नाटक के चार अंग माने जाते हैं—१. सूचना, २ संवाद, ३. ध्वनियुक्त व्यापार-योजना, ४. संगीत। इसकी रचना करते समय जो बात संवाद रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकती उसे निर्देशक द्वारा सूचित करवा दिया जाता है। साधारण दृश्य नाटक में अभिनेताओं की सारी क्रियाएँ प्रत्यक्ष होती हैं परन्तु रेडियो नाटक केवल श्रव्य ही होता है, अतएव श्रव्य काव्य की भाँति उसके ग्राहक को अपनी कल्पना का अपेक्षाकृत अधिक आश्रय लेना पड़ता है। कुछ व्यापार ऐसे भी हो

सकते हैं जिनकी सूचना भी नही दी जा सकती। हो सकता है कि उन व्यापारों की सूचना देने से भावधारा की गति कुण्ठित हो जाए, इसलिए रेडियो नाटक में ध्वनि-युक्त व्यापार-योजना करनी पड़ती है। इन्हे गीत-रूप भी कहा जाता है। इन गीत-रूपों से श्रोता विभिन्न व्यापारों को ध्वनि-श्रवण से समझ लेता है। उदाहरण के लिए मकान की सीढ़ियों से उतरना, मोटर आदि यानो का चलना, किवाडों की खड़खड़ाहट, चिड़ियों का चहचहाना, बाजार के शोरगुल, चलते-फिरते लोगों के पाँवों की आवाज इत्यादि अनेक प्रकार के व्यापार गीत-रूपो द्वारा श्रोता तक पहुँचाए जा सकते हैं। संगीत-रूप अंग में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का समावेश है। रेडियो नाटककार यह संकेत कर देता है कि कहाँ, किस राग, किस ताल और किस लय में वाद्य के साथ नृत्य या गीत हो या केवल वाद्य या केवल नृत्य हो।

श्रव्य नाटक के भेद—श्रव्य नाटक के मुख्यतः ये भेद किये जा सकते हैं—१. रेडियो नाटक, २. रेडियो रूपान्तर, ३. रेडियो रूपक।

रेडियो नाटक—मूल तत्त्वों की दृष्टि से यह साधारण नाटक के अनुरूप ही होता है। श्रुति-आधार होने के कारण इसका आकार और प्रकार साधारण नाटक से भिन्न हो जाता है। इसकी शैली और शिल्प श्रव्य-कला के सिद्धान्तों के अनुरूप होते हैं। रेडियो नाटक का निर्माण श्रव्य-मंच की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए होता है। इसकी कथा इस रूप में प्रस्तुत की जाती है कि इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति ध्वनि, शब्द और सगीत द्वारा हो जाए। साधारण नाटक की भाँति इसमें भी प्रमुख और गौण पात्र रहते है। रेडियो नाटककार को समय का बन्धन रहता है, अतएव वह सभी पात्रों का चारित्रिक विकास प्रदर्शित वा वर्णित नही कर सकता। इस दृष्टि से वह केवल उन पात्रों पर ही ध्यान देता है जिनका कथा की प्रगति और सारे नाटक के विकास के साथ गहरा सम्बन्ध होता है। रेडियो नाटक में संवाद ही चरित्र-निरूपण का साधन माना जाता है। रेडियो संवादों में स्वर का बहुत अधिक महत्त्व है। रगमंचीय

भावावेशपूर्ण, रंगीन सवाद रेडियो नाटक के लिए बहुत उपयुक्त नही समझे जाते । रेडियो संवादो में प्रभाव भरने के लिए व्यवस्थित भावना की आवश्यकता है । स्वाभाविकता इस संवाद-शैली का मुख्य गुण है, अतिरजन और बनावट इसका सबसे बड़ा दोष । रेडियो नाटक में वातावरण ध्वनि-प्रभावो से निर्मित होता है और संगीत इस वातावरण की पुष्टि करता है । ध्वनि-प्रभाव नाटक को वस्तु देते हैं, संगीत संवादो द्वारा सचरित भावों की पुष्टि करता है । उदाहरण के लिए रेवतीसरन शर्मा का 'अँधेरा-उजाला' तथा विष्णु प्रभाकर का 'उपचेतना का छल' लिया जा सकता है ।

रेडियो रूपान्तर—रेडियो रूपान्तर एक साहित्यिक कृति का ऐसा रूप-परिवर्तन है कि जिससे वह अपने निजी सौन्दर्य, वैशिष्ट्य के समूचे प्रभाव को अक्षुण्ण रखते हुए रेडियो के द्वारा प्रसारित हो सके । इसका उद्देश्य रचना के मूल भाव, उसकी आत्मा को पूर्ण रूप से व्यक्त करना है। अगर एक नाटक, कहानी, उपन्यास या कविता को रूपान्तरित करते समय लेखक को यह अनुभव होता है कि मूल रचना के सौन्दर्य में कमी आ रही है या उसका अर्थ पूर्णतया व्यक्त नही हो रहा है तो उसे समझ लेना चाहिए कि या तो उसके अपने निर्माण-कौशल में न्यूनता है या वह रचना ही श्रव्य माध्यम द्वारा प्रस्तुत होने योग्य नही है । इसका एक भेद नाट्य रूपान्तर है । साधारण रूपान्तर में नाटक का रूपान्तर होता है और नाट्य रूपान्तर शब्द का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ मूल रचना नाटकीय नहीं है । उदाहरण के लिए बल्देवप्रसाद मिश्र कृत संस्कृत नाटक 'प्रियदर्शिका' का रूपान्तर, उदयशंकर भट्ट कृत 'मालविकाग्निमित्रम्' का रूपान्तर प्रस्तुत किये जा सकते हैं । हरिश्चन्द्र खन्ना कृत 'आदमखोर' कहानी का नाट्य रूपान्तर, जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास 'त्यागपत्र' का रामचन्द्र तिवारी कृत नाट्य रूपान्तर भी उदाहरणस्वरूप लिये जा सकते हैं ।

रेडियो रूपक—जब कल्पित वस्तु के स्थान पर यथार्थ वस्तु को रेडियो नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब उसे रूपक नाम दिया

जाता है। आल इण्डिया रेडियो की रिपोर्ट में रूपक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—'A feature programme is method of employing all the available methods and tricks of broadcasting, to convey information, or entertainment in a palatable form' अर्थात् विभिन्न प्रकार की विज्ञप्तियों या मनोरंजक सामग्री को सुरुचिपूर्ण रीति से प्रसारित करने के लिए ध्वनिप्रसार यन्त्र (रेडियो) द्वारा सप्राप्त उपायों या सुविधाओ से पूर्ण लाभ उठाने की विधि को 'रूपक' कार्यक्रम कहा जाता है।

रूपक की इस परिभाषा में उसके किसी निश्चित विधान का सकेत नही मिलता, अतः यह कहा जा सकता है कि नाटक की भाँति इसका कोई निश्चित आकार नही होता। रेडियो द्वारा प्रसारित मनोरंजक सामग्री रूपक कही जा सकती है। नाटक से इसमें बड़ा अन्तर यह होता है कि इसमे एक विचार का विकास किया जाता है जबकि नाटक में घटना का। नाटक के गठन का आधार कथानक होता है और इसका गठन विचार पर अवलम्बित होता है। रूपक में एक विषय का अनेक दृष्टिकोणो से अवलोकन किया जाता है और तत्सम्बन्धी विचार या भाव अभिव्यक्त किये जाते हैं, नाटक मे घटना विकसित होती हुई प्रदर्शित की जाती है।

रूपक के भेद—आज रूपक के अनेक भेद मिलते है। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में रूपक का प्रारम्भ हुआ। ये प्रारम्भिक रूपक 'प्रचारात्मक' थे। नाजी प्रोपेगेण्डा का प्रतिकार करने के लिए भारतीय रेडियो-विभाग की ओर से 'जंगनामा' और 'जवाबी हमला' शीर्षक के अन्तर्गत पाँच और पन्द्रह मिनट के रूपक प्रसारित किये जाते थे। इनका उद्देश्य केवल प्रचार होता था, अतः ये प्रचारात्मक कहलाए। इन रूपकों का निर्माण १. वक्ता २. ध्वनि-प्रभाव ३. सगीत—इन तत्त्वो के आधार पर होता है। इनमें घटनाएँ या तो वक्ता द्वारा कह दी जाती है या संवादों के द्वारा।

रूपक का दूसरा भेद 'सूचनात्मक' होता है। जीवन के अन्यान्य विषयो

को चुनकर सामान्य जनता—विशेषतया स्कूल के विद्यार्थियों—की ज्ञानवृद्धि के लिए इसकी संयोजना की जाती है। इसमें एक सूत्रधार या निर्देशक सूच्य सामग्री को एक निश्चित दृष्टिकोण के आधार पर सयोजित करता है और फिर दृश्यों के द्वारा उसका प्रसारण करता है।

रूपक का तीसरा भेद 'शिक्षात्मक' होता है। सामान्य जनता के दृष्टि-कोण में उचित परिवर्तन करने तथा किसी विशेष विचारधारा के लिए जनमत तैयार करने के लिए जो रूपक प्रसारित किये जाते हैं वे शिक्षा-त्मक कहलाते हैं। 'नव भारत' या 'नया ससार' शीर्षक के अन्तर्गत ऐसे अनेक रूपक दिल्ली रेडियो स्टेशन से प्रसारित किये जा चुके है। विष्णु प्रभाकर के सामाजिक और राजनीतिक विषयो पर, रामचन्द्र तिवारी के वैज्ञानिक विषयों या आर्थिक-औद्योगिक विषयो पर, उदयशंकर भट्ट के ऐतिहासिक, सास्कृतिक एवं शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर उक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत अपने रूपक संयोजित किये हैं। विस्थापितों की पुनःसस्थापन सम्बन्धी समस्याओं पर भी रूपक संयोजित वा प्रसारित किये जा चुके है। प्रत्येक लेखक अपने विषय से सम्बद्ध सामग्री को संचित करता है और उसे नाटकीय रूप प्रदान कर रेडियो से प्रसारित करने योग्य बना देता है। इस सम्बन्ध में रामचन्द्र तिवारी का 'खेती' रूपक विशेष उल्लेख-नीय है।

चौथा भेद 'प्रासंगिक' रूपक है। किसी आकस्मिक घटना के हो जाने पर तत्सम्बन्धी सामग्री को संकलित करके उसे नाटकीय रूप में जब प्रसा-रित किया जाता है तब वह प्रासंगिक रूपक कहलाता है। गाधी-बलिदान के अवसर पर अनेक रूपक इसी प्रकार के लिखे वा प्रसारित किये गए। इस सम्बन्ध में प्रभाकर माचवे का 'अहिंसा के सेनानी' रूपक उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। यह वल्लभभाई पटेल की मृत्यु के दूसरे दिन इलाहाबाद से प्रसारित किया गया था।

पाँचवा भेद 'साहित्यिक' रूपक है। साहित्य सम्बन्धी विषयों को जब भावमयी वाणी में प्रस्तुत किया जाता है तब साहित्यिक रूपक निर्मित

होता है। उदयशंकर भट्ट कृत 'महाकवि कालिदास' इसी प्रकार का रूपक है।

रूपक का एक भेद 'अतिकल्पना रूपक' है। जब किसी रूपक का निर्माण काल्पनिक पृष्ठभूमि पर किया जाता है अर्थात् जब प्रसारित विषय या घटना को काल्पनिक वातावरण में प्रस्तुत किया जाता है तब वह अतिकल्पना रूपक कहलाता है। इसी प्रकार रूपक के अनेक भेद आज हमारे सम्मुख आ रहे हैं। उक्त भेदों के अतिरिक्त 'एक पात्र' रूपक, रेडियो रिपोर्ताज तथा हास्य रूपक भी आज संयोजित वा प्रसारित किये जा रहे हैं। इस प्रकार श्रव्य नाटक दिन-प्रति-दिन विकास की दिशा में अग्रसर होता जा रहा है। इसका भविष्य उज्ज्वल है। टेलिविज़न (दृश्य स्वन) के आविष्कार के कारण से यह आशा की जाती है कि रेडियो से प्रसारित होने वाले ये श्रव्य नाटक पुनः दृश्य और श्रव्य दोनों रूप वाले हो जाएँगे।